ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-हिन्दी-ग्रन्थाङ्क ३६

कालिदास का भारत

[भाग १]

श्री भगवतशरण उपाध्याय

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक—
अयोध्याप्रसाद गोयलीय,
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ,
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण
१९५४
मूल्य चार रुपया

मुद्रक—
विद्यामन्दिर प्रेस लि०,
डी० १५।२४, मानमन्दिर,
बनारस

दो शब्द

मेरा यह कालिदासका सोलह वर्षोंका अध्ययन दो भागोंमें प्रस्तुत है। कालिदासका साहित्य इतना समुद्रवत् गम्भीर है कि सोलह वर्षका श्रम उसके लिए कुछ भी नहीं। फिर भी जितना प्रयास उस साहित्यको मथनेका मैं कर सकता था, मैंने किया है, यद्यपि उस दिशामें यह अन्तिम प्रयास नहीं है; मेरा भी नहीं।

सामाजिक दृष्टिकोणसे कालिदासके अध्ययनका यह पहला प्रयत्न है। त्रुटियाँ इसमें हो सकती हैं, होंगी, और मैं विद्वान् पाठकसे अपेक्षा करूँगा कि उनकी ओर वह मेरा ध्यान आकृष्ट करें। अपनी ओरसे मैंने इसे निर्दोष बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा है। यह अध्ययन भौगोलिक सामग्री, राज्यशास्त्र और शासन, सामाजिक जीवन, ललित कला, आर्थिक स्थिति, शिक्षा और साहित्य और धर्म तथा दर्शन आदि प्रकरणोंमें सम्पन्न हुआ है। पहला भाग भौगोलिक सामग्रीसे प्रारम्भ होकर सामाजिक जीवनके कुछ पहलू खोलनेके उपरान्तसे समाप्त हो जाता है। आगेकी सामग्री दूसरे भागमें है। अन्तमें महाकविकी तिथिके सम्बन्धमें स्वतन्त्र परिशिष्टमें विचार किया गया है। फ़ादर हेरसकी रायमें मैंने कालिदासकी तिथि सर्वथा निश्चित कर तत्सम्बन्धी समस्या हल कर दी है।

अध्ययनके लिए कालिदासकी सात कृतियाँ—मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय, अभिज्ञानशाकुन्तल, ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव (केवल पहले आठ सर्ग) और रघुवंश—ही प्रामाणिक मानी गई हैं। कुन्तलेश्वरदौत्य, जो सम्भवतः कालिदासका ही है, उपलब्ध न होनेसे अध्ययनसे परे रह गया। ग्रन्थोंकी प्रामाणिकताके सम्बन्धमें इतना विचार किया जा चुका है कि केवल पुनरावृत्तिके भयसे इस ग्रन्थमें उस पर विचार नहीं किया गया। साधारणतः निर्णयसागर प्रेसके

संस्करणों और अन्य आधुनिक पाठोंका ही प्रयोग हुआ है जिनका कृतज्ञता-पूर्वक फुटनोटों और ग्रन्थसूचीमें उल्लेख कर दिया गया है। गुप्त अभिलेखों और कालिदासकी सामग्रीमें इतना साम्य है कि उनका उल्लेख न करना अवैज्ञानिक होता, इससे प्रसंगतः गुप्त सम्राटोंके अभिलेखों और मुद्रा सम्बन्धी सामग्रीका उपयोग विषयको स्पष्ट और समृद्ध करनेके लिए प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ सर्वथा मौलिक कृति है और इसकी सामग्री सर्वथा पहली बार पुस्तबद्ध हुई है। राज्य-शास्त्र और शासन, ललित कलाएँ जैसे चित्रकला, मूर्तिकला, मृण्मूर्तिकला और वास्तु, आर्थिक जीवन, शिक्षा और कालिदासान्तर्गत बाह्य साहित्य सम्बन्धी प्रकरण सर्वथा नई सामग्री प्रस्तुत करते हैं। महाकविकी तिथि सम्बन्धी समीक्षामें कुषाण गुप्त मृण्मूर्तियों और मूर्तिकलाका पहली बार निर्णायक उपयोग हुआ है। मालविकाग्निमित्र के सिन्धु सम्बन्धी उल्लेखसे विद्वानोंमें युगों कथोपकथन होते रहे हैं। गार्गी संहिताके युगपुराणकी नयी सामग्रीकी सहायतासे पुष्यमित्र शुङ्ग के साम्राज्यकी सीमाएँ एक अलग परिशिष्टमें स्थापित की गई हैं। उसीमें खारवेल, दिमित, पुष्यमित्र और मिलिन्द (मेनान्दर) की समकालीनता के जटिल ऐतिहासिक प्रश्न पर भी विचार हुआ है।

जैसा ग्रन्थके नाम—कालिदासका भारत—से प्रगट है, प्रस्तुत अध्ययन उस भारतके पट खोलता है जिसमें महाकविने साँस ली है, अपनी साहित्य-कलाका रूपायन किया है, उसके सावधि और अतीतके भारतका जिनमें उसकी कल्पना और आदर्श दोनों प्रकाशित हुए हैं। महाकविकी भारत सम्बन्धी इस प्रसूतिमें स्वदेशका उत्कर्ष भी है, दुर्बलताएँ—अन्ध-विश्वास भी हैं। अतीतका वर्णन करते समय कवि स्वाभाविक ही परम्परागत सामग्रीका उपयोग करता है पर उसके बीच जहाँ कहीं काल-विरुद्ध-दूषण (अनाक्रानिज़्म) झलक जाता है, जो प्रतिभाका अनिवार्य स्खलन है, वहीं इतिहासकारको ठोस भूमि मिल जाती है। जहाँ कहीं समकालीन जगत् और

अतीतकी परम्पराका कविने उल्लेख किया है, सर्वत्र यथासंभव वह स्थल स्पष्ट कर दिया गया है।

फुटनोट आदिकी निर्दिष्ट संख्याएँ मूलसे बारबार मिला ली गई हैं, पर जहाँ हजारों संख्याएँ दी गई हों, कुछका ग़लत हो जाना स्वाभाविक है। विज्ञ पाठक उन त्रुटियोंके लिए क्षमा करेंगे।

इस ग्रन्थकी पाण्डुलिपिको प्रस्तुत रूप देनेमें पण्डित दशरथ पाण्डेयने जो परिश्रम किया है, उसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ। उसी प्रकार अपने प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठका भी आभार मानता हूँ जिसके प्रयत्नसे ग्रन्थ प्रकाशित हो सका।

अन्तमें फिर एक बार कालिदासकी असीम वारिधिके समक्ष अपनी निःसीम अल्पज्ञता-असारता प्रकट करता हुआ उसका उल्लेख उसी महाकविकी वाणीमें करता हूँ :—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥

प्रयाग,
दीपावली,
२६ अक्टूबर, १९५४

भगवतशरण उपाध्याय

विषय-सूची

खण्ड १ • भौगोलिक सामग्री

अध्याय १

अध्याय २

अध्याय ३

खण्ड २ राजनीति और शासन

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय ६

अध्याय ७

अध्याय ८

खण्ड ३ • सामाजिक जीवन

अध्याय ९

सामाजिक ढाँचा तथा विवाह

अध्याय १०

भोजन और पान, वेश और शृंगार

अध्याय ११

सामाजिक व्यवहार और दूसरे सामाजिक प्रसंग

:o:

अध्याय १

भारत और उसकी धरती

कालिदासके ग्रन्थोंसे उपलब्ध भौगोलिक सामग्रीके अध्ययनमें कुछ कठिनाइयाँ हैं। इनमें मुख्य कालिदासके भूगोलका पारम्परिक रूप है।

भौगोलिक सामग्री की कठिनाई

भौगोलिक अनिश्चयताका स्वाभाविक परिणाम ऐतिहासिक अस्पष्टता है। अनिश्चित तिथिक्रमके कारण भौगोलिक सामग्रीको ऐतिहासिक युगमें रखना कठिन हो जाता है। यह प्रसंग कुछ उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जाएगा। हूणोंका हवाला महाभारत[1] और रामायण[2] दोनोंमें मिलता है। महाभारतकी काया पाँचवीं सदी ईस्वी[3] तक बढ़ती रही है इसलिए यह

---

१ महाभारत, १८३४-३९ का कलकत्ता सं० १,६६८५ (हूण); ३,१९९१ (हूण); ६,३७३ (हूण)। २ सेन्ट पीटर्सबर्गके अनुसार रामायणमें हूणोंका केवल एक बार उल्लेख हुआ है और वह बंगालवाली प्रतिमें (गोरेसियो सं०, पेरिस १८४५,४,४०.२५) वहाँ 'दण्डकूलांश्च' के स्थानपर एक हस्तलिपिमें 'पल्हहूणांश्च' पाठ मिलता है। ३ स्कन्दगुप्तने ४५५ ई० के लगभग पहले हूण [illegible] निष्फल कर दिया था। फ्लीट : गुप्त इन्स्क्रिप्शन्स, [illegible] १६ ([illegible]); स्टाइन : व्हाइट हूण्स एण्ड [illegible] इण्डियन एन्टिक्वैरी, ३४, पृ० ८० और आगे।

कहना गलत होगा कि वह ग्रन्थ समसामयिक वृत्तान्तको प्रतिबिम्बित करता है। इस संबंधमें दूसरी बाधा है देशके विभिन्न भागोंमें स्थानों, पर्वतों आदिके समान नामोंका होना। उदाहरणतः कालिदास-द्वारा उल्लिखित[1] कोसल बौद्ध सुत्तोंमें[2] उत्तरका प्रदेश माना गया है पर उसीका उल्लेख दशकुमारचरितमें[3] दक्षिण प्रदेशके रूपमें हुआ है। रघुवंश उत्तरी राष्ट्रको उत्तर कोसल कहता है यद्यपि कोसलका प्रयोग उत्तर कोसलके लिए भी हुआ है और केवल एक बार[4] उसका प्रयोग रामकी माता और दशरथकी रानी कौसल्याकी मातृभूमिके रूपमें हुआ है। इसी प्रकार निषध[5] मालवाके[6] दक्षिण स्थानविशेषका द्योतक है और साथ ही काबुल नदीके उत्तर और गन्धमादनके पश्चिमके एक पर्वतका भी नाम है जिसे ग्रीक कभी परोपमिसस कहते थे और आज हम हिन्दुकुश[7] कहते हैं। इस संबंधकी तीसरी असुविधा एक ही स्थान अथवा जनताके अनेक नामोंके कारण उपस्थित हो जाती है, जैसे मगध की राजधानीके लिए कुसुमपुर, पुष्पपुर[8] और पाटलिपुत्र तीनों नाम प्रयुक्त होते हैं और बराड़ (विदर्भ) की प्रजाके लिए वैदर्भ[9] और क्रथकैशिक[10]। कभी-कभी तो यह अशुद्धि अज्ञानवश प्रस्तुत हो गई है जैसे, अयोध्याके लिए साकेत नामका प्रयोग। रघुवंशमें दोनों नाम पर्यायवाची हैं और मल्लिनाथने दोनोंका एक होना स्वीकार किया है[11]। परन्तु चूँकि दोनों नामोंका प्रयोग बौद्ध साहित्यमें मिलता है इससे

---

१ रघुवंश, ६,१७। २ मार्क कौलेन्स: दि ज्योग्रैफिकल डेटा औफ दी रघुवंश एण्ड दशकुमारचरित, पृ० ६। ३ वही। ४ रघु०, ६,१७। ५ वही, १८,१। ६ बर्गेस : एन्टिक्विटीज औफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ, पृ० १३१। ७ लेसेन : हिस्ट्री ट्रेस्ड फ्रौम बैक्ट्रियन एण्ड इण्डो-सीथियन क्वाइन्स इन जे० ए० एस० बी०, ९ (१८४०) पृ० ४६९, नोट। ८ रघु०, ६,२४। ९ वही, ५,६०। १० वही ५,३९,६१; ७, ३२। ११ वही, ५, ३१ (टिप्पणी)।

दोनोंकी भिन्नता निःसन्देह सिद्ध है। साकेत महात्मा बुद्धके समकालीन[1] प्रधान नगरों मेंसे एक है। अयोध्या (अजोज्झा) का प्रयोग बौद्ध साहित्य में जब तब ही हुआ है संयुत्तनिकायने[2] साकेतको गंगातट पर रखा है।

इन असुविधाओंके अतिरिक्त एक दूसरी असुविधा भूगोलमें परम्परागत वर्णनोंकी भी है जो कालिदासके-से भारतीय काव्यकारोंके ग्रन्थोंमें भरे पड़े हैं। ग्रन्थकारके बाद ग्रन्थकार स्थान और जनोंके वर्णन में बिना उनके नामोंकी सत्यतापर विचार किये उनके प्राचीन नामोंका प्रयोग करते जाते हैं। कभी यह विचार नहीं किया जाता कि स्थान-विशेषका नाम अदलबदल गया है या उसकी जनता अब पहलेकी न रही, आदि। और "इसी प्रकार पूर्वकालकी भौगोलिक कल्पनाएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी कालक्रममें उतरती आती हैं और जब तब सदियों बाद लाक्षणिक साहित्यमें भी अपने लिए स्थान कर लेती हैं।"[3] फिर अन्वेषक इस कारण भी कठिनाइयोंमें पड़ जाता है कि प्राचीन भूगोलमें वास्तविक और काल्पनिकमें भी अन्तर नहीं डाला जाता। उदाहरणतः कैलासका दूसरा नाम कुबेरशैल[4] भी है जिससे वह पर्वत वास्तविकसे हटकर विचित्र काल्पनिक देशमें जा पहुंचता है। इसी प्रकार सिद्धों[5], यक्षों[6], किन्नरों[7], अश्वमुखियों[8], किंपुरुषों[9] और शरभों[10] के-से शब्दोंके प्रयोगमें अपार्थिव और काल्पनिक जन-विश्वासोंकी प्रतिष्ठा कर कठिनाई उपस्थित कर दी गई है।

---

१ एस० बी० ई०, ११, पृ० ९९, २४७। २ पालि टैक्स्ट सोसाइटी द्वारा प्रकाशित फियर का सं०, १८३४–१९०४, ३, पृ० १४०। ३ कौलेन्स : ज्यो० डेटा० रघु० दश०, पृ० ८। ४ कु०, ७,३० एकपिंगलगिरौ, वही, ८,२४। ५ मेघ० पूर्व, १४,४५। ६ कु०, ६,३९; मेघ० पूर्व, १,५ (गुह्यक), ७, मेघ० उत्तर, ३। ७ कु० ८,८५; मेघ० उत्तर, ८। ८ कु०, १,११। ९ वही, ६,३९। १० मेघ० पूर्व, ५४।

फिर भी अगले पृष्ठोंमें कालिदासके ग्रन्थोंके आधारपर प्राचीन भारतका नक्शा उपस्थित करनेका प्रयत्न किया जायेगा। यह प्रयत्न भौगोलिक नामों, (अनेक अवसरोंपर पारस्परिक), पर्वत, नदियों, पशु-पक्षी और अन्य सामग्रीकी यथासम्भवकी पहिचानके रूपमें होगा।

'उत्तरमें नगाधिराज हिमालय, पूर्वसे पश्चिम सागर तक पृथ्वी के मानदण्ड की भांति फैला हुआ है''[1]—इन शब्दोंमें कवि भारतकी उत्तरी सीमाका उल्लेख करता है। शालीन संतरी हिमालय इस प्रकार कविके शब्दोंमें सारी भारतीय सीमा-प्रसारपर पूर्वसे पश्चिम तक देशकी रक्षामें जागरूक खड़ा है।

भारतकी सीमाएँ

यदि हम अरब सागरका स्पर्श करनेवाले हिन्दूकुश और ईरानी पठारको भी उस लम्बी पर्वत-श्रेणीके भाग न मानें तब हिमालयके पश्चिमी प्रसारका यह वर्णन हमें निश्चय परम्परागत ही मानना पड़ेगा। परन्तु हिन्दुकुशको हिमालयकी शृंखलाकी कड़ी मानना उचित न होगा क्योंकि इसे बराबर ग्रीकों आदिने उस पर्वतश्रेणीसे स्वतंत्र माना है। सुदूर पूर्वमें कालिदासने पूर्व सागरका[2] उल्लेख किया है। यह पूर्वसागर आज बंगालकी खाड़ी कहलाता है। इसके तटपर गंगाके निचले प्रवाह और मुहानेपर बसनेवाले सुह्मों[3] तथा बंगोंका[4] वर्णन हुआ है। यह तट सुविस्तृत हिन्द महासागर (महोदधि)[5] तक फैला हुआ था, हिन्द महासागर जो दक्षिणके भारतीय प्रायद्वीपका परिवेष्टन कर उसे आक्रमणोंसे निर्भयता प्रदान करता है। महोदधिके दक्षिण-पूर्वी तथा सुदूर दक्षिण-तट ताड़ोंके[6] जंगलोंसे ढके थे जिससे दूरसे वे सर्वथा श्याम वर्णके दीखते थे। दक्षिणको दौड़ता हुआ पूर्वी सागर-तटपर कालिंगों[7] और पाण्ड्यों[8] की-सी अनेक वीर जातियाँ बसी थीं।

---

१ कु०, १, १। २ रघु०, ४, ३२। ३ वही, ३५। ४ वही, ३६। ५ आप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः, वही, ३४। ६ वही। ७ [illegible], ४०। ८ वही, ४९।

कालिंग अपनी गज-सेनाओंके लिए ख्याति-लब्ध थे और पाण्ड्य दक्षिणापथके स्वामी थे। महोदधिके दक्षिण-पश्चिमी तटपर केरलों[1] का निवास था। समूचा पश्चिमी तट अपरान्त[2] कहलाता था जिसमें केरल भी शामिल था। उत्तर-पश्चिममें, अर्थात् ईरान, वक्षुनदकी घाटीमें क्रमशः श्मश्रुल ईरानी घुड़सवारों[3] और भीषण हूणोंका[4] निवास था। उनसे लगी हुई बस्ती काम्बोजोंकी[5] थी। इन विदेशियोंके स्थान और निवासकी चर्चा हम अन्यत्र करेंगे।

कालिदास-द्वारा प्रस्तुत भारतीय मानचित्र तीन प्रधान भागोंमें विभक्त होगा; (१) हिमालयकी विशाल पर्वतश्रेणी, (२) सिन्धु, गंगा और ब्रह्मपुत्रकी घाटियोंसे बनी मध्यवर्ती उर्वर भूमि, और (३) भारतीय प्रायद्वीपका दक्षिणी विस्तृत पठार।

उत्तर-पश्चिममें पामीरकी पेचीदी पहाड़ी-ग्रन्थिसे पूर्वकी ओर फैली हुई संसारकी सबसे ऊँची और लम्बी पर्वत-शृंखला है, जिसका कालिदासने हिमाद्रि[6] और हिमालय[7] नामोंसे उल्लेख किया है और जिसके प्रायः ८० शिखर संसार-की सबसे ऊँची चोटियोंमेंसे हैं। इसके अनेक हिमधवल और अभ्रंलिहाग्र शिखरोंका उल्लेख महाकविने कैलास[8], गौरी-शिखर[9], गन्धमादन[10], मन्दर[11] और मेरु[12] अथवा सुमेरु[13] नाम से किया है।

---

१ वही, ५४। २ वही, ५३। ३ वही, ६०-६५। ४ वही, ६८। ५ वही, ६९। ६ वही, ७९। ७ कु०, १,१। ८ रघु०, २,३५; मेघ० पूर्व, ११,५८; विक्रमो०, पृ० ८७; पौलस्त्यतुलितस्याद्रेः रघु०, ४,८०; कुबेरशैल; कु० ७,३०, एकपिंगलगिरि ८,२४। ९ कु० ५,७। १० वही, ६,४६; ८,२८-२९, ७५,८६; विक्रमो०, पृ० ८७, ११८। ११ कु० ८,२३,५९। १२ रघु०, ८, २४; कु० १, २, १८; ७, ७९; ८,२२। १३ रघु० ५, ३०; कु० ६, ७२।

भारतके पर्वत

कैलास

कैलास पर्वत सम्भवतः तिब्बतियोंका खांग-रिन-पोचे है जो गंगोत्रीसे आगे मानसरोवरके प्रायः २५ मील उत्तर और नीतिपासके[1] पूर्व स्थित है। प्रसिद्ध गांग्री शृंखलासे कैलास लगा हुआ है। स्ट्रैची लिखता है कि, "कैलास सौन्दर्यकी विचित्रतामें विशाल गुरला या अन्य हिमालय पर्वत-शिखरोंको जिन्हें मैंने देखा है मात कर देता है; इसकी शालीनता असाधारण है, पर्वतोंका यह राजा है।"[2] किवनलुन पर्वतको कैलास बताना ग़लत है।[3] महाभारत[4] और ब्रह्माण्ड पुराण[5] कुमाँयू और गढ़वालके पर्वतोंको भी कैलासकी शृंखलाका ही भाग मानते हैं जिसका आभास कालिदास[6]के वर्णनसे भी मिलता है। कैलास शिव और पार्वतीका वास-स्थान समझा जाता था जिसका उल्लेख कविने भी किया है।[7] कालिदासने कैलासको स्फटिकका बना पर्वत कहा है। उस महाकविने उस पर्वत-शिखरको निर्मल शाश्वत हिमसे[8] मण्डित माना है जिसमें, वह कहता है, सुरनारियाँ दर्पणकी भाँति अपना मुँह देखती हैं[10]। स्पष्ट है कि कविकी उक्तियोंमें पुराण और परम्परा अनायास आ पैठते हैं और वह रावण-द्वारा कैलासकी, जोड़-जोड़ हिलाकर उसपर रहनेवालोंके भयान्वित हो जानेकी कथाका हवाला देता है[11]। कालिदासने उसका

---

१ वैटन : नीतिपास : जे० ए० एस० बी०, १८३५, पृ० ३१४। २ एच० स्ट्रैची : वही, १८४८ पृ० १५८। ३ नन्दलाल दे : दि ज्योग्रैफिकल डिक्सनरी ऑफ एन्शेन्ट ऐण्ड मेडिएवल इण्डिया, पृ० ८३। ४ वनपर्व, अध्याय १४४, १५६। ५ अ० ५१। ६ विक्रमो०, पृ० ८७; फ्रेजर : हिमालय माउन्टेन्स, पृ० ४७०। ७ रघु०, २,३०; ४,८०; कु०, ७,३०; ८,२४; मेघ०पूर्व०, ५२,५८,६०। ८ मेघ०, पूर्व, ५६। ९ राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः—वही। १० कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्य, वही,५८। ११ वही; कु०, ८,२४।

पौराणिक नाम कुबेर-शैल[1] और एकपिंगलगिरिसे[2] भी उल्लेख किया है। इन संज्ञाओंमें कुबेरके उस पर्वतपर निवासकी कथा ध्वनित है। कैलासका एक और नाम था, हेमकूट[3]। नन्दलाल देकी रायमें हेमकूट नामसे हिमालयकी वह बन्दर-पुच्छ श्रेणी भी जानी जाती थी जिसमें अलकानन्दा, गंगा और यमुनाके उद्गम हैं (वराहपुराण, अध्याय ८२), परन्तु उनका विश्वास है कि कैलास और बन्दर-पुच्छकी श्रेणियोंकी समान संज्ञा कैलासकी ही थी।[4] कालिदासने हेमकूट और कैलासको एक ही माना है।[5]

वराहपुराणके[6] अनुसार गौरीशिखर गौरीशंकर ही है। ब्लागिन्ट वाडटने इसे माउण्ट एवरेस्ट[7] माना है, परन्तु यह एकीकरण इसलिए दोषपूर्ण है कि एक तो नैपालमें इस नामसे वह जाना नहीं जाता और दूसरे कैप्टन[8] ऊडकी मापने यह सिद्ध कर दिया है कि नैपालका गौरीशिखर या गौरीशंकर माउण्ट एवरेस्ट नहीं हो सकता। आधुनिक मानचित्रोंमें भी गौरीशंकर और एवरेस्ट दोनों अलग-अलग दिखाये जाते हैं।

हिन्दू भौगोलिकोंके अनुसार गन्धमादन कैलास शृंखलाका ही एक भाग है[9]। कालिकापुराणने[10] इसे कैलास पर्वतके दक्षिणमें रखा है।

गन्धमादन

महाभारत[11] और वराहपुराण[12] इसी पर्वतपर बद्रिकाश्रमकी स्थिति मानते हैं। मार्कण्डेय[13] और स्कन्दपुराणोंके[14] अनुसार गढ़वालके वे पर्वत जिनसे होकर अलकनन्दा बहती है गन्धमादन हैं। कालिदास गन्ध-

---

१ कु०, ७,३० । २ वही, ८,२४ । ३ शाकुं०, पृ० २३७; विक्रमो०; १,१२; वही, पृ० ३८ । ४ ज्यो० डिक० एन० मेड० इण्डिया, पृ० ७५ । ५ शाकुं०, ७ । ६ अध्याय २१५ । ७ वाडेल: एमंग दि हिमालयाज, पृ० ३७ । ८ वाडेल; लासा ऐण्ड इट्स मिस्ट्रीज, ७६ । ९ ज्यो० डिक० एन० मेड० इण्डिया पृ० ६०; विक्रमो०, पृ० ८७ । १० अध्याय ८२ । ११ वनपर्व, अ० १४५, १५७; शान्तिपर्व, अ० ३३५ । १२ अ० ४८ । १३ अ० ५७ । १४ विष्णुखण्ड, ३,६ ।

मादनको स्पष्टतः कैलास शृंखलाके भीतर या उसके पास ही रखते हैं (कैलासशिखरोद्देशम्)।[1] महाकविके अनुसार मन्दाकिनी और जाह्नवी गन्धमादनके भीतर होकर बहती है।[2]।

मन्दर

नन्दलाल देने पुराणोंके आधारपर भागलपुर जिलेकी बांका तहसीलकी एक पहाड़ीको मन्दर माना है।[3] परन्तु यह एकीकरण कालिदासके वर्णनके प्रतिकूल होनेके कारण अशुद्ध है। कालिदासने मन्दरको हिमालयमें रखा है।[4] स्वयं महाभारत[5] नन्दलालके पौराणिक प्रमाणोंके विपरीत हिमालय-शृंखलाके पर्वतको ही मन्दर मानता है। वे लिखते हैं कि, "कुछ पुराणोंमें नर-नारायणके मन्दिरसे संयुक्त बदरिका-श्रमकी स्थिति मन्दर पर्वतपर बतायी गयी है परन्तु महाभारत (वन० अध्याय १६२, १६४) के अनुसार मन्दर बदरिकाश्रमके उत्तर और गन्धमादनके पूर्व पड़ता है।"[6] मन्दरके संबंधमें कालिदासने महाभारतके अनुवृत्तका अनुसरण किया है जिससे उसकी स्थिति कैलास और गन्धमादनके समीप मानी गई है।[7] शिव, विवाहानन्तर, रमण पहले मेरु पर करते हैं[8], फिर मन्दर पर।[9] मन्दरके[10] बाद वे कैलास[11] और गन्धमादनको[12] अपनी क्रीड़ाभूमि बनाते हैं। मन्दरके वर्णनमें कालिदासने समुद्र-मन्थन और अमृत-प्राप्तिका भी उल्लेख किया है जिससे सिद्ध है कि कवि पुराणोंके परम्परा-जालसे अपनी रक्षा न कर सका[13]। यह स्पष्ट है कि यद्यपि वह मन्दरको[14] हिमालयमें ही

---

१ विक्रमो०, पृ० ८७। २ ततस्तत्र मन्दाकिनीतीरे सिकतापर्वतैः, वही, तत्र हंसधवलोत्तरच्छदजाह्नवीपुलिनचारु-दर्शनम्, कु० ८,८२। ३ ज्यो० डिक०, पृ० १२४। ४ कु०, ८,२३,५६। ५ अनुशासन पर्व, अ० १६, वन पर्व, अ० १६२। ६ ज्यो० डिक०, पृ० १२५। ७ कु० ८,२३,२४,२६,५६। ८ वही, २२। ९ वही, २३। १० वही। ११ वही, २४। १२ वही, २८। १३ वही, २३। १४ वही।

रखता है फिर भी समुद्र-संबंधी उसकी पौराणिक स्थितिको वह नहीं भूल पाता। मलयकी ओरसे बहते पवनके सम्बन्धमें धोखा नहीं हो सकता। परन्तु इससे केवल कालिदासके पौराणिक परम्पराके प्रति संकेतके सिवा और कोई अर्थ नहीं निकलता और इस कारण मन्दरको हिमालयसे हटाकर दक्षिणमें रखना भूल होगी। क्योंकि कविका वर्णन जिसमें मन्दरका उल्लेख है दो ही श्लोकोंके बाद कैलासकी दिशामें होता है[1]।

मेरु

महाभारतके[2] अनुसार मेरु[3] अथवा सुमेरु[4] गढ़वालका रुद्र-हिमालय है जहाँ गंगाका स्रोत है। यह स्थान बदरिकाश्रमके समीप ही है। मत्स्यपुराणके अनुसार सुमेरुके उत्तरमें उत्तर-कुरु है, दक्षिणमें भारतवर्ष, पश्चिममें केतुमाला और पूर्वमें फिर भारतवर्ष[5]। पद्मपुराणके अनु-सार भी गंगा सुमेरु पर्वतसे निकलकर भारतवर्षसे होती हुई समुद्रमें गिरती है[6]। गढ़वालमें केदारनाथ पर्वतको आज भी सुमेरु कहते हैं[7]। शैरिंगका कहना है कि स्थानीय परम्पराके अनुसार मेरु पर्वत अल्मोड़ा जिलेके ठीक उत्तरमें है[8]। दे[9] का कहना है कि महाभारतके[10] अनुसार मेरु शकद्वीपका पर्वत है। दे कहते हैं कि, "माउण्ट नीसाके पासका एरियनका माउण्ट मेरोस यही है[11]।" इस पहिचानके अनुसार मेरु अथवा सुमेरु ब्रह्माण्डपुराणका निषद पर्वत बनकर पामीरोंमें चला जायगा। परन्तु कालिदासके अनुसार इसकी स्थिति कैलास तथा गन्धमादनके

---

१ मिलाइये २३ और २५। २ शान्तिपर्व अ० ३३५-३३६। ३ रघु०, ७,२४; कु०, १,२,१८; ७,७९; ८,२२। ४ रघु०, ५,३०; कु०, ६,७२। ५ अ० ११३। ६ अ० १२८। ७ जे० ए० एस० बी०, १७ पृ० ३६१। ८ वेस्टर्न टिबैट, पृ० ४०। ९ ज्यो० डिक०, पृ० १९७। १० भीष्म पर्व अ० ११। ११ ज्यो० डिक०, पृ० १९७।

समीप है। विवाहके पश्चात् शिव मेरु[1], मन्दर[2], कैलास[3] और गन्धमादन[4] पर रमण करते हैं जो सबके सब गढ़वालमें रुद्र हिमालयके समीप या उसकी शृंखलामें अवस्थित हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थकारों और स्वयं कालिदासने इस पर्वतको स्वर्ण-निर्मित[5] और किंपुरुषों, विद्याधरों आदि अमानवोंका वास-स्थान बताया है।[6]

हिमालयका कालिदासने अनेक स्थलोंपर रोचक वर्णन किया है। घने मेघ पर्वतके कटि भागके चतुर्दिक् संचरण करते हुए नीचे अपनी छाया डालते हैं।[7] शरद्‌ऋतुमें सूखे मैदानोंसे हंस गंगाकी ओर उड़ जाते हैं। भूर्जपत्रोंसे रह-रहकर मर्मर ध्वनि उठती है और वंशछिद्रोंमें प्रवेश करती वायु मधुर वंशी-ध्वनि प्रसूत करती है। वही ध्वनि गंगाकी आर्द्र शीतल वायुके झोंकोंके साथ पथिकोंकी[8] क्लान्ति हरती और हिमालय की किन्नरियोंके संगीतको[9] मधुमय करती है। कस्तूरीमृगके स्पर्शसे सुवासित शिलाखण्डोंको नमेरु वृक्ष अपनी घनी शीतल छायासे कृतार्थ करते हैं[10]। देवदारुओंके परस्पर घर्षणसे जो दावानलका[11] प्रादुर्भाव होता है उससे रात्रिमें वन-प्रान्त सहसा आलोकित हो उठता है। उसी प्रकार स्नेह-हीन दीपकोंकी भाँति ओषधियोंकी दीप्ति चराचरको उद्भासित कर देती है।[12] जिन ओषधियोंके प्रकाशका कविने वहाँ वर्णन किया है उनका अर्थ लगाना कठिन है। क्रौंच-रन्ध्र-नीति-दरी हिमालयके उस भागमें परशुरामके[13] प्रतापकी घोषणा करता है क्योंकि उसी अनुपम धनुर्धरने अपने हस्तलाघवकी परीक्षाके लिए बाण मार-मार यह घाटी

१ कु०, ८,२२। २ वही, २३,५९। ३ वही, २४। ४ वही, २८,२९,७५,८६। ५ रघु०, ५,३०; कु० ६,७२। ६ कु० १,७ (विद्याधर), ७ (किन्नर), ११ (अश्वमुख्यः), १४ (किंपुरुष)। ७ कु०, १,५। ८ रघु०, ४,७३। ९ वही, २,१२; कु० १,८; मेघ० पूर्व, ५६। १० रघु०, ४,७४; कु०, १,५४; मेघ० पूर्व, ५२। ११ मेघ० पूर्व० ५३; रघु, २,१४। १२ कु० १,१०; रघु०, ४,७५। १३ मेघ० पूर्व, ५७।

सहसा प्रस्तुत कर दी थी[1]। इस घाटीके पीछे नये कटे गजदन्तकी भाँति कैलास पर्वत खड़ा है जो सुरनारियोंके लिए दर्पणका कार्य करता है[3]। चवरी मृगोंके[4] शालीन गमनसे हिमालयका धवल मस्तक और भी दृप्त हो जाता है। इन्हीं चमरियोंके पुच्छ सम्राटोंके चंवर बनते हैं। इसी हिमालयमें वह अनुपम मानस-सरोवर है जिसमें स्वर्णाभ कमल[5] फूलते हैं। इन कमलोंसे कालिदासका तात्पर्य संभवतः पद्मोंकी किसी पीली जातिसे है। हिमाद्रिकी गुफाएँ जैसे सिंहोंसे[6] भरी हैं वैसे ही उसके वन-प्रान्त गजोंसे[7] भरे हैं। कवि उस पर्वतराजको अक्षय सम्पत्ति का जनक मानता है।[8] सरल द्रुमोंको रगड़ते और उनके क्षीरसे वन-प्रान्तको सुवासित करते[9] गजोंके यूथ सर्वत्र फिरते हैं। हिमालय शाश्वत हिम[10] से मण्डित पर्वत है। इस प्रलम्ब भारतीय पर्वतश्रेणीका वर्णन कविने अपने अनेक ग्रन्थोंमें अनेक स्थलोंपर किया है। कुमारसम्भवकी सारी कथा और मेघदूतका उत्तरार्ध हिमालयसे ही सम्बद्ध है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयका चौथा अंक, शाकुन्तलका सातवाँ अंक और रघुवंशके पहले, दूसरे और चौथे सर्ग भी उसी हिमाद्रिके विभिन्न वर्णनोंसे मुखरित हैं।

दर्रे

कालिदासने स्पष्टतः केवल एक दर्रे, 'क्रौंचरन्ध्र'[11], का वर्णन किया है। क्रौञ्चरन्ध्र कुमायूँ जिलेका प्रसिद्ध नीति-पास है जो भारत और तिब्बत आने-जानेका मार्ग है[12] और जिस पथसे दोनों देशोंके बीच प्रभूत व्यापार होता है। कविने इसी प्रकारके एक अन्य दर्रेके प्रति भी अस्पष्ट संकेत किया है जो मलय पर्वतमें अनामलय और

---

१ वही। २ वही, ५६। ३ वही, ५८। ४ वही ५३; कु० १,१३। ५ मेघ० पूर्व, ६२। ६ रघु० ४,७२; कु०, १,५६। ७ रघु०, २,३७; कु०, १,६,७,६। ८ कु० १,३,२। ९ वही, १,९। १० हिमाद्रि रघु०, ४,७९; कु०, १,५४; शिलीभूतहिम—कु०, १,११; तुषारसंघातशिला, ५६; तुषार, ६; कु०, १,५६। ११ मेघ० पूर्व०, ५७। १२ दे: ज्यो० डिक०, पृ० १०४।

एलामलयके बीच है और जिस राह प्राचीनकालमें आक्रमक सेनाएँ पूनेसे पश्चिमकी ओर जाती थीं । इसी राह रघुकी सेनाने[1] वनकी उपत्यका लांघ अपरान्तमें प्रवेश किया था । कविका संकेत सम्भवतः पालघाटकी ओर है ।

इस पर्वत-भित्तिके पीछे अरबसागर और बंगालकी खाड़ीके बीच संसारका अनुपम भू-खण्ड है, उर्वर मैदानोंसे ढका । उत्तराखण्डका अधिकतर भाग इसी भू-खण्डके तीन विख्यात नदों और उनकी सहायक नदियों-द्वारा सिंचता है । पश्चिममें सिन्धु नद[2] देशको उर्वर करता अरबसागरमें गिरता है । पूर्वकी ओर गंगा[3] मध्यदेशके बीचसे होती बंगालकी खाड़ीमें खो जाती है । पूर्व सागर[4] पहुँचनेके पहले गंगा लौहित्य[5] (ब्रह्मपुत्र) से मिलकर एक सुविस्तृत डेल्टाका[6] निर्माण करती है । यह सुविस्तृत भू-खण्ड सर्वथा उर्वर है और इसकी मिट्टी बड़ी नरम है । केवल जहाँ-तहाँ नीची पहाड़ियाँ इसके मृदु प्रसारको असम कर सकी हैं । कालिदासने इस प्रकारकी केवल एक पहाड़ी गोबरधनका[7] उल्लेख किया है । गोबरधन मथुरा जिलेमें वृन्दावनसे १८ मील पर एक छोटी-सी पहाड़ी है ।

हिन्दुस्तानका मैदान

हिन्दुस्तानके दक्षिणका प्रायः सारा भारत लम्बा चौड़ा पठार है । यही पठार जहाँ-तहाँ उठकर ऊँचे पहाड़ों और पहाड़ियोंके रूप धारण कर लेता है । इनमें विन्ध्य[8], विन्ध्यपद[9], पारियात्र[10], आम्रकूट[11], चित्रकूट[12],

---

१ रघु० ४,५१ । २ माल०, पृ० १०२ । ३ रघु०, ४,७३; ६,४८; ७,३६; ८,९५; १३,५७; १४,३; कु०, १,३०,५४; ६,३६,७०; मेघ० पूर्व०, ५०,६३; जाह्नवी—रघु०, ८,९५; १०,२६,६९; भागीरथी, ७,३६ । ४ रघु०, ४,३२ । ५ वही, ८१ । ६ वही, ३६ । ७ वही, ५१ । ८ वही ६,६१; १२,३१; १४,८; ऋतु० २,८,२७; माल०, ३,२१ । ९ मेघ० पूर्व०, १९ । १० रघु०, १८, १६ । ११ मेघ० पूर्व०, १७-१८ । १२ रघु०, १३, ४७-४८ ।

महेन्द्र[1], देवगिरि[2], माल्यवान्[3], रामगिरि[4], नीचगिरि[5], सह्य[6], ऋक्षवान्[7], और चित्रकूटका[8] उल्लेख कालिदासने किया है। इसी प्रकार सुदूर दक्षिणके मलय[9] और दर्दुर[10] नामक दो पहाड़ोंका उल्लेख भी कालिदासके ग्रन्थोंमें हुआ है।

विन्ध्याचल वह प्रसिद्ध पर्वतश्रेणी है जो भारतवर्षको उत्तर और दक्षिणके दो भागोंमें विभाजित करती है। यहींसे उत्तरापथ और दक्षिणापथके राजमार्ग उत्तर और दक्षिणकी ओर चलते थे।

पठार

वस्तुतः पारियात्रका केवल वह पूर्वी विस्तार जहाँसे बेतवाकी सहायक नदी धसान निकलती है विन्ध्य पर्वत है। परन्तु आज विन्ध्य-शृंखलामें दक्षिणी ऋक्ष, पारियात्र और विन्ध्य तीनों शामिल हैं[11]। *विन्ध्य सात 'कुलपर्वतों' मेंसे*[12] एक है। विन्ध्यपदको अब सतपुड़ा कहते हैं जिसमें ताप्ती आदि नदियोंका उद्‌गम है। कालिदासने इसे 'विन्ध्य-पद'[13] अर्थात् ऊँचे विन्ध्याचलके चरण कहा है। इसी प्रकार अन्य हिन्दू भौगोलिक भी इसे विन्ध्यपद ही कहते हैं[14]। यह पर्वत नर्मदा और ताप्तीके बीच है। तालेमीने[15] इसे माउण्ट सारदानिस कहा है जिसमें कई प्रकारकी खानें हैं। पारियात्र, चम्बल और बेतवाके उद्‌गमसे पश्चिमकी ओर दौड़नेवाली विन्ध्यशृंखलाका भाग है। अरावली और राजपूतानाकी दूसरी पहाड़ियाँ भी पारियात्रमें

---

१ वही०, ४,३९; ६,५४। २ मेघ० पूर्व०, ४२। ३ रघु०, १३,२६। ४ मेघ०, पूर्व०, १; मेघ० उत्तर०, ३८। ५ मेघ० पूर्व०, २५। ६ रघु०, ४,५२। ७ वही, ५,४४; १२,२५। ८ वही,४, ५९। ९ वही, ४,४६,५१; १३,२; कु०, ८, २५। १० रघु०, ४,५१। ११ जयचन्द्र विद्यालंकार : भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० ६३। १२ "महेन्द्रो मलयः सह्यः शुक्तिमानृक्षपर्वतः। विन्ध्यश्च पारियात्रश्च सप्तैते कुलपर्वताः॥"—मार्कण्डेय पुराण, ५७,१०-११। १३ मेघ० पूर्व०, १९। १४ वराहपुराण, अ० ८५। १५ मजूमदार: मैक-क्रिन्डल्स तालेमी।

ही शामिल हैं। पाथर-शृंखला भी इसीका भाग है और यह नाम संभवतः पारियात्रका अपभ्रंश है। श्री जयचन्द्र विद्यालंकारके अनुसार पारियात्र विन्ध्य-शृंखलाका वह भाग है जहाँसे पार्वती और बनाससे लेकर बेतवा तककी नदियाँ निकलती हैं। पारियात्र भी कुलपर्वतोंमेंसे ही है। आम्रकूटका आधुनिक नाम अमरकण्टक है जिससे नर्मदा आदि अनेक नदियाँ निकलती है। चित्रकूटका तात्पर्य साधारणतः बुन्देलखण्डके कामतानाथ गिरिसे है। पैसुनी (पयस्विनी) अथवा मन्दाकिनीके तट पर चित्रकूट नामकी छोटी पहाड़ी है जहाँ रामने अपने वनवासके समय निवास किया था।[1] चित्रकूटकी पहाड़ी इसी नामके जी० आई०पी० रेलवेके स्टेशन से ४ मील पर है। कालिदासने दण्डकारण्यका उल्लेख चित्रकूटके पहले किया है। राम पहले दण्डकारण्यमें प्रवेश करते हैं[2] फिर चित्रकूट गिरिपर[3]। इससे जान पड़ता है कि कविके विचारसे चित्रकूट विन्ध्य-शृंखलाके दक्षिण भागमें पड़ता था। महाकविने मेघदूतमें भी एक ऐसे गिरिकी ओर संकेत किया है जो प्रसंगके विचारसे विन्ध्य-शृंखलाके दक्षिण पड़ता है और जिसे प्रसिद्ध टिप्पणीकार मल्लिनाथने चित्रकूट संज्ञा प्रदान की है[4]। अब यदि हम मल्लिनाथका विचार मानें तो यह मानना पड़ेगा कि कवि मेघको पहले चित्रकूट[5], फिर आम्रकूट[6] भेजना चाहता है। इससे भी चित्रकूटका अमरकंटकके दक्षिणमें ही होना प्रमाणित होता है। परन्तु मल्लिनाथका इस गिरिको प्रसिद्ध चित्रकूट मानना असंगत है। फिर मेघदूतमें भी जिस श्लोकमें मल्लिनाथने चित्रकूटपर टिप्पणी की है उसे श्री पाठकने अपने संस्करणमें प्रक्षिप्त[7] माना है, जो सही जान पड़ता है। उस दशामें रघुवंशके सर्ग १२ के श्लोकसे तात्पर्य यह निकलेगा कि यह पर्वतीय भाग उस दण्डकारण्यमें ही पड़ता था जिसका वर्णन चित्रकूटसे

---

१ रामायण, अ० कांड, ५५। २ रघु०, १२,६। ३ वही, १५। ४ अनु शैलं चित्रकूटं—मेघ० पूर्व०, १२ पर टिप्पणी। ५ वही। ६ वही, १७-१८। ७ मेघदूत।

पहले आया है। इसलिए कि दण्डकारण्यके वर्णन और नाम चित्रकूटसे भिन्न है। वह स्वतंत्र भू-खण्ड है यह कहना भ्रमपूर्ण होगा। वस्तुत: तो इसका वर्णन किया ही नहीं गया है। इस वनप्रान्तमें जब कवि दृश्यका आरम्भ करता है तब उसमें उसका सबसे पहला वर्णन चित्रकूट-वनस्थलीका है। दण्डकारण्यका विस्तार विन्ध्यमेखलाके उत्तरसे आरम्भ होकर दक्षिणमें गोदावरीकी घाटीमें समाप्त होता है। इस प्रकार दण्डकारण्यकी स्थिति विन्ध्य पर्वतके उत्तर-दक्षिण दोनों ओर हुई और उसके उत्तरी भागमें चित्रकूटका होना सार्थक है। कालिदासने 'चित्र-कूटके दरीमुखोंका नदोंकी ध्वनिसे मुखरित होना और मेघोंका उस गिरि-शिखरपर बैठकर पुंगवकी भाँति वप्रक्रीड़ा करना'[1] लिखा है। कविके अनुसार चित्रकूटके पाससे ही मन्दाकिनीकी धारा बहती है[2]। इससे बुन्देलखण्डके कामतानाथगिरिका ही चित्रकूटगिरि होना सिद्ध है।

रामगिरि मध्यप्रदेशमें नागपुरसे २४ मील उत्तर वर्तमान रामटेक है। मेघदूतका आरम्भ इसी रामगिरिपर होता है[3]। कालिदासने सीता और रामके निवाससे उस गिरिका पवित्र होना लिखा है। उस गिरिपर, मेघदूतके अनुसार, विशाल नमेरु वृक्षों (छायातरुओं) की छायामें कभी अनेक आश्रम थे। कालिदासके वर्णनसे जान पड़ता है कि रामगिरिके समीपवर्ती निचली भूमि 'निचुल' पौधोंसे ढकी थी[4]। नीचगिरि भेलसाके समीप भोजपुर तक फैली भूपाल राज्यमें पहाड़ियोंका विस्तार माना गया है,[5] परन्तु यह सही नहीं जान पड़ता। नीचगिरि सम्भवत: उदयगिरिका ही प्राचीन नाम है। उदयगिरि ग्वालियरमें है और गुप्तकालकी मूर्तियों तथा अभिलेखोंके लिए प्रसिद्ध है। कालिदासने मेघदूतमें शिलावेश्मोंका वर्णन किया है। उड़ीसासे मदुरा जिले तकके पहाड़ी-विस्तारका नाम महेन्द्र पर्वत है। इसीमें पूर्वीघाट भी शामिल थे और

१ रघु० १३,४७ । २ मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे—— वही, ४८ । ३ रामगिर्याश्रमेषु——मेघ० पूर्व०, १ । ४ वही, १४ । ५ दे: ज्यो० डिक०, पृ० १४०; कनिंघम : भिलसा टोप्स, ए० पृ० ३२७ ।

यह शृंखला उत्तरी सरकारसे गोंडवाना[१] तक पहुँचती थी। इसीका गंजामके पासका भाग आज भी महेन्द्र मलय कहलाता है। कालिदासने प्रमाणतः महेन्द्र नामसे केवल इसी पर्वत-भागका उल्लेख किया है। महाकवि इसकी स्थिति कलिंगमें[२] बताता है।

ऊपर बताया जा चुका है कि रघुवंशके अनुसार महेन्द्र पर्वतकी स्थिति कलिङ्गमें[३] है। यह नाम विशेषतः पहाड़ी शृंखलाके उस भागको दिया गया है जो गंजामको महानदीकी घाटीसे पृथक् करता है। महेन्द्र भी भारतके सात कुलपर्वतोंमेंसे है[४]। कालिदासने कलिंगराजको महेन्द्रका स्वामी[५] लिखा है और वह कलिंग गंजामका समीपवर्ती प्रदेश ही नहीं बल्कि गोदावरी तक बिस्तृत भू-खण्ड था। महेन्द्र पर्वतके दक्षिणकी ओर समुद्रतटवर्ती सारी भूमि पूगवृक्षोंसे ढकी थी[६]। ऋक्षवान् भी कुलपर्वत[७] है जो गोंडवानाके पहाड़ोंका प्राचीन नाम कहा गया है[८]। परन्तु वस्तुतः ऋक्षवान्‌से सतपूड़ा पर्वतका तात्पर्य होना चाहिये। क्योंकि कुंडिनपुर जाते हुए अजको इसे पार करना पड़ा था। श्री जयचन्द्र विद्यालंकारके अनुसार यह विन्ध्य और पारियात्रके दक्षिण पड़ता है और इसके निचले भागसे होकर ताप्ती और वेणगंगासे उड़ीसाकी वैतरणी तक नदियाँ बहती हैं (वायुपुराण, प्रथमखण्ड, ४५, ९७-१०२; विष्णुपुराण, द्वितीय खंड, ३, १०-११; मार्कण्डेय पुराण, ५७, १९-२५)। इन उल्लेखोंमें पौराणिक पाठोंकी अनेकताने पर्याप्त कठिनाई उपस्थित कर दी है। वायु-पुराणका पाठ अधिक सही और बड़ा है, विष्णुका संक्षिप्त है। परन्तु जहाँ वायु, कूर्म और वराह पुराणोंमें इस शृंखलाके पूर्वी भागका नाम ऋक्ष और पश्चिमीका विन्ध्य है, वहाँ विष्णुका पाठ इससे सर्वथा उलटा है और मार्कण्डेय पुराण पूर्वी भागका नाम स्कन्ध और दक्षिणीका विन्ध्य बताता

---

१ दे: ज्यो० डिक०, पृ० ११९। २ रघु०, ४,४३; ६,५४। ३ वही, ४,३९; ६,५४। ४ मार्कण्डेय पु०, ५७,१०-११। ५ रघु०, ४,४३; ६,५४। ६ वही, ४,४४। ७ मार्क० पु०, ५७, १०-११। ८ ज्यो० डिक०, पृ० १६८, ६९।

है। वास्तवमें विष्णु पुराणका पाठ ही सही है क्योंकि 'विन्ध्याचल' अब भी मिर्जापुरके पास है और ऋक्ष नलोपाख्यानमें दक्षिणी भागका नाम है[1]। इस दुहरी शृंखलाके उत्तरी भागमें पश्चिम ओर पारियात्र और पूर्व ओर विन्ध्य पर्वत है। मागर दक्षिणी भाग ऋक्ष है जिसे नर्मदाकी घाटी पारियात्रसे और सोनकी घाटी विन्ध्यसे अलग करती है। आज हम इन तीनों पर्वतोंसे निर्मित इस विस्तृत शृंखलाको विन्ध्यमेखला कहते हैं[2]। भारतके प्राचीन भूगोलके अनुसार वैतरणी ऋक्ष पहाड़ोंसे होकर बहती है। उस दशामें मयूरभंज और कैन्दूझरकी पहाड़ियाँ इसी ऋक्षवान्का भाग हुई[3]। इस प्रकार ऋक्षका प्रसार निर्बाध रूपसे सह्याद्रिके उत्तरसे पूर्वकी ओर हुआ जिसके पूर्वी छोरके उत्तरमें विन्ध्य और पारियात्र पर्वतोंकी स्थिति हुई[4]। प्रो० मीराशीके अनुसार सतपुड़ाको ही ऋक्षवान् मानना चाहिए क्योंकि कुण्डिनपुरकी राहमें अजको इसे लाँघना पड़ा था।

नन्दलाल देने माल्यवान्को तुंगभद्राके[5] तट पर अनागुण्डीकी पहाड़ी माना है। हेमकोशके अनुसार माल्यवान् प्रश्रवणगिरि है परन्तु भवभूतिने दोनोंको भिन्न पर्वत माना है[6]। दे ने उसको वर्तमान नाम 'फटिक' (स्फटिक) शिला, जहाँ रामचन्द्रने सुग्रीवसे मैत्रीके बाद ४ महीने निवास किया था (रामायण, अरण्य, ५१) में दिया है[7]। परन्तु पार्जीटरका मत है कि माल्यवान् और प्रश्रवण दोनों एक ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि जहाँ प्रश्रवण शृंखलाका नाम है माल्यवान् वहाँ उसके शिखरका देवगिरि[8]। देवगिरिको कालिदासने[9] उज्जैन और चम्बलके पास मन्दसोरके बीच रखा है। प्रो० विलसनने उसे मालवाके

---

१ भारतभूमि, पृ० ६३। २ वही, ६४। ३ वही, ८७। ४ वही, ६१। ५ ज्यो० डिक०, पृ० १२३। ६ उ० रामचरित, अंक १। ७ ज्यो० डिक०, पृ० १२३। ८ जे० आर० ए० एस०, १८९४, पृ० २५६-५७। ९ मेघ० पूर्व, ४२।

बीच चम्बलके दक्षिण देवगढ़ माना है[1]। सह्य भी भारतका कुलपर्वत है[2]। आज भी यह सह्याद्रिके ही नामसे विख्यात है। सह्याद्रि मलयके उत्तर नीलगिरि तकके पश्चिमी घाटोंका प्रसार है। त्रिकूट साधारणतः जुन्नारके पासकी पहाड़ी माना जाता है[3]। परन्तु वस्तुतः यह नाम नासिकके पश्चिमकी एक पहाड़ीका था। नासिकके पास अन्जनेरीमें जो एक अभिलेख मिला है उसमें पूर्वी त्रिकूट विषयका उल्लेख है (एपिग्राफिया इण्डिका, २५, पृ० २२५ से आगे)।

मलय कावेरीके दक्षिणी-पश्चिमी घाटका दक्षिणी भाग है। इसे त्रावणकोर-की पहाड़ियाँ कहते हैं जिनमें कोएम्बटूरसे कुमारी अन्तरीप तक फैले एलाके पेड़ोंसे ढके पर्वत भी शामिल हैं।[4] इसे अगस्तकूट पर्वत भी कहते हैं। यह उस अनामलय पर्वतका दक्षिणी शिखर है जहाँ ताम्रपर्णीका उद्गम है। अनामलय और एलामलय (अनामलय पाल घाटके पीछे पड़ता है जिसके दक्षिण कुमारी अन्तरीप तक एलामलयकी शृंखला है।) दोनोंका संयुक्त नाम मलय पर्वत है।[5] भवभूतिके मतसे कावेरी मलय पर्वतकी प्रदक्षिणा करती हुई बहती है[6]। मलय चन्दन वृक्षोंसे भरा है और उसकी वायु शीतलताके लिए प्रसिद्ध है[7]। मालावारकी पहाड़ियाँ भी इस मलय पर्वतके ही भाग हैं। कालिदासने मलयानिल-द्वारा राजतालीवनोंका कम्पित होना लिखा है[8]। कवि लिखता है कि पुन्नाग पुष्पोंमें असंख्य भ्रमरोंका निवास है और उपत्यका खजूरके वृक्षोंसे ढकी है[9]। "मलय पर्वतके खजूरोंपर तमाल-पत्रोंका प्रसार है, चन्दन तरु एला लताओं द्वारा आलिंगित हैं और सुपारी

१ दे द्वारा ज्यो० डिक० पृ० ५४ पर उद्धृत। २ मार्क० पु०,५७, १०–११। ३ इण्डियन एन्टिक्वेरी ६, पृ० ७५; ७, पृ० १०३। मिलाइये भगवानलाल इन्द्राजीकी अर्ली हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० ५१। ४ "वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्"—रघु० १३, २। ५ भारत-भूमि, पृ० ९०। ६ महावीर चरित, ५, ३। ७ कु० ८,२५। ८ रघु० ४,६। ९ वही, ५७।

वृक्षोंको ताम्बूल लताओंने घेर रखा है"[1] । मलय उपत्यका मरीचि वृक्षोंके वनसे ढकी है जहाँ हारितोंके झुण्ड चतुर्दिक् पर मारते हैं[2], और एलाकी रज उठ-उठ गजोंके गण्डस्थलोंपर चिपक जाती है[3] । मलयकी गणना भी भारतके कुल-पर्वतोंमें है[4] । दर्दुर मद्रास प्रान्तमें नीलगिरि है[5] । कालिदास मलय और दर्दुरको दक्षिण भूमिके स्तन कहता है[6] । मार्कण्डेय पुराणमें[7] भी इन दोनों पर्वतोंका उल्लेख हुआ है । दर्दुर इस प्रकार पश्चिमी घाटका वह भाग है जिसमे मैसूरकी दक्षिण-पूर्वी सीमा बनती है । इन मलय और दर्दुर पर्वतोंकी श्रृंखलामें ही कृतमाला, ताम्रपर्णी, पुष्पजा और उत्पला नदियोंका निकास है ।

मैनाक पर्वतका उल्लेख कविने पौराणिक और काल्पनिक अभिप्रायमें किया है[8] । नन्दलाल देकी रायमें इस पर्वतसे तीन पहाड़ोंका वैकल्पिक

मैनाक

बोध होता है । उनमेंसे एक तो है शिवालिक श्रृंखला (कूर्मपु०, उपरिभाग, अ० ३६; महाभारत, वन०, अ० १३५) जो गंगासे व्यास नदी तक फैली है; दूसरा अल्मोड़ा जिलेके उत्तरमें गंगाके निकासके समीपकी पहाड़ियाँ (पार्जीटरका मार्क० पु०, अ० ५७, पृ० २८८); तीसरा भारत और लंकाके बीच समुद्रमें स्थित एक काल्पनिक पर्वत (रामायण, सु० कांड, अ० ७); और पश्चिमी भारत गुजरातके समीप पर्वत विशेप (महाभारत, वनपर्व, अ० ८९)[9] । कालिदासकी भाषासे इस पर्वतका पौराणिक और पारम्परिक वर्णन सिद्ध है[10] । इस कारण नन्दलाल दे का तीसरा मत जो मैनाकको भारत और लंकाके बीच समुद्रमें स्थित बताता है इस सम्बन्ध में ग्राह्य होना चाहिए ।

---

१ वही, ६, ६४ । २ वही, ४६ । ३ वही, ४७ । ४ मार्क० पु०, ५७, १०—११ । ५ जे० आर० ए० एस०, १८९४:—पृ० २६२; मिलाइये बृहत् संहिता, अ० १४ । ६ रघु०, ४, ५१ । ७ अ०५७ । ८ कु०, १, २० । ९ ज्यो० डिक. पृ. १२१ । १० कु०, १, २० ।

दक्कन और सुदूर दक्षिणके पठारमें रेवा, गोदावरी, कावेरी और ताम्रपर्णी नदियोंके काठे हैं जिनका उल्लेख महाकविने किया है।

भारतकी नदियाँ

हिन्दुस्तानके मैदानमें बहनेवाली नदियोंका निकास हिमालयकी पर्वतश्रेणी या उसके पीछेके पहाड़ोंमें है। इनमें से कुछ भारतके मध्यवर्ती पठारसे भी निकल कर उत्तरकी ओर बहती हैं। हिमालयसे निकलनेवाली नदियोंका जल उसके पिघले तुषारसंघातसे आता है। इस प्रकार इन नदियोंको मानसूनकी वर्षा पर सर्वदा निर्भर करना नहीं पड़ता। हिमाद्रिकी वर्फ और मानसूनकी वर्षा दोनों इन्हें भरे रखते हैं। यही कारण है कि वे कभी सूख नहीं पातीं। पहाड़ोंमें वे गरजती हुई दरीमुखोंसे निकलकर गंगाप्रपात[1] और महाकोशीप्रपात[2]के से झरने बनाती शिलाखण्डोंको तोड़ती बहती हैं। हिन्दुस्तानके निचले मैदानों पर पहुँच उनकी गति मन्द पड़ जाती है और वे धीरे-धीरे सांपके आकारमें घूमती मैदानोंके पार बड़ी नदियों या समुद्रसे जा मिलती हैं।

जिन तीन भारतकी विशिष्ट धाराओंका कालिदासने वर्णन किया है वे निम्नलिखित हैं:—

(१) सिन्धु[3]

(२) गंगा[4] और उसकी सहायक नदियाँ—यमुना[5], सरयू[6],

---

१ रघु०, २, २६ । २ कु०, ६, ३३ । ३ माल०, पृ० १०२ । ४ रघु० ४, ७३; ६, ४८; ७, ३६; ८, ९५; १३, ५७; १४, ३; कु०, १, ३०, ५४; ७, ३६, ७०; मेघ० पू० ५०, ६३; जाह्नवी रघु०, ८, ९५; १०, २६, ६९; भागीरथी, वही, ७, ३६ । ५ रघु०, ६, ४९; १३, ५७, कलिन्दकन्या, वही, ६, ४८; । ६ वही ८, ९५; ९, २०; १३, ६०—६३; १९, ४० ।

सरस्वती[1], शोण[2], महाकोशी[3], मालिनी[4], मन्दाकिनी[5], तमसा[6], सुरभितनया[7] वेत्रवती[8], सिन्धु[9], निर्विन्ध्या[10], गन्धवती[11], गम्भीरा[12] और सिप्रा[13]।

(३) लौहित्य[14] अथवा ब्रह्मपुत्र।

इन उत्तर और मध्यभारतमें बहनेवाली नदियोंके अतिरिक्त उड़ीसा और दक्षिण भारतमें बहनेवाली कुछ नदियोंका भी कालिदासने उल्लेख किया है। इनके नाम हैं, नर्मदा[15] (रेवा[16] अथवा गौतमी[17]), वरदा[18], गोदावरी[19], कावेरी[20], ताम्रपर्णी[21] और मुरला[22]। इनमेंसे कई तो आज भी अपने प्राचीन नामोंसे ही विख्यात हैं परन्तु कुछके सम्बन्धमें फिर भी आवश्यक वक्तव्य है।

गंगा, जिसके अन्य भी अनेक नाम—जह्नुकन्या[23], जाह्नवी[24] और भागीरथी[25] कविने दिये हैं, हिमालयमें गंगोत्रीसे निकलकर ब्रह्मपुत्रके साथ डेल्टा[26] बनाती हुई पूर्वसागरमें गिरती है। यमुना बन्दरपुच्छ पर्वतके एक भाग कलिन्द-गिरिसे निकलती है जिस कारण उसका नाम भी

---

१ वही, ३,६; मेघ० पू० ४६। २ रघु०, ७,३६। ३ कु० ६, ३३। ४ शाकु०, पृ० २१, ८७; अंक ३, ४। ५ रघु० १३, ४८; कु०, १, २६; २, ४४; ३, ६५; मेघ० उत्तर, ४; विक्रमो० पृ० ८७। ६ रघु०, ६, २०, ७२; १४, ६७,। ७ मेघ० पू०, ४५। ८ वही, २४। ९ वही, २६। १० वही, २८। ११ वही, ३३। १२ वही, ४०। १३ रघु०, ६, ३५; मेघ० पू० ३१। १४ रघु०, ४, ८१। १५ वही ६, ४२–४६; माल०, पृ० ६। १६ रघु०, ६, ४३; मेघ० पूर्व०, १६। १७ शाकु०, पृ० ४२। १८ माल०, ५, १ और १३। १९ रघु०, १३, ३३। २० वही, ४, ४५। २१ वही, ५०। २२ वही, ५५। २३ वही, ८, ६५। २४ वही, १०, २६, ६६; १४, ७३। २५ वही, ७, ३६। २६ गंगास्रोतोन्तरेषु, वही, ४, ३६।

कलिन्दकन्या[1] पड़ा । यमुना प्रयागके पास गंगासे मिलती है और दोनोंके संगम[2] का बड़ा माहात्म्य है । उसे तीर्थराज कहा गया है जहाँ स्नान प्राचीन कालसे पावन माना गया है । प्रयागके इस गंगा-यमुनाके संगमका वर्णन करता कवि फूला नहीं समाता[3] । सित और असित दोनों धाराओंके संगमपर स्नान करनेकी महिमाका वह बखान करता है (सितासिते सरिते यत्र संगते)। सरयू अवधमें बहनेवाली घाघरा नदीका दूसरा नाम है । अयोध्याका नगर आज ही की भाँति तब भी सरयूके ही तट पर बसा था[4] । सरयूका निकास कुमायूंके पहाड़ोंसे है और कालीनदीके संगमके बाद इसका नाम सरयू अथवा सरजू, घाघरा और देवा पड़ता है । गंगाके साथ बिहारमें छपराके समीप इसके संगमकी महिमा कविने विशेष उत्साहसे गाई है[5] । सरस्वतीका उद्गम हिमालय पर्वत-श्रेणीके सिवालिक भागमें सिरमूरकी पहाड़ियोंमें है जहाँसे निकलकर वह अम्बाला जिलेमें आदिबद्रीके समीप मैदानमें उतरती है और शीघ्र दक्षिणके रेगिस्तानमें खो जाती है । प्राचीनकालमें आर्यों द्वारा इसके तट पर अनन्त यज्ञ होनेके कारण सरस्वती अत्यन्त पवित्र मानी जाती है । अनेक बार प्रत्यक्ष और अन्तरिक्ष रूपसे निकल और खोकर अन्तमें यह कच्छकी खाड़ीमें गिरती है । कवियोंने इसे भूमिके नीचे बहती माना है । ऋग्वेदमें इसके समुद्रमें गिरनेका उल्लेख है[6] परन्तु पीछेकी कथाएँ इसका खोकर प्रयागके पास गंगा और यमुनाके साथ संगम बनाना मानती हैं । कालिदास महाभारतका अनुकरण करते हुए लिखते हैं कि भारत युद्धके बाद बलरामने सरस्वतीके ही तटका सेवन किया[7] ।

शोणका निकास नर्मदाके उद्गमसे प्राय: ५ मील पूर्व अमरकंटकके पठारमें है । वहाँसे निकलकर शोण पहले उत्तर, फिर पूर्वकी ओर प्राय:

---

१ वही, ६, ४८ । २ वही, ६, ४८; १३, ५४-५७; मेघ० पू०, ५१; विक्रमो०, २, १४ । ३ रघु०, १३, ५४–५७ । ४ वही, ६१; १४, ३० । ५ वही, ८, ९५ । ६ मैक्सम्यूलर : ऋग्वेदसंहिता, पृ० ४६, टिप्पणी । ७ मेघ० पूर्व०, ४९ ।

५०० मील बहकर पटनाके पश्चिम गंगामें गिरती है। कालिदासने[1] इस संगमका भी उल्लेख किया है और साथ ही मगधकी राजधानी उस पुष्पपुर[2] (पाटलिपुत्र, पटना) का भी, जो कभी उस संगमपर खड़ा था। महाकोशी नैपालकी सातों कोसियों (मिलम्ची, सोन कोसी अथवा भोटिया कोसी, तम्बकोसी, लिखु कोसी, दूध कोसी और अरुण—पद्मपुराण, स्वर्ग, अ० १९; महाभारत, वन०, अ० ८४—) और तमार[3]की सम्मिलित धारा है। इन सात कोसियोंमेंसे तम्ब अथवा तमार और लिखु सोनकोसी में और बरुन अरुणकोसीमें गिरती हैं।[4] मालिनी सहारनपुर जिले और अवधमें बहती हुई अयोध्यासे प्राय ५० मील पहले घाघरामें गिरती है। इसीका मेगस्थनीजने 'एरिनेसेस' नामसे उल्लेख किया है। शकुन्तलाके धर्मपिता महर्षि कण्वका आश्रम इसी नदीके तटपर[5] हरद्वारसे लगभग ३० मील पश्चिम था। शतपथब्राह्मणमें[6] उसे नदपित् कहा गया है। लैसनके[7] अनुसार मालिनीका वर्तमान नाम 'चुका' है जो सरयूकी पश्चिमी शाखा है।[8]

मन्दाकिनी मूलतः गंगाकी ही एक भुजाका नाम था। बादमें हिमालयस्थित अन्य वस्तुओंकी ही भाँति इसका संबंध भी स्वर्गसे कर दिया गया। मन्दाकिनी गंगाकी उस भुजा अथवा मैदानोंमें उतरनेके पूर्व स्वयं गंगाकी ही इस प्रकार संज्ञा हुई। परन्तु कालीगंगा अथवा पश्चिमी काली अथवा मन्दागिन का नाम भी जो गढ़वालमें केदार पहाड़ोंसे निकलती है, मन्दाकिनी ही है। यह अलकानन्दाकी सहायक नदी है जो इस प्रकार गंगाकी भी हुई। मन्दाकिनीका उल्लेख कविने अनेक

१ भागीरथी शोण इवोत्तरंगः—रघु०, ७, ३६। २ वही, ६, २४। ३ महाभारत, वनप०, अ० ८४ का 'ताम्र'। ४ जे० ए० एस० बी०, १७, पृ० ६४४, नोट। ५ शाकुं०, पृ० २१, ८७; ३, ४। ६ १३, ५, ४, १३ (एस० बी० ई० ४४, पृ० ३९९)। ७ इ० एन०, २, पृ० ५२४; रामा० अयो०, अ० ६८। ८ वही।

स्थलोंपर—रघुवंश[1], कुमारसम्भव[2], विक्रमोर्वशीय[3] (गन्धमादन पर्वतसे होकर बहने वाली), मालविकाग्निमित्र[4] और मेघदूत[5]—किया है। विक्रमोर्वशीय और मेघदूतकी मन्दाकिनी प्रमाणतः एक ही है—अर्थात् पहाड़ोंसे नीचे उतरनेके पूर्व गंगा[6] अथवा अधिक सम्भावित अलकानन्दाकी मन्दागिन कहलानेवाली शाखा कालीगंगा। रघुवंशकी मन्दाकिनी बुन्देलखंडमें चित्रकूटके पाससे बहनेवाली पैसुनी (पयस्विनी) की सहायक नदी मन्दाकिन है। कालिदासने भी इसका चित्रकूटसे होकर बहना लिखा है (मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे)। पुष्पकविमान से देखनेसे मन्दाकिनी दूरीके कारण पर्वत (चित्रकूट) के पास कविको पृथ्वीके गलेसे लटकनेवाले मुक्ताहारकी भाँति लगी[7]। मालविकाग्निमित्रकी मन्दाकिनी निःसन्देह एक तीसरी नदी है, संभवतः दक्खन में बहनेवाली। यह नर्मदा भी हो सकती है क्योंकि अनेक बार स्थानीय नदीको विख्यात और पावन नदीका नाम प्राचीन भारतमें दिया गया है। इस सुझावकी पुष्टि इससे भी होती है कि मालविकाग्निमित्रके निर्णय-सागरवाले संस्करणमें 'मन्दइणीदीरे'[8] के स्थान पर 'णम्मदातीरे'[9] पाठ मिलता है।

तमसाका उल्लेख कविने कुल तीन बार—रघुवंशके सर्ग ९ में दो बार, (२०, ७२) और सर्ग १४ में एक बार (७६)—किया है। इनमेंसे पहले दोनों संकेत एक ही नदीके प्रति हैं। पहले प्रसंगमें दशरथका कीर्ति-वर्णन है जिसमें कहा गया है कि उसने सरयू और तमसाके तटोंको असंख्य सौवर्ण यूपोंसे सुशोभित कर दिया[10]। दूसरे प्रसंग में राजाके आखेटका वर्णन है। उस आखेटके लिए वह नदीके समानान्तर

---

१ १३, ४८। २ १, २९; २, ४४; ३, ६५। ३ मन्दाकिनी-तीरे—अंक ४, पृ० ८७। ४ काणेका सं० अं० १। ५ उत्तर०, ४। ६ मिलाइये कु०, २, ४४। ७ रघु० १३, ४८। ८ माल०, पृ० ६। ९ वही, काणेका संस्करण। १० रघ०, ९, २०।

जाकर फिर उसके तपस्वीसंकुल[1] तटपर जा पहुँचता है। यह तमसा अवधमें बहनेवाली सरयू (घाघरा) की टोंस नामकी एक शाखा है जो आजमगढ़से होकर बहती हुई बलिया (उत्तरप्रदेश) के पास गंगामें गिरती है। सरयूसे उसका प्रवाह प्राय: १२ मील पश्चिम है और बलियाकी पड़ोसमें उसका नाम सरजू हो गया है। तमसाका नाम वाल्मीकिके प्रारम्भिक जीवनसे सम्बद्ध है[2]। इस नदीका तीसरा उल्लेख सीता-निर्वासनके सम्बन्धमें है।[3] तमसाकी पहिचानमें एक कठिनाई है जो विशेषत: कविने ही उपस्थित कर दी है। तीसरे प्रसंगकी यह तमसा निश्चय टोंससे भिन्न है क्योंकि गंगा पार करनेके बाद उसका तट मिलता है[4]। अत: अयोध्या और गंगाके बीच अयोध्यासे थोड़ी ही दूर पर बहनेवाली टोंस यह तमसा नहीं हो सकती क्योंकि इस तक पहुँचनेके लिए दूरकी गंगाको पार करना नहीं पड़ता। फिर हमें टोंस नामकी तीन नदियोंका ही ज्ञान है—एक तो वह जिसका हवाला ऊपर दिया जा चुका है, दूसरी मध्य-भारतमें रीवाँकी टोंस[5] और तीसरी गढ़वाल और देहरादूनमें बहनेवाली टोंस[6]। इनमें तीसरीका सिरमूर सीमापर जमुनाके साथ संगम बड़ा पावन माना गया है जहाँ कार्तवीर्यार्जुनके पितामह और हयहय क्षत्रियोंके आदिपुरुष हयहय नामक वीरका जन्म हुआ था[7]। इन नदियोंमेंसे पहलीका तमसा होना तो जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है असम्भव है। इनमेंसे तीसरी टोंस जो जमुनाकी गढ़वाल में बहनेवाली सहायक नदी है वह अत्यन्त दूर होनेसे कई कारणोंसे सीताके निर्वासनका स्थल नहीं हो सकती। इसका पहला कारण तो यह

---

१ तपस्विगाढं तमसा—वही, ७२। २ रामा०, बालकाण्ड, अ० २। ३ रघु०, १४, ७६। ४ रघु०, १४, ५२ में गंगा पार की गई और तमसा पहुँची गई—, ७६ में। ५ मत्स्यपु०, अ० ११४; रामा० अयो०, कां०, अ० ४६। ६ कलकत्ता रिव्यू ५८ (१८७४), पृ० १९३। ७ देवीभागवत, ६, अ० १८–२३।

है कि सीताकी स्थिति गर्भके पिछले दिनोंकी है[1], दूसरा यह कि वह केवल विहारके लिए जा रही है जिसके लिए इतनी दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है, तीसरा यह कि उसकी यात्रामें रात्रि नहीं आती और उस दूरकी टोंस तक महीनों नहीं तो हफ्तों जरूर लगते, और अन्ततः इस कारण कि हमें उसके तट पर वाल्मीकिका आश्रम भी ढूंढ़ना है, जो रामायण[2] के अनुसार, और शायद रघुवंशके अनुसार भी कानपुरसे १४ मील-की दूरीपर बिठूर है जहाँ, "रामकी पत्नी सीताने निवास किया...." और "....लव तथा कुश नामक जुड़वे पुत्रोंका प्रसव किया। वाल्मीकि आश्रमके स्मारक स्वरूप मन्दिर गंगाके तटपर खड़ा है (रामायण, उत्तर०, अ० ५८४" ।[3] रघुवंशमें यह आश्रम लवणासुरको मारने अयोध्यासे मधुपघ्न[4] जाते शत्रुघ्नकी राहमें पड़ता है । मधुपघ्नको ग्राउजने वर्तमान मथुरासे पाँच मील दक्षिण-पश्चिम महोली[5] माना है । लवणको मारकर[6] शत्रुघ्न मधुपघ्नको नष्ट कर देता और उसके भग्नावशेषपर मथुरा[7] अर्थात् वर्तमान मथुराका निर्माण करता है । इस प्रकार यह नदी भी तमसा नहीं हो सकती क्योंकि मथुरा, जो वाल्मीकिके आश्रमके बाद इस प्रसंगमें मिलती है, गढ़वालमें बहनेवाली तमसासे बहुत इधर अयोध्याकी ओर छूट जाती है यद्यपि उसे गढ़वालकी तमसाके पार होना चाहिए था । अब केवल दूसरी नदी बच रहती है जो रघुवंश, १४,७६ की तमसा होनी चाहिये परन्तु इसे भी तमसा माननेमें कुछ आपत्तियाँ स्पष्ट हैं । यदि सीताकी गर्भावस्थाको देखते हुए और यात्रामें रात्रिका संकेत न होनेके कारण गंगा और अयोध्याकी दूरीके बावजूद भी हम यह मान लें कि लक्ष्मण और सीताने इलाहाबाद या बनारसके पास चित्रकूट या मिर्जापुरके पड़ोसमें पहुँचनेके लिए गंगाको पार किया

१ रघु० १४, २६, २७, ४५, ७१ । २ उत्तरकाण्ड अ० ५८ । ३ दे: ज्यो० डिक० पृ० २० । ४ रघु०, १५, १५—मार्गवशात्.... वाल्मीकितपोवने—वही, ११ । ५ मथुरा, ए० ३२, ५४ । ६ रघु०, १५, २४–२५ । ७ वही, २८ ।

तब भी हमको पहले तो इस बातपर ध्यान देना पड़ेगा कि वहां दोनों स्थानोंमें किसीके पास वाल्मीकि-आश्रम नहीं और दूसरे यह कि उस दशामें शत्रुघ्नको सीतासे मार्गमें मिलते हुए मधुपघ्न पहुँचनेके लिए एक अत्यन्त दूरके टेढ़े-मेढ़े मार्गका अवलम्बन करना पड़ेगा। इसके विपरीत अयोध्यासे मथुराका मार्ग सीधा पड़ता। और शत्रुघ्नको ऋषियोंकी लवणके[1] उपद्रवोंसे रक्षाके आवश्यक कार्यके लिए शीघ्रातिशीघ्र और कमसे कम दूरीवाले मार्गसे जाना है, इस बातका ध्यान रखते हुए कि राम-राज्यमें रक्षा धर्म राजाका पहला कर्तव्य है। अतः यह टोंस भी इस प्रसंगकी तमसा नहीं हो सकती। क्या यह सम्भव है कि इस सम्बन्धमें कालिदासका भौगोलिक ज्ञान भ्रममें पड़ गया है, अथवा क्या तमसा नामकी कोई और नदी बिठूरके बाद और गंगाके पड़ोसमें बहती थी जिसका प्राचीन नाम अब भुला दिया गया है? परन्तु इस दिशामें भी दूरीकी समस्या इस नदीकी सही पहिचानमें बाधक होगी।

सुरभितनया चम्बलका ही दूसरा नाम है। विन्ध्य पर्वतकी ऊँची भूमिमें जनपव[2] नामक पहाड़ियोंमें इसका उद्गम है। कालिदासने मेघदूतमें[3] उस पौराणिक विश्वासको फिरसे दोहराया है जिसमें रन्तिदेव-द्वारा गोमेधसे बहे गो-रक्तसे चर्मण्वतीकी उत्पत्ति मानी गई है। महाभारतमें यह कथा दी हुई है[4]। वेत्रवती भूपालकी बेतवा है जो यमुनाकी सहायक नदी है और जिसके तट पर प्राचीन विदिशा[5] आदि भिलसाके रूपमें खड़ी है। सिन्धु मालवाकी काली सिन्ध है जो महाभारतमें[6] दक्षिण सिन्धु कही गई है। निर्विन्ध्या बेतवा[7] और सिन्धके[8] बीच बहती है और चम्बलकी सहायक नदी है। निर्विन्ध्या मालवाकी काली सिन्ध[9] मानी गई है परन्तु यह पहिचान सही नहीं जान

१ वही, २। २ दे: ज्यो० डिक०, पृ० ४८। ३ मेघ० पूर्व०, ४५। ४ द्रोण पर्व०, अ० ६७। ५ मेघ० पूर्व०, २४। ६ वनपर्व, अ० ८२। ७ मेघ० पूर्व०, २४। ८ वही, २९। ९ जर्नल और बुद्धि० टैक्स्ट सोसाइटी, ५, पृ० ४६।

पड़ती क्योंकि काली सिन्धका उल्लेख कालिदासने स्वयं 'सिन्ध' में किया है[1] अतः निर्विन्ध्याका वर्तमान प्रतिनिधि नेवजको मानना पड़ेगा जो बेतवा और काली सिन्धके बीच बहती हुई चम्बलसे जा मिलती है। गम्भीरा मालवाकी सिप्राकी सहायक नदी है। गन्धवती सिप्राकी ही एक छोटी शाखा है जिसके तटपर महाकाल का विख्यात मन्दिर खड़ा है। सिप्रा मालवाकी वह विख्यात नदी है जिसके तटपर उज्जैन बसा है। यह चम्बलमें गिरती है और आज भी अपने प्राचीन नामको ही वहन कर रही है।

लौहित्य ब्रह्मपुत्र है जो कालिदासके अनुसार[2] प्राचीन प्राग्ज्योतिष (वर्तमान आसाम) राज्यकी पश्चिमी सीमा बनाती थी।

कपिशाको[3] पार्जिटरने कसई (कोसा) माना है जो बंगालके मिदनापुर जिलेमें होकर बहती है। यह एकीकरण सर्वथा सही है। कालिदासके[4] समय कपिशा उत्कल और कलिंगकी उत्तरी सीमा थी। प्राचीन ताम्रलिप्ति (वर्तमान तामलुक) इसी नदीके तटपर अवस्थित था।

सिन्धु और लौहित्यको छोड़ ऊपरकी सारी नदियाँ या तो स्वतंत्र नद हैं या उनकी सहायक धाराएँ और सभी गंगाके मैदान और मध्य-भारतके एक बड़े भागको सींचती हैं।

इसके विपरीत प्रायद्वीपकी नदियाँ विस्तृत पठारकी पहाड़ियोंसे निकलती हैं और मानसूनकी वर्षासे अपना जल पाती हैं। पठारके ढलावके कारण ये नदियाँ अधिकतर पश्चिमी घाटसे निकलकर पूर्वसागर अथवा बंगालकी खाड़ीमें गिरती हैं। कविने इनमेंसे निम्नलिखितका उल्लेख किया है : नर्मदा—रेवा अथवा गौतमी—वरदा, गोदावरी, कावेरी, ताम्रपर्णी और मुरला।

रेवा, जिसके नाम नर्मदा[5] और गौतमी[6] (जैसा ऊपर दिखाया

---

१ मेघ० पूर्व०, ३३। २ रघु०, ४, ८१। ३ वही, ३८। ४ वही। ५ वही, ५, ४२—४६। ६ शाकुं०, पृ० ४२।

जा चुका है मन्दाकिनी) भी है, अमरकंटकसे निकलकर खम्भातकी खाड़ीमें गिरती है। कालिदासने इसके जम्बू[1] और नक्तमाल[2] वृक्षोंके वनोंमें प्रवाहका वर्णन किया है। वरदा मध्यभारतकी वर्धा नदी है जो गोदावरीमें गिरती है। अग्निमित्रने विदर्भ जीतकर जब उसके दो राज्य बनाये तो उनकी सीमा यही वरदा नदी निर्धारित की।[3] गोदावरी का उद्गम ब्रह्मगिरिमें है। ब्रह्मगिरि नासिकसे २० मीलकी दूरीपर त्र्यम्बक नामक गाँवके पास है। कावेरी दक्षिण भारतकी प्रसिद्ध नदी है जो कुर्गके ब्रह्मगिरि नामक पहाड़में चन्द्रतीर्थके सोतेसे निकलती है। भवभूतिका कहना है कि कावेरी मलय पर्वतको घेरकर बहती है[4]। ताम्रपर्णीका स्थानीय नाम ताम्बरवरी है। ताम्बरवरी तिनेवलीकी चित्तारसे मिलकर ताम्रपर्णी बनती है। उसका उद्गम अगस्तकूट पर्वतमें है। ताम्रपर्णी अपने मोतियोंके लिए प्रसिद्ध है जिसका वर्णन कालिदासने उसके समुद्र-संगममें किया है[5]। नदी छोटी है परन्तु साहित्यमें पर्याप्त प्रसिद्ध है और पालमकोट्टा होती हुई पुनकैलके पास मनारकी खाड़ीमें गिरती है। कविने समुद्रपत्नी इस नदीके समुद्रसे समागमसे प्रसूत मुक्तानिधिका उल्लेख किया है जिससे उस धाराकी ख्याति सिद्ध है[6]। मुरलाकी पहचान कठिन है। दे ने भीमाकी सहायक नदी पूनाके समीप निकलनेवाली मुला-मुथा को ही मुरला माना है[7]। परन्तु यह पहिचान इसलिए असंगत जान पड़ती है कि यह नदी मालाबारके तट केरलसे होकर बहती है। दक्षिणका समस्त पश्चिमी तट तीन भागोंमें विभक्त है— (१) उत्तरी भाग डामनसे गोआ तक जिसे कोंकण कहते हैं, (२) दक्षिणी भाग केरल, और (३) दोनों नदियोंके बीचका कर्नाटकका तट।[8] इस प्रकार मुरलाको हमें केरल में ही ढूंढ़ना पड़ेगा क्योंकि कालिदासने इसका प्रवाह केरल प्रान्तमें ही

१ मेघ० पूर्व, २० । २ रघु०, ५, ४२ । ३ माल०, ५, १३ । ४ महावीरचरित, ५, ३ । ५ रघु०, ४, ५० । ६ वही । ७ ज्यो० डिक०, पृ० १३४ । ८ विद्यालंकार : भारतभूमि, पृ० ८४ ।

रखा है।[1] केरल मालाबार त्रावणकोरपर कनाडा[2]का सम्मिलित प्रान्त था जो दक्षिणमें कुमारी अन्तरीप और उत्तरमें गोआ तक फैला हुआ था। केरल नायरोंका देश है जिसे चेर[3] भी कहते हैं। वास्तवमें प्राचीन चेरका ही नाम कन्नड़ भाषामें पश्चात्कालीन केरल है।[4] अतः मुरला वर्तमान मुला-मुथा नहीं हो सकती और, यद्यपि प्रस्तुत सामग्रीसे हम उसकी यहाँ पहिचान नहीं कर पाते उसे हमें मालाबारके ही प्रदेशमें कहीं ढूंढ़ना होगा।

कालिदासने वंक्षु नामकी केवल एक अभारतीय नदीका उल्लेख किया है। इसे श्री पाठक[5] और श्री कृष्णस्वामी आयंगरने[6] प्रसिद्ध पामीरकी नदी आक्सस (आमूदरिया) माना है। जिस श्लोकमें इस नदीका नाम आया है वह इस प्रकार है—

"विनीताध्वश्रमास्तस्य वंक्षुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्॥" रघु०, ४, ६७।

"वंक्षुतीर पर लोट यात्राके श्रमको मिटाकर उसके घोड़ोंने अपने स्कन्धोंको कम्पित किया जिनके सटोंपर केसरके फूल सट गये थे।"

इस नदीके पहिचानमें कालिदासके ग्रन्थोंके अनुपम व्याख्याता मल्लिनाथने 'वंक्षु' के स्थान पर 'सिन्धु' का पाठ मानकर बाधा उपस्थित कर दी है। परन्तु कुछ महत्त्वपूर्ण नीचे दिये गये प्रमाणोंसे मल्लिनाथका यह पाठ अशुद्ध सिद्ध होगा। यह महत्त्वकी बात है कि रघुवंशकी ९ हस्तलिपियोंमेंसे अपनी टीकाओंके साथ ६ हस्तलिपियोंमें 'वंक्षु' (४में)

[1] रघु०, ४, ५४–५५। [2] रामा० किष्किन्धाकाण्ड, अ० ४१। [3] रैप्सन: एन्सेन्ट इण्डिया, पृ० १६४; इण्डियन क्वाइन्स, पृ० ३६; भंडारकर: हिस्ट्री आफ दि डैक्कन, ३। [4] हन्टर: इम्पीरियल गजेटियर आफ इण्डिया, ५, ५,—चेर। [5] इ० ए०, १९१२, पृ० २६५ से आगे; मेघदूत, भूमिका, पृ० ८। [6] इ० ए०, १९१९, पृ० ६५ से आगे।

अथवा 'वंक्षु' (रमें) पाठ है। इसलिए मल्लिनाथके 'सिन्धु' पाठके लिए कोई आधार नहीं रह जाता। इस भ्रामक पाठके स्वीकरणने उस महामति-के लिए कुछ असुविधाएँ भी उपस्थित कर दी हैं जिनको दूर करनेकी उसने असफल चेष्टा की है। उस पाठकी असंगतता इतनी स्पष्ट है कि यह विचार कर कि पाठक सिन्धुको स्वाभाविक ही पंजाबका प्रसिद्ध सिन्धु नद कहीं न समझ बैठे, मल्लिनाथने "कश्मीर देशमें बहनेवाली कोई सिन्धु नामकी नदी" लिखकर टिप्पणी की है (**सिन्धुर्नाम कश्मीरदेशेषु कश्चिन्नदविशेषः**)। वास्तवमें यह अशुद्धि उस श्लोकमें 'कुंकुमकेसरान्' पदके कारण मल्लिनाथसे हो पड़ी है। मल्लिनाथको सम्भवतः विदित न था कि कश्मीरके पड़ोसमें अन्यत्र भी कहीं केसरकी खेती होती है, और दाक्षिणात्य होनेके कारण कश्मीरकी जगत्प्रसिद्ध घाटीको ही उस महान् टिप्पणीकारने केसरका प्रसवक समझा। इस प्रसंगमें उसने अमरकोशका उद्धरण दिया है—"**अथ कुंकुमम्। कश्मीरजन्मा, इत्यमरः**" और इस प्रकार उस कोशमें कश्मीरके उल्लेखने उसे भ्रममें डाल दिया है। यदि मल्लिनाथने चेष्टा की होती तो उसी अमरकोशकी क्षीरस्वामी (ग्यारहवीं सदी ईस्वीका उत्तरार्ध) वाली टीकामें उसे बल्हीक अथवा वैक्ट्रिया नामक अन्य देशमें होनेवाली केसरका दूसरा नाम 'बाल्हीकम्' भी मिल गया होता। अपनी टीकामें उस शब्दका अर्थ करते हुए क्षीरस्वामीने रघुवंशकी रघुदिग्विजयसे वही श्लोक उदाहरणार्थ चुना है जो हमने ऊपर उद्धृत किया है और जिसका पाठ-भेद यहाँ विचार्य है। क्षीरस्वामीकी टिप्पणी इस प्रकार है:—**बल्हीकदेशजम् (बाल्हीकम्), यद्रघोरुत्तरदिग्विजये—दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्।**[1]" निश्चय मल्लिनाथसे प्रायः ३०० वर्ष पहले होनेवाला यह टीकाकार दिग्विजयकी उस घटना और उसके

---

१ ओका : क्षीरस्वामीकी अमरकोशकी टीकाका संस्करण पृ० ११०।

पारस्परिक इतिवृत्तके अपेक्षाकृत बहुत निकट है, दाक्षिणात्य टिप्पणिकार तो घटनासे प्रायः हजार वर्ष पीछेका है। बल्हीक देश अथवा बैक्ट्रियाको क्षीरस्वामीने उचित ही वंक्षु या वक्षुकी घाटी माना है। प्रो० पाठककी रायमें वंकू अथवा वक्कू उन्हींके प्राकृत रूप मात्र हैं। ये चारों शब्द उसी एक ही नदीके विविध नाम हैं। वल्लभ, जो बारहवीं सदीके पूर्वार्द्धमें अर्थात् मल्लिनाथसे प्रायः दो सदी पहले हुआ था, और जो कश्मीरका ही नागरिक था, इस प्रकारके भ्रममें न पड़ सका और उसने स्वाभाविक ही वंक्षु अथवा वंकूका प्रचलित पाठ अंगीकार कर लिया। उसे भले प्रकार ज्ञात था कि उसके देशके पड़ोसमें ही आमू दरियाकी वह प्रसिद्ध घाटी है जहाँ केसरकी क्यारियाँ फूलती हैं जिनके फूल रघुके तुरंगोंके सटोंमें भर गये थे। वल्लभने स्पष्ट ही वंकू अथवा वंक्षुकी व्याख्या की है—**वंकूनामनी नदी तस्यास्तीरे**।[१] अतः क्षीरस्वामी और वल्लभ दोनोंके सम्मिलित प्रमाणका निष्कर्ष यह है कि रघुने आक्सस्की घाटी बैक्ट्रियामें हूणोंको परास्त किया है।

इस नदीका आक्सस नाम ग्रीक भाषाका है। अब यह मानते हुए कि ग्रीकमें शब्दान्तका अक्षर 'एस' उच्चरित नहीं होता और 'ओ' 'व' का प्रतिनिधि होता है, औक्सस (OXUS) संस्कृतमें वक्षु और प्राकृतमें वक्कू स्वाभाविक ही बन जाता है। इस संबंधमें पाठकका सुझाव है कि द्वित 'क' अनुस्वारके भ्रमसे 'वंकू' रूप प्रस्तुत कर देगा। चीनी प्रमाण भी इसी धारणाकी पुष्टि करता है क्योंकि उसमें भी आक्सस जो वक्षुका ग्रीक रूप है पोचू या फोचू बन जाता है। पोचू और फोचूका भारतीय मूल वक्षु अथवा वक्कू है जो भ्रमवश वंक्षू अथवा वंकू रूपमें व्यवहृत हुआ है, इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देनेकी बात है कि सेन्ट पीटर्सबर्ग और सर मौनियर विलियम्स दोनोंके कोशोंमें वंक्षू अथवा वक्षूका अर्थ आक्सस दिया हुआ है। हमें यहाँ यह भी याद रखना होगा

१ **रघुवंश—स० स० पण्डितका संस्करण—नोट, पृ० ३।**

कि लिपिकार विदेशी नदीके स्थानपर भ्रमवश स्वदेशी नदीका उल्लेख कर सकता है और यह संभव नहीं कि यदि मूल कविने उसका संकेत न किया हो तो लिपिकार फिर भी मध्यएशियाकी एक नदीका उल्लेख अपनी हस्तलिपिमें कर दे। इससे 'सिन्धु' के स्थानपर 'वंक्षु'पाठ मानना ही संगत है।

अब वंक्षुकी पहिचान कर लेनेके बाद आक्ससकी सही स्थितिपर दो वाक्य लिख देना इसलिए आवश्यक है कि आक्सस बहुत बड़ी नदी है जो पामीरोंके समीपसे निकलकर मध्यएशियामें मन्थर गतिसे बहती अरल-सागरमें गिरती है। आक्ससकी अनेक भुजाएँ और सहायक नदियाँ हैं जिनमेंसे एक हमारी वंक्षु है। हमें उसे उस नदीकी ऊपरी भुजाओं—वक्शाब और अक्शाव—मेंसे एकको वंक्षु स्वीकार करना होगा। इन्हीं दोनों धाराओंके बीच अरब भौगोलिकोंका खुत्तल था जिसे तबरी हैतल कहता है[1]। अरबोंका यह वक्शाब ही जो आक्ससकी सबसे बड़ी सहायक नदी है कालिदासकी वंक्षु है[2]। इसीके पूर्व आक्ससके अर्ध-चन्द्राकार घुमावके बीच कश्मीरकी सीमापर परन्तु कराकोरमकी दूसरी ओर 'वखाँ' था। "सिन्धुके उपरले स्रोत तथा आक्सस और यारकन्द नदियोंके उद्गमके बीच पामीरके नीचे एक सँकरा भू-भाग है जो मध्ययुगमें तुर्किस्तान और तिब्बतके बीच यातायातका मार्ग था। बलखसे वक्शाबके लिए खुत्तलकी भूमिसे होकर पूरबकी ओरसे जाते थे[3], और यदि कालिदासके मनमें इस प्रदेशके किसी वणिक् पथकी बात थी तो रघुने निश्चय बलख तक पहले वही मार्ग पकड़ा होगा जो सिकन्दरने पकड़ा और तब बलखसे उत्तर-पूर्व घूम बदक्शाँ और वखाँ होते कम्बोजकी सीमा पार की होगी। उत्तर-पश्चिमकी

१ तबरी पुर जोलेनबर्ग, २, पृ० १२८। २ दि हुन प्रोबलम इन इण्डियन हिस्ट्री, इ० ए०, १९१९ पृ० ६९। ३ स्ट्रेंज : दि लैण्ड आफ दि ईस्टर्न कैलीफेट, परिच्छेद, दि आक्सस।

राह जो सुग्द अथवा ग्रीकोंके सोग्दियाना जाती थी उसे छोड़ देना पड़ा होगा[1]।"

वंक्षुको इस प्रकार अरबोंके वक्शाबमें पहिचान कर लेनेके बाद अब एक नई समस्या उपस्थित होती है और वह है आक्शसकी घाटीमें हूणोंके निवासकी पहिचान और बैक्ट्रियापर उनके निवाससम्बन्धी प्रश्न । परन्तु इनपर यथास्थान विचार किया जायेगा ।

संगम

कालिदासने कुछ नदियोंके संगमोंका बड़ा सजीव वर्णन किया है । उनके प्रति हम ऊपर संकेत कर आये हैं पर उनका स्पष्ट उल्लेख यहाँ समीचीन होगा । प्रयागका गंगा-यमुनाका संगम कविको विशेष प्रिय लगा है । रघुवंश[2], ६,४८, में उसने पहले उस संगमके प्रति छिपा संकेत किया है, फिर १३,५४-७५ में त्रिवेणीका हृदयग्राही वर्णन किया है । कविका विश्वास है कि इस संगमपर स्नान करनेसे अक्षय पुण्यका लाभ होता है और तत्त्वज्ञानके बिना भी स्नाताको फिर पुर्नजन्म नहीं होता ।[3] इस संगमका उल्लेख कविने मेघदूत[4] और विक्रमोर्वशीय[5] में भी किया है । विक्रमोर्वशीय वाले वर्णनमें तो संगमपर बसे एक नगर[6] का भी उल्लेख है । यह नगर पुरूरवाकी राजधानी प्रतिष्ठान अथवा वर्तमान झूसी था । अज और उसके शत्रुकी सेनाओंकी टक्करका वर्णन करते हुए कविको गंगा और शोणके पटनेसे प्राय: २० मील पश्चिम उस संगमका स्मरण हो आता है जहाँ शोणकी क्षुब्ध धारा गंगाके प्रशान्त जलमें लीन हो जाती है[7] । इसी प्रकार गंगा और सरयूके संगमका भी कविने वर्णन किया है । यह संगम बिहारमें छपराके पास है । कवि

---

१ दि हुन प्रोबलम इन इण्डियन हिस्ट्री, इ० ए०, १९१९, पृ० ६९ । २ गंगोर्मिसंसक्तजलेव । ३ वही, १३, ५८ । ४ यमुनासंगम, मेघ० पूर्व०, ५१ । ५ २, १४; पृ० २११ । ६ प्रविश्य नगरं... गंगा-यमुनयो: संगमे, वही, प० १२१ । ७ रघु०, ७, ३६ ।

अजका उदाहरण देता हुआ कहता है कि उस संगमपर मृत्यु मर्त्यको अमर बना देती है[१]।

कविकी उपमाओंमें और अन्यत्र जलप्रपातोंका[२] उल्लेख हुआ है। इस प्रकार के जलप्रपात हिमालयमें[३] अनेक थे और ऋतुसंहारमें तो उनसे भरे हुए पहाड़ों और पहाड़ियोंका हवाला कविने दिया ही है[४]। नीचे उनका उल्लेख किया जाता है।

जलप्रपात

कविने गंगाप्रपात[५] और महाकोशीप्रपात[६]का स्पष्ट उल्लेख किया है। इनको निश्चय रूपसे पहिचानना कठिन है। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि यह दोनों हिमालयके अन्तर्गत ही क्रमशः गंगा और महाकोशीके प्रवाहोंमें पड़ते थे। रामायणकी परम्पराके प्रतिकूल कविने हिमालयमें ही वशिष्ठका आश्रम रखा है[७]। हिमालयमें इस आश्रमकी पहिचान अत्यन्त कठिन है। इसी प्रकार महाकोशीप्रपातकी पहिचान भी सम्भव नहीं जान पड़ती। महाकोशी नैपालकी सातों कोशियोंकी सम्मिलित धारा है। यह सातों नदियाँ पहले तीन धाराओंमें मिलती हैं जो बादमें तमार, अरुन और सोन कोशीकी त्रिवेणी बनाती हैं। यह त्रिवेणी पुनियामें नाथपुरके पश्चिम वराह क्षेत्रके ऊपर है जहाँसे सम्मिलित कोशियों की धारा नीचेके मैदानोंमें उतरती है[८]। इस प्रकार महाकोशीको इस त्रिवेणीके पास कहीं होना चाहिए परन्तु कालिदासने इसे कैलाशकी पर्वतश्रेणीमें ही रखा है क्योंकि महाकोशी प्रपातके समीप ही शिव सप्त-

---

१ वही, ८, ९५, १४, ३। २ वही, २, १३, २६; ६, ६०; १३, ४७; १४, ३; कु०, १, १४, ६, ४३; ८, ३१; ऋतु०, २, १६। ३ रघु०, २, १३, २६; १४, ३; कु०, १, १५; ६, ३३। ४ ऋतु०, २, १६। ५ रघु०, २, २६। ६ कु० ६, ३३। ७ मिलाइये रघु०, २, २६। सारा दृश्य हिमालयका है। ८ जे० एस० ए० बी०; १७, पृ० ६३८, ६४७, पृ० ७६१ पर नक्शा।

ऋषियोंके लौटनेकी प्रतीक्षा करते हैं जो हिमालयके पास शिवकी ओरसे उसकी कन्या पार्वतीको माँगने गये हुए हैं[1] । और चूंकि सप्तऋषियोंने पहले कैलासपर ही शिवसे मिलकर उन्हें वहीं छोड़ा था, महाकोशी-प्रपातको भी उसके समीप ही कहीं होना चाहिए । फिर भी उसको सही सही पहिचानना कठिन है ।

चित्रकूट अपने जल-प्रपातोंके[2] लिए नव प्रसिद्ध था ।

पहाड़ोंपर और नीचेके मैदानोंमें सर्वत्र झीलोंकी बहुतायत थी । कविने अनेकोंके स्पष्ट अथवा सांकेतिक उल्लेख किये हैं[3] । ये पक्षियों और पद्मों[4] तथा जल-जन्तुओंसे[5] भरे थे । इनके लिए सर[6], सरसी[7], ह्रद[8] और पल्वल[9] शब्दोंका कविने प्रयोग किया है । तीन झीलोंका नाम उसने स्पष्टतः भी लिया है, वे हैं—मानस[10] जिसका दूसरा नाम ब्राह्मसर[11] भी है, पम्पा[12] और पञ्चाप्सर[13] ।

झील

मानस जो साधारणतः मानसरोवर कहलाता है हिमालयकी कैलास पर्वतश्रेणीमें है । यह हंसोंका अभीष्ट सरोवर है जहाँ वे मानसूनके आरंभमें नीचेके मैदानोंसे उड़कर चले जाते हैं[14] । मूरक्रोफ्ट लिखता है कि, "जब वर्षाकालमें बढ़ी हुई नदियोंका जल मैदानोंमें उनका आहार

१ कु०, ६, ३३ । २ धारास्वनोद्गारि, रघु० १३, ४७ । ३ वही, १, ४३, ७३; २, १६, १६; ३, ३; ६, २६, ८६; ७, ३०; ९, ५९; ११, ११; १३, २७, ३०, ४०, ६०; १९, ५१; कु०, ४, ३९; ८, ३२, ३५; मेघ० पू० २, ६२ । ४ रघु०, ६, ८६; १३, ६०; मेघ० पू०, ६२ । ५ रघु०, ७, ३० । ६ वही, ६, ८६; १३, ४०, ६० । ७ वही, १, ४३; ११, ११; कु०, ८, ३२ । ८ रघु०, १, ७३; ७, ३०; कु० ४, ३९ । ९ रघु०, २, १६; ३, ३; ९, ५९; १३, २७; १९, ५१; कु० ८, ३५ । १० रघु०, ६, २६ । ११ वही, १३, ६० । १२ वही, ३० । १३ वही, ३८-४० । १४ मेघ० पू०, ११ ।

ढक लेता है तब मानसके तटवर्ती चट्टानोंमें इन पक्षियोंको अभिमत आश्रय मिलता है"[1]। जन-विश्वास है कि इस झीलमें मुनहरे कमल खिलते हैं। स्वर्ण-कमलोंके खिलनेका कालिदासने दो दो बार[2] उल्लेख किया है। इसी प्रकार कविकी कल्पना है कि अलकाके यक्ष दीपके स्थानपर रत्नोंका उपयोग करते थे[3] और विद्याधरोंके बच्चे मन्दाकिनी-तटकी स्वर्णसिकतासे खेलते थे[4]। अतः यह स्वाभाविक है कि कविकी कल्पना असाधारण राजहंसों[5] और राजहंसियों[6]के रमण योग्य अस्वाभाविक कमलोंका भी वर्णन करे। कुछ असम्भव नहीं जो कवि मानसके पीताभ कमलोंकी ओर संकेत कर रहा हो जिनका वर्ण स्वर्णकी आभा रखता हो।

पम्पा बेलारी ज़िलेमें हम्पी नामक कस्बेके उत्तर पम्पा नदीके[7] समीप ही है। पम्पा नदी तुंगभद्राकी सहायिका है और अनागण्डी पहाड़ियोंसे लगभग ८ मील दूरके ऋष्यमूक पर्वतसे निकलती है[8]। पम्पासरका जल, कवि लिखता है, उन बेतोंसे ढका है जिनके भीतर वेगसे तैरनेवाले सारस दीख पड़ते हैं[9]। पञ्चाप्सरकी ठीक-ठीक पहिचान कठिन है। "छोटा नागपुर डिविजनके प्राचीन भग्नावशेषोंकी सूचीने इस ह्रदको उदयपुरकी रियासतमें रखा है। कापू बन्धनपुर बंजीअम्बा और पोनरी इस सूचीके अनुसार पञ्चाप्सरके तटपर ही अवस्थित हैं। परन्तु यह एकीकरण भ्रमपूर्ण जान पड़ता है। पञ्चाप्सर वस्तुतः पञ्चवटीके उत्तर-पूर्व अगस्त्याश्रमसे काफी दूर होना

---

१ जर्नी टु मानसरोवर, दि एशियाटिक रिसर्चेज, १२, पृ० ४६६। २ रघु०, १३, ६०; मेघ० पू०, ६२। ३ रत्नप्रदीपाः, मेघ० उ०, ५"। ४ कनकसिकता, वही; ४। ५ मेघ० पू० ११। ६ रघु०, ८, ७५। ७ विलसन : उत्तर रामचरित; रामा० किष्कि० काण्ड, अ० १। ८ बोम्बे गजेटियर, १, पृ० २, पृ० ३६९—डा० फ्लीट की डाइनेस्टीज आफ दि कनरीज डिस्ट्रिक्ट्स। ९ रघु०, १३, ३०।

चाहिए। पञ्चवटी साधारणतः नासिक माना जाता है और कालिदासके अनुसार आश्रम पञ्चवटीके भीतर ही था[1] जो था तो नासिक[2] से २४ मील दक्षिणपूर्व अगस्तपुरी होगा अथवा नासिकसे पूर्व अकोल्हामें[3] अगस्त्याश्रमके बाद काफी दूरपर और इसी कारण मेघाच्छन्न पूर्णचन्द्र[4]की भाँति दीखता हुआ पञ्चाप्सर था। पञ्चाप्सर इस प्रकार निश्चय पञ्चवटी अर्थात् नासिक और चित्रकूट[5] के बीच कहीं रहा होगा। इसकी अधिक सम्भावना पञ्चवटीके पास होनेकी है क्योंकि कविने इस झील और चित्रकूटके बीच पड़नेवाले कुछ स्थानों[6]का वर्णन किया है। हमें यह न भूलना चाहिए कि पञ्चाप्सर नासिक अथवा अगस्त्याश्रमसे दीख जानेवाली दूरीपर ही अवस्थित था जिससे वह वहाँसे बहुत दूर नहीं हो सकता था। छोटा नागपुर डिविजन के प्राचीन भग्नावशेषोंकी सूचीकी पहिचान इस कारण ग्राह्य नहीं हो सकती कि तब यह झील पञ्चवटी और चित्रकूटके बीच न पड़कर चित्रकूट स्वयं पञ्चवटी और उसके बीच पड़ जायेगा। और विमानतकके लिए छोटा नागपुरकी ओरसे होकर नासिकसे अयोध्याका मार्ग अत्यन्त टेढ़ा और अस्वाभाविक पड़ेगा। भागवत[7] पञ्चाप्सरका दक्षिण भारतमें होना मानता है और चैतन्यचरितामृत[8] गोकर्णमें और श्रीधर स्वामी[9] मद्रास प्रान्तके फाल्गुन अथवा अनन्तपुरके पास जो बेलारीसे ५६ मील दक्षिण-पूर्व है। परन्तु इन स्थानोंमेंसे कोई भी पञ्चाप्सरकी सही स्थिति नहीं माने जा सकते क्योंकि वे सब ही गोदावरीके दक्षिण पड़ते हैं और उस झीलको वास्तवमें पड़ना गोदावरीके उत्तर चाहिए क्योंकि पुष्पकने नासिक से ही उत्तर-पूर्वी राह ले ली थी[10]। इस सरका वर्णन कविने रामायणकी

---

१ वही ३५–३७। २ ज्यो० डिक०, पृ० २। ३ रामा०, अरण्य०, अ० ११। ४ रघु०, १३, ३८। ५ मिलाइये वही, ३४–४७। ६ वही, ४१; शरभंग. . . .तपोवनं, ४६। ७ दश०, अध्या० ७९। ८ ज्यो० डिक०, पृ० १४७ पर दे द्वारा उद्धृत। ९ वही। १० रघु०, १३, ३४–४७।

परम्पराके अनुकूल किया है। वह भी उसीकी भाँति उसे सातकर्णी[1] ऋषिका आमोद-ह्रद माना है। सातकर्णी दर्भका आहार करते थे जिन्हें इन्द्रकी अप्सराओंने अपने आकर्षण-पाशमें बाँध लिया था[2]। कहते हैं कि महर्षि सातकर्णीका प्रासाद उस सरोवरके जलके नीचे था जहाँसे निरन्तर गान और वाद्यकी ध्वनि निकलती रहती थी[3]। कहना न होगा कि यह संकेत सर्वथा पारम्परिक और काल्पनिक है।

सागर

भारत दक्षिण, पश्चिम और पूर्व तीन ओरसे उसी प्रकार समुद्रोंसे घिरा है जिस प्रकार उत्तरमें पर्वतश्रेणीसे। कविने समुद्रों और सामुद्रिक वस्तुओंके[4] अनेक उल्लेख किये हैं। समुद्र सम्बन्धी उपमाओंकी कालिदास के ग्रन्थोंमें भरमार है। कविने समुद्रके अनेक पर्यायोंका प्रयोग किया है जिससे उस कालकी सामुद्रिक सक्रियताकी प्रभूतता ध्वनित है। सामुद्रिक जलविस्तारके समान अर्थमें कालिदासने निम्नलिखित और अन्य पर्यायोंका उपयोग किया है:—समुद्र[5], सागर[6], अर्णव[7], महोदधि[8], अम्बुराशि[9], तोयनिधि[10], रत्नाकर[11], पयोधि[12]। इसके अतिरिक्त कविने सामुद्रिक जीवों और बड़वानलका भी उल्लेख किया है।[13] समुद्र-तटके तालवनों[14], खजूरों[15], सुपारी-वृक्षों[16] और नारिकेल-तरुओं[17]का विशद वर्णन कविने किया है। इसी प्रकार समुद्रका पूर्णचन्द्रके दर्शनसे आकृष्ट होकर ज्वार-भाटा उठाना भी कविके ग्रन्थोंका वर्ण्य है[18]।

---

१ वही, ३६। २ वही, ३९। ३ वही, ४०। ४ निधानगर्भा, वही, ९। ५ वही, २, ३; ३, २८; १३, १४; कु०, ८, ९१; शाकु०, पृ० २३७, आदि। ६ रघु०, १, २; ३, ९; ४, ३२। ७ वही, ४, ५, ३; ६, ५६, ६३। ८ वही, ३, १७। ९ वही, ६, ५७; १३, २। १० कु०, १, १। ११ रघु० १३, १। १२ वही, १७। १३ कु०, ८, ९१; रघु०, १३, ४। १४ रघु०, ४, ५६; १३, १५। १५ वही, ४, ५७। १६ वही, ४४; १३, १७। १७ वही, ४, ४२। १८ वही ३, १७।

बंगालकी खाड़ी और अरबसागरका उल्लेख क्रमशः पूर्वसागर[1] और पश्चिम सागर[2] कहकर हुआ है। दक्षिणका हिन्दमहासागर, जिसका उत्तरी भाग पूर्वमें बंगालकी खाड़ी और पश्चिममें अरब सागर बन जाता है, का भी विशद वर्णन कविने किया है। यह अभिराम दृश्य रघुवंशके तेरहवें सर्ग (१–१८) में प्रस्तुत है और नीचे उसका उद्धरण देना अनुचित न होगा।

नदियोंके मुहानोंपर ह्वेलमच्छ जबड़ेदार अपने मस्तकके रन्ध्रसे जल-जन्तुओंके साथ जलकी धारा वेगसे ऊपर फेंकते हैं[3]। मातंगनक्र समुद्रके फेनको जलकी सतहपर सहसा उछलकर दो भागोंमें विभक्त कर देते हैं और इस प्रकार वह फेन उनके गण्डस्थलोंसे लगकर उनके चमरोंका रूप धारण करते है।[4] शंखोंके झुण्ड तरंगोंकी शक्तिसे जब प्रवाल-संघातसे टकरा जाते हैं तब बड़ी कठिनाईसे वे उनसे छूटकर लौट पाते हैं[5]। तमाल और तालीवनोंके प्रसारसे श्याम और दूरीके कारण तनु रेखा-सा दीखनेवाला फेनिल समुद्रका तट ऐसा लगता है जैसे लौहचक्रके हाशियेपर लगा हुआ मोर्चा[6]। समुद्रके तटपर उन सीपियों-द्वारा फेंकी हुई मुक्ता-राशि बिखरी पड़ी है जिन्होंने तट पर अपना तन खोल दिया है और जहाँ पूग वृक्ष अपने फलोंके भारसे झुक गये हैं[7]।

अन्तिम श्लोक मोतियोंके विख्यात उद्गम ताम्रपर्णीके मुहानेका वर्णन करता है। सामुद्रिक जीवों और उनके स्वभावका इतना सफल वर्णन कविकी साक्षात् अनुभूतिका द्योतक है।

ऋतु [जलवायु और वर्षा]

यहाँ ऋतुओं—जलवायु और वर्षा आदिके कविकृत प्राकृतिक वर्णनका कुछ हवाला दे देना समीचीन होगा। ऋतुसंहारमें भारतकी षड्ऋतुओंका

---

१ पूर्वसागर, रघु०, ४, ३२; पूर्वापरौ तोयनिधि, कु०, १, १; मिलाइये शाकु०, पृ० २३७। २ कु०, १, १; शाकु०, पृ० २३७; सह्यलग्न इवार्णवः, रघु०, ४, ५३। ३ रघु०, १३, १०। ४ वही, ११। ५ वही, १३। ६ वही, १५। ७ वही, १७

वर्णन हुआ है जो सजीव और साक्षात् है। कविने अपने और प्रकृतिके बीच घनिष्ठ एकता स्थापित कर ली है और प्रकृति जैसे अपने आमोद और रहस्य सविस्तर उसके सम्मुख खोलती जाती है। कविके प्रकृति-वर्णनमें मानव भावुकता है। डा० कीथ ऋतुओंके वर्णनसे प्रभावित होकर लिखते हैं कि, "ऋतुएँ निःसन्देह भारतकी है, विशेषतः हिन्दुस्तान की। दृश्य उस खुले जीवनके हैं जो उस कालके विद्वान् ब्राह्मण बिताते थे और जो वनोंके हैं। शाकुन्तलमें इन दृश्योंका प्रभूत वर्णन है। कवि, अंग्रेज कवि टौमसनकी भाँति कठिन सर्दीके वर्णनके लिए शीतकटिबन्ध अथवा ग्रीष्मकी भीषणताके लिए उष्ण कटिबन्धमें नहीं घूमता बल्कि इस संबंधमें केवल अपनी देशी ऋतुओंके दृश्य खींचता है।"[1] कविके वर्णनसे भारतकी जलवायु और वर्षा आदिपर भी प्रकाश पड़ता है। षड्ऋतुओंके नाम निम्नलिखित हैं:—

(१) निदाघ काल[2], अर्थात् ज्येष्ठ और आषाढ़ (जून और जुलाई) की ग्रीष्म ऋतु।

(२) वर्षा-काल[3]—श्रावण और भाद्रपद (अगस्त और सितम्बर)।

(३) शरत्[4]—(पतझड़)—आश्विन और कार्तिक (अक्टूबर और नवम्बर)।

(४) हेमन्त[5]—मार्गशीर्ष और पौष (दिसम्बर और जनवरी)।

(५) शिशिर[6]—माघ और फाल्गुन (फरवरी और मार्च)।

(६) वसंत[7]—चैत्र और वैशाख (अप्रैल और मई)।

(अंग्रेजी महीनोंके नाम संस्कृत मासोंके निकटतम द्योतक हैं।)

नीचे कवि द्वारा ऋतुसंहारमें किया संक्षिप्त ऋतुवर्णन है:—

---

१ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर। २ ऋतु०, १, १। ३ वही, २, १। ४ वही, ३, १। ५ वही ४,। ६ वही, ५, १। ७ वही, ६, १।

निदाघ कालमें सूर्य भीषण तापसे प्रखर हो उठता है।[१] चन्द्रमा अभिराम[२] और संध्या सुखद हो आती है[३]। लोग वारियन्त्रों (फव्वारों)[४] विभिन्न रत्नों[५], पुष्पहारों[६], और चन्दन-लेप[७]से अभिराम चन्द्र-सेवित निर्मल रजनी में शीतलता लाभ करते हैं[८]। निरन्तर पसीनेसे आक्रान्त रहनेके कारण मोटे वस्त्रोंको छोड़ महीन काषायकी शरण लेनी पड़ती है[९]। चन्दनजलसे सिक्त[१०] विजनोंसे लोग गर्मीका अपशमन करते हैं। आँधी निरन्तर बवण्डरके स्तम्भ खड़ी करती रहती है[११]। जल सर्वथा सूख जाता है[१२]। यद्यपि यह-वर्णन ऊँचे पर्वतीय स्थानोंको छोड़ भारतके प्रायः सारे भागोंके सम्बन्धमें सही है, तथापि यह मध्य भारतके लिए सर्वाधिक उपयुक्त है।

निदाघ काल

वर्षाकाल गरजते और चमकते[१३] काले मेघोंको लेकर आता है जो जलके बोझसे झुके हुए हैं[१४]। घासोंके मैदान लहलहा उठे हैं[१५] और इन्द्रगोपोंसे[१६] भूमि ढक गई है। वन प्रान्त नई हरियालीसे दमक रहे हैं[१७]। विन्ध्यकी उपत्यका नये पत्तोंवाले वृक्षों और हरी घासोंसे भर गई है[१८]। कमलोंके फूल और पत्ते झड़ गये हैं[१९]। पर्वत जल-प्रपातोंसे भरे हैं[२०] और नित्य वर्षासे पूरित नद प्रबल धाराओंसे[२१] समुद्रकी ओर दौड़े जा रहे हैं। हंस मृणालतन्तुओंका पाथेय लिये कैलासमें मानसकी ओर उड़ चले हैं[२२]।

वर्षा काल

---

१ वही, १, १। २ वही। ३ वही। ४ वही, २। ५ वही। ६ वही। ७ वही। ८ वही। ९ वही, ४। १० वही, ८। ११ वही, १०। १२ वही, २२, २३, आदि। १३ वही, २, १। १४ वही, ३, १९। १५ वही, ८। १६ वही, ५। १७ वही, ५, ८। १८ वही ८। १९ वही, १४। २० वही, १६। २१ वही, ७। २२ वही २३।

वर्षाऋतुमें निम्नलिखित पौधों और फूलोंकी बहुतायत होती है:—केतकी[1], कन्दली[2], बकुल[3], मालती[4], यूथिका[5], कदम्ब[6], सर्ज[7] और अर्जुन[8]। दृश्य स्पष्टत: मध्यभारतका है[9]।

शरत्

शरत्‌ऋतुके आगमनसे वायु शीतल हो जाती है, मेघोंके लोपसे दिशाएं प्रसन्न हो उठती हैं, जल निर्मल हो जाता है, कीच सूख जाता है, आकाश निर्मल चन्द्र वहन करता है और नक्षत्रोंसे चमक उठता है[10]। दिनमें आकाश भूरा-नीला[11] लगता है, बादल रजतकी[12] भाँति जहाँ-तहाँ श्वेत दीखते हैं और रात्रि असंख्य जगमगाते तारोंसे चमक उठती है, चन्द्रमा मेघोंसे स्वतंत्र हो जाता है और चन्द्रिकाका निखार नित्य बढ़ता जाता है[13]। वन पुष्पित सप्तच्छद वृक्षोंसे[14], उपवन मालती लताओंसे[15] और खेत पके धानोंसे[16] ढक जाते हैं। ह्रद मदमत्त हंसों और श्वेत तथा नीले पद्मोंके योगसे नई सुन्दरता धारण करते हैं[17]। ओस गिरने लगती है[18]।

कवि कहता है कि दिग्विजयीकी यात्राके लिए शरत् विशेष उपयुक्त होता है। भारवाही पशु, विशेषकर पुंगव, उत्साहसे भरे होते हैं, युद्ध-गज मदमत्त होनेके कारण रणके लिए विशेष तत्पर होते हैं, और नदियाँ जल सूखने तथा मार्ग कीच सूख जानेके कारण सेनाओंके यातायातमें सहायक होते हैं[19]।

शरत् ऋतुके सहायकोंमें कविने निम्नलिखित नाम गिनाये हैं:—सप्तच्छद[20], कोविदार[21], बन्धुजीव[22], बन्धूक[23], कंकेलि[24],

१ वही, १७, २०। २ वही, ५। ३ वही, २४। ४ वही,। ५ वही। ६ वही, १७, २०। ७ वही, १७। ८ वही। ९ विन्ध्यके प्रति अनेक संकेत और उल्लेख—मिलाइये ऋतु०, २। १० ऋतु०, ३, २२, २३। ११ वही, ५। १२ वही, ४। १३ वही, ७। १४ वही, २। १५ वही। १६ वही, १। १७ वही, २। १८ वही, १६। १९ रघु०, ४, २२—२३। २० ऋतु०, ३, २, १३। २१ वही, ६। २२ वही, २४। २३ वही, ५, २५। २४ वही, १८।

काश[1], शेफालिका[2], श्यामा[3], मालती[4], कलमा[5] और शालि[6], विविध प्रकारके कमल[7] और सारस[8]।

हेमन्तका समुदय नवांकुरों और पके अन्नोंके साथ होता है[9]। कमल नष्ट हो जाते हैं, पहाड़ोंपर बर्फ[10] और मैदानोंमें प्रभूत ओस गिरने लगती है[11]। इस ऋतुमें लोध्र[12], प्रियंगु[13], और कदम्ब[14] फूलते हैं, धान[15] कटते हैं और क्रौंच[16] विचरते हैं।

हेमन्त

शिशिरमें पृथ्वी धान और ईखके पौधोंसे ढक जाती है और क्रौंच पक्षियोंकी ध्वनिसे प्रतिध्वनित होती रहती है[17]। लोग घरोंके वातायन बन्द कर अन्तरङ्ग और अग्निका सेवन करते हैं, भारी वस्तु धारण करते हैं, सूर्यकी किरणें प्रिय हो जाती हैं[18]।

शिशिर

वसंतका आगमन आम्रमञ्जरियों और भ्रमरावलियोंके साथ होता है[19]। इस ऋतुमें चराचर सौन्दर्य धारण करता है। वृक्ष पुष्प धारण करते हैं, सरोवर कमल वायु गन्धवाही हो उठती है, सन्ध्या मनोरम और दिवस अभिराम लगते हैं[20]। ओस रुक जाती है[21]। शिलाखण्ड शैलेयसे ढक जाते हैं[22]। "पुंसकोकिल आम्रमंजरीके काषाय स्वादसे प्रमत्त हो प्रियाको चूमता है; भ्रमर भी इसी प्रकार प्रेयसीका अभिमत साधता है[23]"। प्रयाल[24] और किंशुक[25]

वसन्त

१ वही, १, २, २६। २ वही, १४। ३ वही, १८। ४ वही, २, १८, १६। ५ वही, ५। ६ वही, १, १६, १६। ७ वही, १५। ८ वही, १६। ९ वही, ४, १। १० वही। ११ वही, ७। १२ वही, १। १३ वही, १०। १४ वही, ६। १५ वही, ४, १, ८। १६ वही, ८, १८। १७ वही, ५, १। १८ वही २। १९ वही ६, १। २० वही २। २१ वही २२। २२ वही २५। २३ वही, ६ १४। २४ कु० ३, ३१। २५ ऋतु०, ६, १६, २०, २८।

फूलते हैं और अतिमुक्तलता[1] कलियोंका नवीन वसन धारण करती है। वसंत ऋतुके सहचर हैं :"कोकिलके रव, दक्षिण पवन, आम्रमञ्जरियाँ, रक्ताशोक, कुरबकके श्याम, श्वेत और रक्त कुसुम, तिलक-पुष्प और भ्रमर"[2]। इसी काल माधवी (वासन्ती) फूलती है। इस ऋतुमें इसका निकुञ्ज फूलोंसे लद जाता है और उनके गुच्छे स्तबकोंका रूप धारण करते हैं[3]। कोकिल और भ्रमरके प्रणयकी ओर संकेत करनेसे कविका अभिप्राय है कि न केवल मानव जाति वरन् अखिल सृष्टि इस काल प्रणय-द्वारा प्रभावित हो उठती है[4]। वसन्त प्रकृतिको नवजीवन और आनन्द प्रदान करता है।

ऋतुओंके इस वर्णनसे प्रकट हो जायगा कि ग्रीष्म और शीत दोनोंकी भीषणता प्रचुर थी और वर्षा बहुत होती थी। जब-तब मैदानोंमें करका-पात[5] और पर्वतोंमें तुषारपात[6] होते थे।

मेघ

कालिदासने मेघोंका काफी वर्णन किया है। मेघदूतमें नायकका सन्देश उसकी पत्नीके पास मेघ ही दूत बनकर वहन करता है। उसे कविने धूआँ, प्रकाश, जल और वायुका संघात माना है[7]। मेघोंके दो विशेष प्रकार—पुष्कर और आवर्तक—दिये हुए हैं[8]। यक्ष पुष्करा-वर्तक मेघ द्वारा ही अपना स्निग्ध संदेश प्रियाके पास भेजता है। इसके अतिरिक्त मेघके विभिन्न स्वभावोंका उल्लेख भी कालिदासके ग्रन्थोंमें हुआ है। इन्द्रधनुष[9] मेघगर्जन[10], विद्युद्दीप्ति के[11] साथ ही करका[12] और तुषारपातके[13] भी उल्लेख महाकविने किये हैं।

१ वही, १७। २ वही, २८; माल०, ३, ५। ३ शाकुं०, पृ० २००। ४ ऋतु०, ६, २, १४। ५ करकावृष्टिपात, मेघ० पू०, ४४। ६ ऋतु०, ४, १, १८। ७ धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः, मेघ० पूर्व०, ५। ८ वही, ६। ९ वही, १५; ऋतु०, २, ४। १० मेघ० पू०, ९; उत्तर, १। ११ मेघ० उ०, १; ऋतु०, २, १, ४, ११। १२ मेघ० पू०, ५४। १३ ऋ०, ४, १, १८।

अध्याय २

वनस्पति और जन्तु

आज भारतकी जन-संख्या बहुत बढ़ गयी है और देशके अधिकांशमें मानवका निवास है। मनुष्यने जंगलोंको बहुत कुछ साफ़ कर डाला है।

वनस्पति

गंगाकी घाटीमें, जहाँ वनस्थलियोंकी भरमार थी, अब कुछ एक वन-खण्ड बच गये हैं। किंतु पार्वत प्रदेशों और कम घनी-आबादीवाले भागोंमें अभी भी प्रचुर प्राकृतिक जंगल विद्यमान हैं। कालिदासके ग्रन्थोंके अध्ययनसे ऐसा लगता है कि देश अरण्यों(वनों[1]) की विस्तृत शृंखलाओंसे भरा था। इन जंगलों और सुविन्यस्त उद्यान तथा पुष्प-वाटिकाओंके पौधोंकी चर्चा अगली पंक्तियोंमें की गयी है।

उद्भिद्-जीवन कई वर्गोंमें विभक्त किया जा सकता है——छोटे-बड़े सभी वृक्ष[2], झाड़, ओषधियाँ[3], लतिकाएँ (लता[4], वल्ली[5]) या पृथ्वीपर पसरनेवाली लतर (प्रतानें[6]), लम्बी और छोटी घास[7], जल-पृष्ठपर तैरनेवाले जलीय पौधे या नदी-कूल या सरोवर और तालावकी कीचमें नरकटकी तरह उपजनेवाले।

---

१ रघु०, १, ३, ४, ५, ६, ११; १२, १३, १४, १५, १६; कुमा० १, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, मेघ० पू०, और ५; ऋतु०, शाकु० १, २, ३, ७, विक्र०; माल०, ५। २ मेघ० पू०, ८, मेघ० पू० २३; कुमा०, २, ३५, ३६; रघु०, १४, ३०। ३ रघु०, १, ४५; ५, ६९। ४ वही, ४, ७५; ८, ५४, ९, ७०, १०, ६६, १२, ६१, १४, ८०; कु०, १, १०, ३०, ६, ३८, ४३। ५ रघु०, २, ८, ३, ७, ६, ६४, शाकु०, १, १४, वही, पृ० २७। ६ रघु०, ६, ६४; १२, ६१। ७ वही, २, ८। ८ वही ५, ५, ९; ऋतु०, १, २५।

विभिन्न राजकीय प्रान्तों और जल-वायुके साथ वृक्षोंको संबंधित किया गया है। उनके कई समुदाय हो सकते हैं, हिमालयकी अधित्यकामें उगनेवाले, शुष्क पठार, पर्वत और समतलकी उर्वर भूमिमें उत्पन्न, सागर-तटके तरु और दक्षिणके मलाया प्रदेशके जांगल वृक्ष।

ओषधि शब्दका प्रयोग साधारण[1] और विशिष्ट, दोनों अर्थोंमें हुआ है। साधारण अर्थमें छोटे पौधोंके लिए। विशिष्ट अर्थमें पहले वे वनस्पतियाँ आती हैं जो, कविकी दृष्टिमें, प्रकाशयुक्त हैं और जो अपने पड़ोसको अपनी अतैल विभासे[2] विभाषित कर देती हैं, और दूसरी हैं वे जड़ी-बूटियाँ, जिनमें दवाके गुण हैं—रोग-निवारक[3] (संजीवनी) हों या मारक। विष-वल्ली[4] एक विषैली लता है। महौषधिका[5] अर्थ है संजीवनी, पुनर्जीवित करनेवाली। यह वनस्पति मृतकको पुनर्जीवन देनेवाली समझी जाती थी। अपराजिता[6] भी एक विशिष्ट बूटी थी जो अभिमंत्रित गुटिकाके रूपमें कलाई अथवा भुजापर आगन्तुक अनिष्ट[7] से रक्षाके लिए बाँधी जाती थी। ये अवश्य दूसरे वर्गमें रखी गयी होंगी। सुश्रुतके अनुसार ओषधियाँ वे वनस्पतियाँ हैं जो फलनेके[8] बाद नष्ट हो जाती हैं। सामान्य भावमें औषधियाँ वे बूटियाँ हैं जिनमें फूलके बाद या बिना फूलके ही फल लगते हैं और फलोपरान्त जो मुरझा जाती हैं। कारकके टीकाकार चक्रपाणिने ओषधियोंके दो उपवर्ग किये हैं, (१) सांवत्सरिक अथवा एकसाला फलनेवाला पौधा और (२) ऐसे पौधे जो अपनी पूरी बाढ़के बाद, बिना फले ही, दूर्वा[9] की तरह मुरझा जाते हैं।

---

१ रघु०, ४.७५, ८.५४, १.७०, १०.६६; कुमा०, १.१०। २ रघु०, ४.७५; कुमा० १०। ३ महौषधि रघु०, १२, ६१। ४ वही (विषवल्ली)। ५ वही,। ६ शाकु०, पृ० २४९। ७ वही। ८ सूत्रस्थान, १—३६—३७;। मिलाकर, वही, २३। ९ मजुमदार : उपवनविनोद, पृ० ११।

हमें प्रलताका[1] एक ओर लताके[2] अनेक प्रसंग मिलते हैं। डंठल-वाली लताएँ दो प्रकारकी हैं—तेजीसे फैलनेवाली, और जड़ फेंकती बढ़नेवाली। मनुसंहिताके[3] अनुसार जो लताएँ किसी वृक्ष या अवलम्बसे लिपटती हुई उसपर चढ़ती हैं, वे वल्ली हैं और जो भू-पृष्ठपर फैलती हैं, वे प्रतान। सुश्रुत[4] एक तीसरी रसीली गुल्मिनीको भी जोड़ता है।

पर्वतके ऊपर बढ़नेवाले वृक्षोंमें कविने देवदारु[5], सरल[6] और भूर्ज[7] के नाम लिये हैं। देवदारु देवदार है। यह हिमालयका विशाल चीड़ है। युक्तप्रान्तीय जंगलोंका डिपुटी कान्जरवेटर एफ० सी० फोर्ड रावर्टसन कहता है, "इसी ऊँचाईपर, जो अनुमानतः ५००० से ८५०० फीटके बीच है, अपने विनीत साथी नील-चीड़ कैलके साथ खड़ा हिमवान्का पवित्र वृक्ष शोभा-सम्पन्न देवदार आपको मिलेगा। दोनोंकी लकड़ियाँ उपयोगकी दृष्टिसे समान हैं, किन्तु देवदार अपने अधिक टिकाऊपनेके कारण अधिक आदर और सम्मानका पात्र है। दुर्भाग्यसे ये उत्तर-पश्चिम (विशेषकर चक्रतकी[8] ओर) के केवल एक अतीव छोटे सीमित क्षेत्रमें ही उपजते हैं।" देवदारकी चर्चाके सिलसिलेमें श्री फोर्ड रावर्टसनका कालिदासके रघुवंशकी उक्तिकी ओर संकेत करना कितना भावमय है—"देखो, वह देवदार है, शिवसे पुत्रीकृत है। जिस प्रकार उमाका स्तन-पान कर कार्त्तिकेय स्कन्द पुष्ट हुए थे उसी प्रकार उन्होंने हेम-कुम्भ[9] के गम्भीर हृदयसे उद्गीर्ण सुधारससे सींचकर इसको लालित किया था।" कविके वर्णनसे स्पष्ट है, यह वृक्ष कैलास पर्वतपर और उसके आस-पास

---

१ रघु०, २. ८। २ रघु०, २. ८, ३. ७, ६. ६४; शाकु० १. १५, वही, पृ० २७। ३ १, ४६-४८। ४ मजुमदार: उपवन-विनोद, पृ० १२। ५ रघु०, २. ३६; ४.७६; कुमा०, १. १५, ५४, ३; ४४, ६. ५१। ६ रघु०, ४, ७६; कुमा० १, ६; मेघ० पृ० ५३। ७ रघु० ४, ७३; कु०, १, ७, ५५; विक्र०, पृ० ४४, ५१, ५२। ८ आवर फौरेस्टस, पृ० ३७। ९ वही, पृ० ३७ (मिलाकर रघु०, २, ३६)।

भी उत्पन्न होता था, क्योंकि शिव वहाँ समाधिस्थ बैठाये गये हैं[1]। किन्तु यह वर्णन कुछ पारम्परिक-सा लगता है। देवदारु प्रायः ५,००० से ८,५०० फीटकी[2] ऊँचाईपर उत्पन्न होता है, और कैलासकी ऊँचाई २३,००० फीटसे भी अधिक है जो निरंतर हिमावृत रहनेके कारण पौधोंके उगनेके सर्वथा अयोग्य है। यहाँ भौगोलिक विचारसे कालिदासका ऐसा लिखना युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता। कैलासके अधोभागमें भोज-पत्रोंका देश है जो १०,००० से १४,००० फीटकी ऊँचाई पर मिलते हैं[3]। हिमालयके चीड़ पादपकी दूसरी जाति सरल है जिसको पिनस देवदार कहते हैं। इसकी रालसे सुगन्ध[4] निकलनेका कथन कविने किया है और इसकी डालियोंके परस्पर रगड़ खानेपर दावानलका[5] प्रकट होना माना गया है। भूर्ज भोजपत्रका संस्कृत नाम है। इसका उत्पत्ति-स्थान हिमालयकी १३,५०० फीट[6]की ऊँचाई है। श्री फोर्ड रोबर्टसन लिखता है, "इन दोनों वृक्षोंके साथ अखरोट और छाया-तरु भी हैं, और वृक्ष-देशकी सीमा-रेखा (१३,००० से १४,००० फीटकी) दिशामें भोज-पत्र, स्थल-पद्म और सरई भी आ मिलते हैं। ये सभी अन्तमें चिरंतन हिमकी[7] छायामें एक अति-शीत पार्वत्य तृणमयी भूमिके रूपमें प्रकट होते हैं। इस प्रकार निचली ढालपर चीड़ोंकी वन-राजि, उसके ऊपर भोज-पत्रोंकी पंक्तियाँ और उनके ऊर्ध्वमें प्रकाशित था नित्य-नवीन हिम-पुंज। प्रेम-पत्र[8] लिखनेके लिए विद्याधर-रूपसियोंको भोज-पत्रका अपने पल्लव भेंट करना कविकी कल्पना-द्वारा अंगीकृत है। इस वृक्षके पत्ते प्राचीन भारतमें प्रचुर मात्रामें लिखनेके प्रयोगमें आते थे और आज भी सैंकड़ों हस्तलिपियाँ उनपर समाप्त की गयी मिलती हैं। मल्लिनाथने[9] अमरकोश[10]

---

१ कुमा. ३.४४। २ रोबर्टसन : आवर फौरेस्टस, पृ० १०। ३ वही। ४ कुमा० १.९। ५ मेघ० पू०, ५३। ६ रोबर्टसन : आवर फौरेस्टस, पृ० १०। ७ वही। ८ अनंगलेखक्रियायोपयोगम् कुमा०, १.७। ९ 'प्रियालद्रुरा राजादनवृक्षा" कुमा०, ३.२१ (टीका)। १० "राजदनः प्रियालः स्यात्" वही।

का प्रमाण देकर प्रियालको राजादन माना है। उसकी उत्पत्ति-भूमि हिमालय-प्रदेशमें निश्चित की गयी है और इसी प्रकार नमेरु[1] की भी, जो नीचेके कथनसे प्रकट होगा।

हिमालयकी निचली ढाल, दक्षिण पठार और भारतीय मैदानमें असंख्य जातिके वृक्ष पाये जाते हैं उनमेंसे जिनका उल्लेख कविने किया है उनको ध्यानमें रखा जा सकता है। इनमें बड़े डौलवाले पहले आते हैं। घेराके क्रमसे प्रथम स्थान है, चैत्य[2] वृक्षका। चैत्य वृक्षोंकी जातिमें कौन-कौनसे वृक्ष सम्मिलित थे, इसको कविने स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु 'सारोद्धारिणी' 'सुमनिविजय' आदिके विचारसे चैत्य शब्दका प्रयोग पीपलके[3] समान पवित्र 'वृक्षों' के लिए होता है। कई दूसरे स्थानोंमें ऐसे प्रसंग भी आये हैं जिनसे विदित होता है कि इस चैत्य जातिमें अश्वत्थ अथवा पीपलके अतिरिक्त वट तथा प्लक्ष भी शामिल थे। धार्मिक वृक्ष अश्वत्थ एक विशाल वृक्ष है जिसके फल अंजीर-वर्गके हैं। अश्वत्थ हिन्दुओंके बहुतसे धार्मिक कृत्य सम्पन्न करता है। वट[4] और प्लक्ष[5] बड़-कुलमें आते हैं और इनके फल भी अंजीर-वर्ग-से हैं। इनकी छालसे एक गोंददार दुधिया रस निकलता है। ये घनी-छायावाले हैं। हिन्दीमें ये क्रमशः बड़ और पाकड़के नामसे प्रसिद्ध हैं। अंजीरकी दूसरी जातिमें उदुम्बरका[6] उल्लेख मिलता है। कविके शब्दोंमें ये वृक्ष उज्जयिनी और चम्बलके[7] मध्यवर्ती देवगिरि पहाड़ीपर भरे थे। शाल्मलीसे[8] जिसको सेमल कहते हैं एक प्रकारकी रूई निकलती है जो भारतवर्षमें साधारणतया गद्दे बनानेके काम आती है। श्री फोर्ड राबर्टसन लिखते हैं—"आप पाठक शायद नहीं पहिचान सकेंगे यह साल है या चीड़।

---

१ रघु०, ४.७४; कुमा०, १.५५, ३.४३। २ मेघ० पू०, २३। ३ पूज्यपादपाः पिप्पलादयो। ४ रघु०, १३.५३। ५ वही, ८.९३, १३.७१। ६ मेघ० पू०, ४२। ७ वही., मिलाकर, पहले और पीछे। ८ ऋतु०, १.२६।

किन्तु वसन्तऋतुमें किसी सड़कके किनारे अपने चिकने-भूरे स्कन्धको उन्नत किये इसके तृणों, इसकी कठोर-कोनदार डालियों, रक्त-स्निग्ध पुष्पों और चारों ओर बिखरी असंख्य रूईभरी फलियोंको देखते ही आप निस्सन्देह पहिचान लेंगे यही हमारा परिचित सेमल है। पूरी बाढ़पर यह एक विशाल और शालीन वृक्ष हो जाता है। यह दो सौ फीट तक बढ़ सकता है और भूमिसे तीस फीटकी ऊँचाई पर इसका घेरा पन्द्रह फीट तक पहुँच जाता है (कूर्ग)---इसे देखकर आप सोचेंगे, कैसी अच्छी शहतीरें इसके लम्बे-साफ़ स्कन्धोंसे निकल सकती हैं! आपका ऐसा सोचना नितान्त ग़लत होगा। यह उस प्रकारका काष्ठ नहीं है। यह भारतकी सबसे अधिक हल्की और नाजुक लकड़ियोंमें है और इसमें आवश्यक मजबूती और टिकाऊपनकी कमी है। इससे बड़े मोटे तख्ते, सामान भेजनेके उपयोगी बक्से और गढ़कर नौकाएँ[1] बनायी जाती हैं।" इस वृक्षके दूसरे प्रकार कूटशाल्मलीका[2] भी नाम आया है। यह मृत्यु-देव यमका[3] आयुध कहा जाता है। 'सप्तच्छद'[4] अथवा सप्तपर्ण[5] वृक्षके डंठलमें सात पत्ते होते हैं। इसके फूलोंसे[6] एक तीक्ष्ण मद-सी गंध निकलती है। यह एक बड़ा पेड़ है और इसकी छाया[7] भी घनी है। जांगल प्रदेशों[8] में इसकी अधिकता थी और यह शिशिरमें[9] पुष्पान्वित होता था। इसके समान ही नमेरु[10] एक बड़ा छायादार वृक्ष है जिसकी छाया घनी है। अपनी घनी छायाके कारण ही इसका छायातरु[11] नामकरण हुआ है। कालिदास सामान्य[12] रूपसे इसकी निवास-भूमि हिमालयकी अधिक

१ रौबर्टसन : आवर फौरेस्ट्स, पृ० ३७। २ रघु०, १२.९५। ३ वही, मिलाकर, इसपर मल्लिनाथकी टीका भी। ४ रघु०, ५.४८, ऋतु०, २.२, १३। ५ रघु०, ४.२३; शाकु०, पृ० ३८। ६ रघु०, ४.२३, ५.४८। ७ शाकु०, पृ० ३८। ८ ऋतु०, ३.२, १३; रघु०, ५.४८। ९ वही। १० रघु०, ४.७४; कुमा० १.५५, ३.४३। ११ मेघ० पू०, १ मल्लिनाथकी टीका द्वारा : "छायावृक्षो नमेरुः स्यात्" —शब्दार्णव०। १२ रघु०, ४.२४; कुमा०, १.१५५, ३.४३।

ऊँचाईमें मानते हैं और इसे भोज-पत्र अथवा सरल वृक्षोंका[1] पड़ोसी बताते हुए कैलास पर्वत[2] पर इसका आविर्भाव निश्चित करते हैं। किन्तु मल्लिनाथने[3] शब्दार्णवके[4] प्रमाणके आधारपर छायातरुकी नमेरु व्याख्या की है जिससे इसकी निवास-भूमि दक्खन भी हो सकता है[5]। साल[6] बहुत ऊँचा और भव्य है और इसकी रालकी तेज गंध दूसरे पुष्पों[7] की सुगन्धको मात कर देती है। इसका दूसरा नाम सर्ज[8] था और अयोध्यासे हिमालयमें[9] वशिष्टके आश्रमको जानेवाली राहमें इसके उत्पन्न होनेका उल्लेख किया गया है। ये आजकी ही तरह गंगाके मैदानमें जनमते और बढ़ते थे। सरीष[10] एक उन्नत पेड़ है जिसमें निदाघमें फूल खिलते हैं। कविके समय इसके फूल भारतीय अङ्गनाओंको अत्यन्त प्रिय थे।

आम्रके[11] दूसरे नाम हैं, चूत[12] और सहकार[13]। यह हमारा आम है जो हमें सुस्वाद आमका मुरब्बा देता है। यह वृक्ष कालिदासका स्नेह-पात्र है। उनके प्रेम-प्रसंग-वर्णनमें अकसर वसन्तमें बौरती सहकारकी डालियोंपर भ्रमर और कोकिलके गुंजन और कूक प्रेमी-जनोंको उन्मत्त करती हैं। यों तो यह वृक्ष प्रायः सर्वत्र ही पाया जाता होगा किन्तु इसका विशेष उल्लेख आम्रकूट (अमरकंटक) पर मिलता है। वर्णित है, गिरि-शृंङ्ग आमके पके फलोंसे[14] ढँका था। आम्रवृक्षोंकी इस घनिष्ठता के कारण ही इस पर्वतका नाम आम्रकूट पड़ा। जम्बु[15] जामुनके नामसे प्रसिद्ध है। मालवाके मध्य भाग और उसके दक्षिणमें यह बहुतायतसे

१ मिलाकर, रघु० ४.७३—७५। २ कुमा० १.५५, ३.४३। ३ मेघ० पू० १ टीका। ४ वही। ५ रघु०, १.१३, ३८, १५.७८। ६ शालप्रांशु वही, १.१३। ७ वही, ३८। ८ ऋतु०, २.१७, ३.१३। ९ द्वारा रघु०, १ और २। १० वही, १८.४५; कुमा०, १.४१; शाकु० १.४। ११ ऋतु०, ६.२३; मेघ० पू०, १८। १२ रघु०, ७.२१; ऋतु०, ६.१, ३, १५, ३०। १३ रघु०, ६.६९; ऋतु० ६.२२, २६, २७, ३४। १४ मेघ०पू०, १८। १५ वही, २०, २३; विक्र०, पृ० ९७।

पाया जाता था। जामुन-कुंजोंसे[1] होकर नर्मदा बहती थी और प्रावृट् के आने पर दशार्ण देशके अरण्योंका सारा अंचल जम्बुके पके काले-काले फलोंसे कृष्ण[2] वर्णका हो जाता था। मधूकको[3] महुआ कहते हैं। इसके फूलोंकी मादकता भरी गंधसे मद्य वासित[4] किया जाता था। टिन्टिड़ी[5] बड़ा इमलीका पेड़ है जिसके फल खट्टे होते हैं। लगानेके तीस वर्षों के बाद इसमें फल आते हैं।

कवि कहता है, नर्मदाके बहावके साथ नक्तमालके[6] पेड़ भरे थे। ये दक्खन और छोटानागपुरके सघन काज वृक्षोंके सदृश हैं। संस्कृत लेखक शमीमें[7] अग्निका होना मानते थे। 'अग्निगर्भा शमी'[8] का प्रयोग कर कालिदासने उस मान्यताको दुहराया है। यह वृक्ष अग्निगर्भा कैसे हुआ, इसकी कथा पुराणोंमें आती है। कालिदासका दूसरा प्रिय वृक्ष है, अशोक[9], जिसको कणकेलि[10] कहते हैं। रक्ताशोक[11] इसीका एक भेद है। यह पतला, लम्बा और शालीन वृक्ष है। विलियम जोन्सके विचारमें "फलोंसे लदे अशोकसे बढ़कर वनस्पति-जगत्‌में शायद ही कोई मनोरम दृश्य होगा। यह साधारण घेरेके कदका होता है। फल बड़े-बड़े होते हैं और रक्ताभ अंगूरी, हल्के पीत और चमकीले नारंज रंगोंके समन्वयमें मनोज्ञता-पूर्ण रंग-बिरंगे दीखते हैं और पुष्प ज्यों-ज्यों विकास-पूर्ण[12] होता है उससे विविध आभा विकीर्ण होती है।" पुष्पित होनेके लिए वृक्ष पर प्रहार करना दोहद था। कविके दोहद-वर्णन[13]

---

१ मेघ० पू० २०। २ वही, २३। ३ रघु०, ६.२५। ४ कुमा० का मल्लिनाथ टीका द्वारा, ३.३८। ५ शाकु०, पृ० ७०। ६ रघु०, ५.४२। ७ वही, ६.२६; शाकु०, ४.३। ८ शाकु०, ४.३ अग्निगर्भा शमी। ९ रघु०, ८.६२; माल०, पृ० ४३.४६; ३.१२; ऋतु०, ६.५, १६। १० ऋतु०, ३.१८, टीका द्वारा। ११ मेघ० उ० १५, माल०, ३.५। १२ वर्क्स, भौलुम ५। १३ रघु०, ८.६२, मेघ० उ०, १५; माल० ३ (पूर्ण एक्ट)

से यह स्पष्ट है कि कवि-परम्परामें अशोकको पुष्पयुत होनेके लिए किसी स्त्रीके पायल-क्वणित पदाघातकी अपेक्षा थी। दोहद कुशल और गुप्त-कालके शिल्पियोंके अनुरागका विषय था, ऊँचे प्रस्तर-पृष्ठपर मुद्रित जिसके अनेकों उदाहरण दर्शनीय वस्तुओंके मध्य मथुरा-संग्रहालयमें देखे जा सकते हैं। अशोक आमूल सर्वांग[1] पुष्पित होता है। असन[2] सर्वापेक्षा सुविधाजनक है। ये नदीकी तराईमें विशाल-काय होते हैं, किन्तु पार्वत तल पर ठिगने और बाढ़-हीन। श्री फोर्ड राबर्टसनके कथनानुसार "गृह-निर्माणके लिए इसका प्रचुर विक्रय होता है, यद्यपि इसका टिकाऊपन संदिग्ध है और फटनेमें यह तत्पर है। इधर कुछ समयसे यह रेलकी मालगाड़ियोंके तल-पटके व्यवहारमें आ रहा है और प्रति वर्ष तीन लाख घन-फीटसे अधिकका निर्यात होता है[3]।" अर्जुनका[4] दूसरा नाम ककुभ[5] है जो माल-वंशीय है। सल्लकी[6] (शल्लाका[7]) को संस्कृतमें गजभक्ष कहते हैं क्योंकि हाथियोंको इसकी बड़ी स्पृहा[8] है। इसका रस सुरा-सा[9] मधुर है। खानदेश और बम्बईके अन्य भागोंमें इसकी अधिकता है। लोध्र[10] लोध वृक्ष है। यह शीतकालमें फलता है और इसके फल लाल या श्वेत होते हैं। प्राचीन-कालीन भारतकी स्त्रियाँ अपने अधरोष्ठ रक्ताभ-पीत[11] बनानेके लिए इस वृक्षके लाल फूलोंकी पराग-रेणु का व्यवहार करती थीं। तिलक[12] वृक्ष अपने मनोहर सौरभमय पुष्पोंके लिए प्रसिद्ध था जो वसन्तमें खिलते थे। कविने विपुलतासे इसका

---

१ ऋतु०, ६.१६। २ रघु०, ६.६३। ३ आवर फौरेस्ट्स०, पृ० ३६। ४ रघु०, १६.३६; ऋतु०, २.१७, ३.१३। ५ मेघ० पू० २२; ऋतु०, ११.१२। ६ कुमा०, ८.३३। ७ विक्र०, ४.४४। ८ कुमा०, ८.३३। ९ वही। १० रघु०, २.२९; मेघ० उ० ८; ऋतु०, ४.१, ६.३३। ११ मेघ० उ० २। १२ रघु०, ९. ४१, ४४; कुमा०, ३.३, ८.४०; माल०, ३.५।

उल्लेख किया है। वज्रसार जलदोंके घोर गर्जनसे[1] कदम्बमें[2] पुष्प-विकास होना माना गया है। इस प्रकार यह वर्षाऋतुमें फलोंसे संयुक्त होता है और इसमें छोटे सेवके आकारके फल आते हैं। फल इसी समय पक भी जाते हैं। लाल-फलवाले कदम्ब रक्त कदम्ब[3] थे। नीप[4] साधारणतः कदम्ब ही समझा जाता है, किन्तु यह कदम्बसे तनिक भिन्न है। यह कदम्ब-कुलका है किन्तु कदम्ब नहीं है क्योंकि कालिदास एक ही पंक्तिमें नीप और कदम्ब दोनोंके नाम लेते हैं[5]। अक्ष[6] तरुके फलोंके बीजोंसे मनके बनते हैं। अगुरु[7] सुगंधित मुसब्बरका पेड़ है और उसीका काला प्रकार है, कालागुरु[8]। कामरूपमें[9] काला-गुरुकी अधिकता थी। कालीयक[10] चन्दनके समान गंधवाला काष्ठ है। कुरबक[11] अम्लान पुष्पकी जातिका है। मधुमासमें[12] इसमें फल लगते हैं और फलोंके रंग इतने गहरे होते हैं कि तुरंत फीके नहीं पड़ते। इसका लाल भेद रक्त-कुरबक[13] है। अक्षोट[14] हमारा अखरोट है। कम्बोजमें[15] ये बहुतायतसे पाये जाते थे। इंगुदी[16] एक जंगली वृक्ष है जिसका इंगुआ नाम प्रचलित है। इसके फलोंसे तेल निकाला जाता था जिसका प्रयोग आश्रमवासी वैखानस शरीरमें लगाने[17] और दीप जलानेके[18] लिए करते थे। यही तापस-तरु कहलाता था। यह एक आरोग्यक वृक्ष है और

१ मेघ० पू०, २५। २ रघु०, ६. ४४, १३. २७, १५.९९; मेघ० पू० २५, ऋतु०, २.१९; २०, २३, २४, ३.८, १३, ४.९। ३ विक्र०, ४.६० । ४ रघु०, १९.३७; मेघ० पू० २१; ऋतु०, २.१७, ७.१३। ५ ऋतु०, ३.१३। ६ रघु०, १३.४३; कुमा०, ३.४६ । ७ ऋतु०, ५.१२। ८ रघु., ४.८१, १३.५५, १४.१२; मेघ० उ० ४४; ऋतु०, २.२१, ४.५, ५.५, ६.१३। ९ रघु०, ४.८१। १० ऋतु ४.५, ६.१२। ११ रघु०, ९.२९, मेघ० उ०, १५; ऋतु०, ३.१०, ६.१३; शाकु० पृ० १९२। १२ ऋतु०, ६.१८। १३ माल०, पृ० ३९। १४ रघु०, ४.६९। १५ वही। १६ वही, १४.८१, शाकु० १, १३, ते, १३, पृ० ७३। १७ शाकु०, पृ० ७३। १८ रघु०, १४.८१।

इसके फलोंमें रोग-नाशनकी अपूर्व शक्ति है जिनकी माला बच्चोंके लिए जन्तरका काम करती है। बीजपूरक[1] मातुलुंगकके सदृश एक चकोतरा-वृक्ष है। इसके फलका छिलका मद्य-गंध-निवारण के लिए चबाया जाता था। इसका फल शुभ-सूचक और अर्घ्य-योग्य[2] समझा जाता था; मथुरा-संग्रहालयमें शुभ-सूचकके रूपमें यह कई मूर्तियोंके हाथोंमें देखनेमें आता है।

वृक्षोंकी अल्पकाय जाति और फूलके पौधोंमें थे, कुटज[3], विककट[4], सिंधुवार[5], वन्धुजीव[6] या वन्धूक[7], कर्णिकार[8], कोविदार[9], कल्पद्रुम[10], पारिजात[11], मन्दार[12], सन्तानक[13], बकुल[14] या केसर[15] कुसुम्भ[16], किंमुक[17] या पलाश[18], केदली[19] और कन्दाली[20]।

इनमें कुटज पावसमें फूलता है। विकंकट अरण्यका पवित्र वृक्ष है जिससे कलछियाँ बनायी जाती[21] थीं। सिंधुआर निर्गुंडी[22] है। बन्धूक

१ माल०, पृ० ३५,३६। २ वही। ३ रघु०, १६, ३७; मेघ० पू०, ४, ऋतु०, ३.१३। ४ रघु०, ११, २५। ५ कुमा० ३.५३। ६ रघु०, ११.२५; कुमा०, ८.४०; ऋतु०, ३.२४। ७ ऋतु०, ३.५, २५। ८ कुमा०, ३.२८, ५३; ऋतु०, ६.५, २०, २७। ९ ऋतु०, ३, ६। १० रघु०, १.७५, ६.६; कुमा०, ७.३९, ६.४१, २.२६। ११ रघु०, ६.६; कुमा०, ८.२७; विक्र०, २.१२। १२ ६.२३; मेघ० उ० ४। १३ रघु०; १०.७७; कुमा० ६.४७, ७.३। १४ रघु०, ८.६४, ९.३०, १९.१२; ऋतु०, २.२४। १५ रघु०, ९.३६; मेघ० उ० १५, शाकु० पू० ३०। १६ ऋतु०, १.२४, ६.४। १७ रघु०, ९.३१; ऋतु०, ६.१९, २०, २८। १८ रघु०, ९.५१; कुमा०, ३.२९। १९ रघु०, १२.९६; कुमा०, १.३६; मेघ० पू० ३३। २० रघु०, १३.२९; मेघ० पू०, २१; ऋतु०, २.५; विक्र०, ४.५। २१ रघु०, ९.२५ (२३) कुमा० का मल्लिनाथ टीका द्वारा; ३.५३। २२ रघु०, १४.४८।

था बन्धुजीवमें लाल फूल निकलते हैं। कर्णिकार वसन्तमें फूलते हैं। इनके लाल फूल बड़े सुन्दर होते हैं, किन्तु होते हैं, निर्गन्ध। कोविदारकी डालियाँ तुनुक होती हैं और यह पुष्पित होता है शिशिरमें। कल्पद्रुम अथवा कल्पतरु इन्द्रलोकका काल्पनिक वृक्ष था जो इच्छित वस्तु देनेवाला था। इसके पाँच भेदोंमें तीन---पारिजात, मन्दार और सन्तानकका उल्लेख कविने किया है। पारिजात और हरिशृङ्गार एक ही हैं। और मन्दार है मनार। बकुल या केसर में तीव्र गन्ध वाले फूल लगते हैं और ये विलासोद्यानोंको अलंकृत करते हैं। कुसुम्भके रक्त-पुष्प रंगनेके काम आते हैं। किंशुक या पलाश वही है जो साधारणतया पलाश कहा जाता है, किन्तु असल पलाशकी वह जाति है जिसके फूल अधिक लाल होते हैं। दोनों जातियोंके पलाशोंके फूल लाल होते हैं, किन्तु गंध एकमें भी नहीं। फैजाबादके आसपास इनका जमघट है और गंगाकी तराईमें सर्वत्र ही इनका बाहुल्य है। कदली सर्व-परिचित केला है। कन्दाली एक पौधा है जिसके पत्र हरे होते हैं। यह ग्रीष्म कालमें सूख जाता और वर्षारम्भके साथ ही सहसा दृष्टिगोचर होने लगता है। असिपत्र[1] (तलवारकी तरह पत्तियोंवाला) एक काल्पनिक वृक्ष है जिसका उत्पत्ति-स्थान पाताल माना गया है।

सागर-तट की अरण्य-मालाओंकी नमकीन मिट्टीमें उत्पन्न होनेवाले वृक्ष थे---ताली[2], एकताल[3], राजताली[4], पूग[5], पुन्नाग[6], खर्जूर[7], खर्जूरी[8] और नारिकेल[9]। ये ताल वृक्षके विभिन्न वर्ण हैं। ताली, पहाड़ी ताल की जाति है जो कलिंग[10] और कन्याकुमारीके[11] समुद्री किनारेपर पंक्ति में खड़े थे। एकताल है ताड़का पेड़। राजताली और पूगमें कोई अन्तर नहीं है। पूगकी कसैली पानके साथ लगायी जाती है। पूर्वी तट, मलाया

१ वही, ४.३४, १३.१५। २ वही, १५.२३। ३ वही, ४.५६। ४ वही, ४.४४, ६.६४, १३.१७। ५ वही, ४.५७। ६ शाकु०, पृ० ७०। ७ रघु० ४.१७। ८ वही, ४२। ९ वही, ३४। १० वही, १३.१५। ११ वही, ६.६४।

प्रदेश[1] और कुमारी अन्तरीप[2] में इनके होनेका वर्णन मिलता है। कालिदासने खर्जूर या खर्जूरीके प्राप्ति-स्थानको पश्चिम तट पर केरल और अपरान्तमें[3] रखा है। पुन्नाग साधारणतः नागकेसर समझा जाता है किन्तु वनस्पति-शास्त्रके अनुसार नागकेसरका अन्य नाम है। कालिदास के अनुसार इस वृक्षका स्थान मालाबार-तट[4] है। डा० रोक्सबर्गके विचारमें यह कोरोमण्डल तटका निवासी है। नारिकेल अर्थात् नारियल के पेड़का कलिंग[5] कूलमें बहुलतासे पाया जाना वर्णित है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि अमरकोशने नारिकेल, खर्जूर और पूग आदि ताल जातिके वृक्षोंको तृणद्रुम[6] कहा है, सम्भवतः इसलिए कि तृणोंके समान इनके भी रेशे समानान्तर और काँटे नुकीले होते हैं।

मलयाकी भूमि सुगन्धमय चन्दन-वनसे परिपूर्ण थी। चन्दन[7] एक प्रकारका वृक्ष है जिसके पत्ते नुकीले होते हैं। प्राचीन भारतमें चन्दन-लेप शृङ्गार और अंगरागके उपयोगमें आता था[8]। ऐसा माना जाता है कि इसकी सुगन्धसे आकृष्ट होकर इसके मूल और स्कन्धोंमें[9] साँप लिपटे रहते हैं। यह मलयास्थलीमें ताम्बूल-लता, एला और पूग तथा तमाल[10]-वृक्षोंके साथ विपुलतासे उपजता था। इसकी एक विशिष्ट जातिमें था रक्तचन्दन[11]। मलया-तटके अतिरिक्त भारतके निकटवर्ती[12] द्वीपोंमें भी लवंगके[13] पेड़ होते थे। बड़े पत्तोंवाला दूसरा वृक्ष तमाल[14] है। इस प्रदेशमें एला[15] और मरीचि भी उत्पन्न होते थे। लवंग, एला और मरीचि[16] आजके सदृश ही उस समय भी भोज्य पदार्थोंमें थे।

---

१ वही, १३.१७। २ वही, ४.५७। ३ पुन्नागेभ्यो नागकेशरः रघु० का मल्लिनाथके टीका द्वारा; ४.५७। ४ रघु०,४.५७। ५ वही ४.४२। ६ अमरकोश। ७ रघु०, ४.४८, ५१, ६.६४; ऋतु०, १.४, ६, ८, २, २१, ३.२०, ५.३, ६.६, १२, ३२। ८ रघु०, ४.४८। ९ वहीं, ४.६४। १० मालवि०, पृ० ६५। ११ रघु०, ६.५७, ८.२४। १२ द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः; वही, ६.५१। १३ वही, ६.६४, १३.१५,४९। १४ वही. ४.४७; ६.६४। १५ वही, ४.४६। १६ ऋतु०, १.२८, शाकु०, १.३।

पौधे और लताएँ

उपर्युक्त पुष्प-द्रुमोंके सिवाय कवि पाटलका[1] भी नामोल्लेख करता है, जिसमें तूर्य-पुष्प निकलते हैं और सूच्यग्र पत्तोंवाले केतक[2] या केतकी[3] का भी; जो हराभरा पौधा है, जिसके पुष्प तीक्ष्ण गन्धवाले होते हैं और जो केतकीके नामसे विख्यात हैं। सुश्रुतने[4] चमेलीको गुल्म वर्गमें रखा है। इसके कई भेद थे, गुल्म और लताके रूपमें; जिनमेंसे कइयोंका उल्लेख कवि-द्वारा हुआ है। कुन्द[5] चमेलीकी एक जाति है और उसी प्रकारका एक गुल्म है—श्वेत और कोमल; और कौन्दी, जो मधी कहलाती है और वसन्तागमके दो मास पूर्व ही फूलने लगती है, एक लता है। चमेली के सजातीय हैं—यूथिका[6] या जूथिका[7], सल्लिका[8] या नवमल्लिका[9] या वन-ज्योत्स्ना[10] और मालती[11]। श्यामा[12] जिसको फलिनी[13] और प्रियङ्गु कहते हैं, ऐसी लता है जिसका उल्लेख संस्कृत कवि अधिकता से करते हैं। अपनी मृदुता और कृशांगिताके कारण इसकी उपमा प्रमदा-[14]शरीर-यष्टिसे दी गयी है। इसके श्वेत सुमन होते हैं और इसका स्त्री-स्पर्श से[15] मुकुलित होना प्रसिद्ध है। रजत-पुष्पवाली माधवी[16] एक वसन्त-लता है जिसकी चर्चा संस्कृत कवियोंने, निरपेक्ष किया है।

---

१ रघु०, ६.५७; मेघ० पू० २३। २ ऋतु०, २.१७, २०, २३, २६, मालवि० पृ० ८२। ३ गिरिजाप्रसन्न मजुमदार : उपवन-विनोद, पृ० १२। ४ ऋतु०, ४, २, ६, २३, ३१। ५ विक्र०, २, ४। ६ वही, ४, ४६; मेघ० पू० २६। ७ ऋतु०, २.२४। ८ ऋतु०, ३.१८, ६.५। ९ शाकु०, पृ० ३१। १० वही, पृ० ३१, १३७। ११ ऋतु०, २.२४, ३.२, १९; मालवि०; पृ० ३६। १२ ऋतु०, ३.१८; मेघ० उ० ४१। १३ रघु०, ८.६१। १४ ऋतु०, ४.१०, ६.१२; मालवि० पृ० ४८, २.६। १५ मेघ० उ०, ४१; ऋतु०, ४.१०; मालवि०, २.६। १६ शाकु०, ३.७; मालवि०, ३.५।

ग्रीष्म ऋतुमें इसमें फूल लगते हैं जिनसे मधुर पुष्प-रस निकलता है। इन लताओंमें अतिमुक्तलताको[1] संस्कृत कवियोंका सर्वाधिक ध्यान तथा प्रशंसा प्राप्त है। महाशय विलियम जोन्सका कथन नितान्त उपयुक्त है—"इस लताके पुष्पोंकी सुगन्ध और सौंदर्यमें वह जादू है जिसने इसको कालिदास और जयदेवकी प्रशंसाके योग्य बनाया है। यह एक विस्तृत और सम्पन्न वल्ली है, किन्तु जब इसको कोई अवलम्ब नहीं मिलता तो यह एक कठोर वृक्षका रूप धारण कर लेती है जिसकी उन्नत डालियाँ उस अवस्थामें भी हवामें आरोहणकी स्वाभाविक[2] नमनशीलता और प्रवृत्ति प्रदर्शित करती हुई लहराती रहती हैं।" श्यामा, माधवी और अतिमुक्ता वल्लियाँ मनोरम लतागृहका निर्माण करती थीं। लवली[3] दूसरे लता-वर्गका प्रतिनिधित्व करती है। ताम्बूलवल्ली[4] पानकी वल्ली है जिसकी पत्तियाँ सुपारी, कत्था, चूना और मसालोंके साथ मुख-शुद्धिके लिए चबाई जाती थीं विशेषकर भोजनोपरान्त और मद्यकी दुर्गन्ध मिटानेके लिए। यह मलाया प्रान्तमें[5] अधिकतासे उपजती थी। अंगूरकी लता द्राक्षा[6] कहलाती थी जो भूमि पर फैलती और पारसीकोंके[7] देशमें छायी हुई थी। इससे प्रभूत मद्य बनाया जता था[8]। इन लताओंके अतिरिक्त एलालता[9], अशोकलता[10] और शमीलता[11]के समान काल्पनिक वल्लियोंका कवि वर्णन करता है जो उन्हीं नामोंके वृक्षोंके सुकोमल स्कन्धोंके कारण कल्पित होती हैं। कालिदास घटनावश दो वल्ली-वर्गों—उद्यानलता[12] और वनलताकी[13] भिन्नता प्रकट करते लिखते हैं—पहली उद्यानकी और दूसरी वनकी वल्ली है। श्यामा, माधवी और अतिमुक्ता पहले

---

१ ऋतु०, ६.१७, मालवि०, ४.१३; शाकु०, पृ० ६५ २। सर विलियम जोन्स : वर्क्स, भौलुम ५ पृ० १२४। ३ विक्र०, ५.८। ४ रघु०, ६.६४; ऋतु०, ५.५। ५ रघु०, ६.६४। ६ वही, ४.६५। ७ वही, । ८ वही, ४.६५.६१। ९ वही, ६.६४। १० वही, ७.२१। ११ शाकु०, पृ० २७। १२ वही, १.१५। १३ वही।

वर्गकी है क्योंकि हमें विदित होता है कि उनके लतामंडपमें बैठनेके लिए प्रस्तरके आलिन्दक[1] बने थे और ताम्बूलवल्ली तथा एतादृश लताएँ दूसरे वर्गकी थीं। कुछ अन्य पौधे भी हैं जिनका उल्लेख किया जा सकता है; वे हैं---अर्क[2], चम्पक[3], शेफालिका[4], शिलिन्ध्र[5], जपा-पुष्प[6], और कुंकुम[7]। अर्क एक बड़ा और उत्तेजक गुल्म है। चम्पक में सुगन्धमय पीतपुष्प निकलते हैं। शेफालिकाके फूल श्वेत होते हैं। शिलिन्ध्र एक छत्रक है जो छातेके सदृश होता है और वर्षाऋतुमें उगता और नष्ट हो जाता है। जपा फूलका पौधा है जिसको चीनका गुलाब कहते हैं। कुंकुम केशर है। ऋतुसंहारमें वर्णित है कि हेमन्त, शिशिर तथा वसंतमें[8] प्रमदाएं अपने वक्षको केसर-कीचसे चर्चित करती थीं।

कविके ग्रन्थोंमें अंकित तृणोंके भेदोंका वर्णन भी आवश्यक है। तृण[9] या घास, शष्प[10] या बढ़ी हुई घास, शाद्वल[11] या घासकी भूमि, स्तम्ब[12] या घासका गुल्म और कण्डागर[13] अथवा तिनकेके सम्बन्धमें प्रसंग आये हैं। तृणोंकी कई जातियाँ कथित हैं। उनमें प्रसिद्ध हैं कीचक[14] अथवा लोकपरिचित वंश या बाँस[15]। यह एक प्रकारका दैत्य-तृण है जिसको प्राचीन लेखकोंने तृणध्वजाकी यथार्थ उपाधिसे भूषित किया था[16]। कालिदास मुख्यत: हिमालय[17]--जैसे पार्वत भागोंमें कीचकको रखते हैं

---

१ मणिशिलापट्टसनाथो वही, पृ० २०० । २ शाकु० २.८ । ३ ऋतु०, ६.२६ । ४ वही, ३.१४ । ५ मेघ० पू०, ११ । ६ वही, ३६ । ७ रघु०, ४, ६७; ऋतु०, ५.६, ६.४, १२ । ८ ऋतु०, ५.६, ६.४, १२ । ९ रघु०, २.५; ऋतु०, १.२५, २.८, ४.७ । १० ऋतु ५.१, २२; विक्र०, ४.५७ । ११ रघु०, २.५१; विक्र०, पृ० ६५ । १२ रघु०' ५.१५, १५.१६ । १३ वही, ५.६ । १४ वही, २.१२, ४.१३; कुमा०, १.८, मेघ० पू० ५६ । १५ ऋतु०, १.२५ । १६ मजुमदार, उपवन-विनोद, पृ० १२ । १७ रघु०, २.१२, ४.१३; कुमा०, १.८; मेघ० पू० ५६ ।

जहाँ कीचक-रन्ध्रोंमें प्रवेश करते हुए हवाके झोंके मधुर संगीतका संचार करते थे। किन्तु वंश या बाँस पहाड़ीके निचले भागमें विशेषकर उत्पन्न होता है और इस कारण सबसे अच्छे बाँस शारदा नदीके पश्चिम वाले जंगलोंसे आते हैं जो कोटद्वारके चतुर्दिक् पहाड़के निम्न भागमें अवस्थित हैं और जहांके बाँस उत्तरप्रदेशमें[१] सबसे अच्छे समझे जाते हैं। काश[२] एक लम्बी घास है जो शिशिरमें मुकुलित होती और जिसमें उजले फूल खिलते हैं। भद्रमुस्ता[३] या मुस्ता[४] एक साधारण घास है जिसको नागरमोथा कहते हैं और जो वन्य शूकरकी[५] अतीव प्रिय हैं। कुश[६] अथवा दर्भ[७] पवित्र समझा जाता है और धार्मिक संस्कारों में प्रचुरतासे प्रयुक्त होता है। इसके पत्ते बहुत लम्बे होते हैं जिनकी सूच्यग्र नोककी तीक्ष्णता विख्यात थी। दूसरी जातिका तृण उशीर[८] था जिसके खस कहते हैं। इसकी सुगन्धित मूलसे एक प्रकारका शीतल लेप[९] बनाते थे। दूर्वा-दल[१०] अनेकों पुण्य कृत्योंमें व्यवहृत होता था। शैलेय[११] शिलातलपर होनेवाला एक विशिष्ट सुगन्धवाला काईतृण है।

कविकी रचनामें उपज तथा खाद्यान्नोंके नाम भी हैं जिनका यथा-स्थान उल्लेख होगा। उनके नाम हैं—यव[१२], धान्य[१३] और इक्षु[१४]।

---

१ रोबर्टसन, आवर फौरेस्ट्स, पृष्ठ० ४१। २ कुमा०, ७.२; ऋतु०, ३.१, २, २६। ३ ऋतु०, १.१७। ४ रघु० ६.५६, १५.१६। ५ वही, ६.५६; मिलाकर रघु०, १.१७। ६ रघु०, १.४६, ६५, ५.४, ७, १३, ४३, १४, ७०, कुमा०, १.६०। ७ शाकु०, २.१२, पृ० ३४। ८ वही, पृ० ८४। ९ उशीरानुलेपनं, वही,। १० रघु०, ६.२५। ११ ऋतु०, ६, २५। १२ रघु०, ७.२७, १०.४३, १३.४६; कुमा०, ७.१७। १३ रघु०, ४.२०, ३७; ऋतु०, ३.१, १०, १६, ४.१, ७, १८, ५.१.१८। १४ र०, ४.२०; १६।

धान्यके तीन प्रकार कहे गये हैं–शाली[1], कलमा[2] और नीवार[3]। ऑक्सस नदीकी घाटीमें केसरकी खेती[4] होती थी।

अब आती है जलीय पौधोंकी गणना। जलाशयोंमें उत्पन्न होनेवाले फूलों और पौधोंमें मुख्य थी, नलिनी[5]। कालिदास इसका वर्णन करते अघाते नहीं दीखते। इसके कई भेद ज्ञात थे। साधारण कमलके लिए कविने कई नामोंका प्रयोग किया है—अरविन्द[6], पंकज[7], सरसिज[8], उत्पल[9], कमल[10], अम्बुज[11] और अम्भोरुह[12]। पद्म[13] (पद्मिनी भी[14]) भी थे जो रवि-किरणोंका स्पर्श पाकर खिलते थे और कुमुद[15] भी थी। कुमुद दो प्रकारकी थी—एक साधारण उजली और दूसरी कुवलय[16], नीली। पंकज कई वर्णके थे, श्वेत, रक्त, नील और पीन। सितपंकज[17] और पुण्डरीक[18] थे श्वेत पंकज; तामरस[19], कह्लार[20] और रक्तकमल[21] थे रक्तवर्णके; नील थे इन्दीवर[22] और नीलोत्पल[23];

---

१ रघु०, ४.२०; ऋतु०, ३.१, १०, १६, ४.१, १७, १८, ५.१, १६। २ रघु०, ४.३७। ३ वही, १.५०; ५.९। ४ रघु०, ४.६७। ५ वही, ६.४४; ऋतु०, २.१४; शाकु०, पृ० ८४, ८९। ६ रघु०, १.४३। ७ वही, ३.८, ऋतु० ३.१०, २३। ८ रघु०, ५.६९। ९ ऋतु०, २.२, १४, ३. २४, ५.१०; रघु०, ३.३६, १२.४६; मेघ० पू०, २६; शाकु० १.१८। १० ऋतु०, १.२८, ३.५, ८, २६, ५.१३, ६.३२। ११ वही ४.४, ६.१४। १२ वही, ३.१७। १३ वही, ३.१, १५, ४.१, ६.२; विक्र०, ४.४०। १४ मालवि०, २.१२। १५ रघु०, ४.१९, ६.३६; ऋतु० २. १५, २१, २३, २६। १६ ऋतु०, ३.२२। १७ रघु०, १३.५४। १८ वही, ६.१७, १०.९; कुमा०; ८.२६, ३२। १९ रघु० ४.१७, १०.९; मालवि०, ४.७। २० ऋतु०, ३.१५। २१ विक्र०, ४.१२। २२ रघु०, ६.६५; ऋतु०, २.१२। २३ ऋतु०, ३.१७, १९, २६, ४.९।

और कनक-पीत वर्णके थे कनक-कमल[1], शातकुम्भ कमल[2] और हेमाम्भोज[3]। कनक-पीत पद्मका केवल कैलास शृङ्खलाके मानसरोवर[4] में उत्पन्न होनेका लेख है। कहीं-कहीं कमल और कमलिनियोंसे सम्पूर्ण जल-तल व्याप्त रहनेसे कमलवनकी[5] संज्ञा अक्षरशः सार्थक होती है। भारतवर्षमें ऐसे बहुतसे सरोवर हैं जिनमें निर्बाध रूपसे मीलों कमल उपजे होते हैं और जो ऐसे सघन अरण्यका दृश्य प्रकट करते हैं जिनमें किसी कर्त्तक या नौकाका प्रवेश करना कठिन है। पद्मकी एक जाति है स्थलकमलिनी[6], जिसको कविने स्थलपर उत्पन्न माना है। कमलका डंठल, 'नीवार' मानस-सरोवरको जानेवाले मरालोंका पाथेय[7] होता था। इनके सिवा कुछ अन्य प्रकारके जलीय पौधे और नरकट थे जो तड़ागों, तलैयों और छिछले सरिता-तलोंकी कीचमें जन्मते थे। शैवाल[8] इसी प्रकारका खूब उपजा हुआ सेवार था जो तड़ागोंपर फैलता और कमलोंके साथ ओतप्रोत हो जाता है। निचुला[9] और वेतस[10] शायद एक ही हैं। वानीर[11] ईख है, जो रामगिरिके[12] आस-पास तमसा[13], गभीरा[14] और मालिनीके[15] कूलोंमें उत्पन्न होता था और शायद सुह्म देशमें भी, जिसका अप्रत्यक्ष परिचय[16] मिलता है।

इस खण्डमें प्राणी-जीवनके संबंधकी सामग्रियोंपर, जिनमें भूचर, जलचर और विहग सभी शामिल हैं, विचार किया जा सकता है।

---

१ वही, ४.१३। २ कुमा०, ८.८५। ३ मेघ० पू०, ६२, हेमाम्बुज रघु०, ८.६०। ४ वही। ५ ऋतु०, १.२६। ६ मेघ० उ० २७। ७ मेघ० पू० ११। ८ रघु०, ५.४६; शाकु०, १.१७। ९ मेघ० पू०, १४; विक्र०, ४.१३। १० शाकु०, पू० ६०; ३, २३। ११ मेघ० पू०, ४१। १२ वही, १४। १३ रघु०, ९.७५। १४ मेघ० पू० ४१। १५ शाकु०, पू० ६०, ३.२३। १६ रघु०, ४.३५, वैतसीं वृत्तिम।

हम दो शीर्षकोंमें पशु-वर्गका अध्ययन कर सकते हैं—वन्य और पालतू।

जिस प्रकार भारत-भूमिसे आदिम अरण्य प्रायः तिरोहित हो गये उसी प्रकार वन्य पशुओंमेंसे भी बहुत-से गायब हो गये हैं। कालिदास-कालमें देश अरण्योंसे भरा था, जिनमें वन्य पशु स्वच्छन्द विहार करते थे। वन्य पशुओंमें जिनका नामांकन हुआ है वे हैं,

पशु-वर्ग पशुओंका राजा सिंह (मृगेन्द्र[1], मृगेश्वर[2], रीक्ष[3], सिंह[4]), हाथी (करी[5], दन्ती[6], द्वीप[7], इभ[8], गज[9], कुंजर[10]) और इसका शिशु (कलभ[11]), बाघ (व्याघ्र[12]) और बाघिन (व्याघ्री[13]), शूकर (बराह[14]), गेंडा (खड्ग[15]), साँड़ (महिष[16], वन्य), भैंसा (महिषा[17]), हिमालयमें घूमनेवाली सुरा गाय (चमरी[18]), एक प्रकारका वृष (गवय[19]), हिरण (मृग[20]), मृगी[21]

---

१ वही, २.३०; ऋतु०, १.२७। २ ऋतु०, १.१४। ३ रघु०, २.२९; ऋतु०, १.२५। ४ रघु०, २.२७, ६.६४; कुमा०, १.५६। ५ रघु०, ३.३। ६ वही, १.७१; ऋतु०, १.२७। ७ रघु०, २.३७, ३८, ५.४३, ६.६५, कुमा०, ८.३३; ऋतु २.१५। ८ ऋतु० ६.२८। ९ वही, १, १४, १५; १९; रघु०, ६.१५। १० ऋतु०, २.१। ११ रघु०, ३.३१। १२ वही, ६.६३, १६.१५। १३ वही, १२.३७। १४ वही, २.१६, ६.५६; कुमा०, ८.३५; शाकु०, ३.६, पू० ५५; ऋतु० १.१७। १५ रघु०, ६.६२। १६ वही, ६.६१, १६.१३; ऋतु०, १.२१। १७ शाकु०, २.६। १८ रघु०, ६.६६, कुमा०, १.१३, ४८; मेघ० पू० ५३। १९ कुमा०, १. ५६, ऋतु०, १, २३, २७। २० रघु०, ४.७४, ६.५३, ५५, ६४; शाकु० २.६; ऋतु०, १.११, २५, २.६, ४.८। २१ हरिणी, रघु०, ६.५५, मृगी, वही, १२.३७; ऋतु०, ३.१४।

अपने दोनों प्रकारोंके साथ जिनमें पहला है मृगनाभि[1] (विलसनका मत है कि यह वही हिरण है जिसे तिब्बती कस्तूरी-मृग कहते हैं, "किन्तु यह हिमालयके उन्नत प्रदेशोंमें पाया जाता है जो तातारको हिन्दुस्तानसे पृथक् करते हैं" कु०, १.५४; ऋ०, ४.७४) और दूसरा है मृगा (रुरु[2] या कृष्णसार जिसका चर्म पवित्र समझा जाता था), शृगाल और उसकी मादा (शिवा[3]), वानर (वानर या कपि[4]) और बन्दर (पिंगल वानर[5]), जंगली बिल्लीका नर (बिडाल[6]) और एक काल्पनिक महाबली वन्य पशु शरभ[7], जिसका वास-स्थान कविने हिमालय कहा है।

कालिदासके ग्रन्थोंमें कई पालतू पशुओंके नाम आये हैं जिनमें मुख्य हैं—हस्ति, जो केवल राज्यकी ओरसे पकड़े जाते और सेनाके[8] काममें आते थे और जो कलिंग[10] और कामरूपके[11] वनोंमें भरे पड़े थे, घोड़े (वाहा[12] अश्व[13], तुरंग[14]), गाय (गो[15], धेनु[16]) और बच्चा (वत्स[17]), भारवाही पशु साँड़ (वृष[18], ककुद्मान[19] बलिवर्द[20]), ऊँट (उष्ट्र[21]) और खच्चर (वामी[22])। आखेटकोंने आखेटके[23] लिए बड़े कुत्ते (श्वगणि[24]) पाल रखे थे। मालविकाग्निमित्रमें राजोद्यानमें पालित एक पिंगल

१. रघु०, ४.७४, १७, २४; मेघ० पू० ५२; कुमा०, १.५४; ऋतु०, ६.१२। २ रघु०, ३.३१, ६.५१, १३.३४; कुमा०, ३.३६; विक्र०, ४.५७। ३ रघु०, ११.६१, १६.१२। ४ वही, १२.५६, ७१, १६.७६; ऋतु०, १.२३। ५ माल०, पृ० ८५। ६ शाकु०, पृ० २२६; माल०, पृ० ६२। ७ मेघ० पू० ५४; ऋतु०, १.२३। ८ रघु०, १६.२। ९ वही, ४.४०, ७५, ५.७२। १० वही, ४.४०। ११ वही, ८३। १२ वही, ५.७३। १३ वही, ३.६५; कुमा०, ६.३९। १४ रघु०, १.४२,५४। १५ वही, १.८८, २.२३, ४९। १६ वही २.१, ४, १५, २६, ४९, पयस्विनी २१, इत्यादि। १७ वही, २.२२, ६६। १८ वही, २.३५। १९ वही, ४.२२, महोक्ष वही। २० माल०, पृ० ८०। २१ रघु०, ५.३२। २२ वही। २३ वही, ९, ५३। २४ वही।

वानर[1] का उल्लेख है। साधारण पालतू बिल्ली (बिडाली[2]) और मूस (मूषिक[3]) भी वहाँ थे।

कालिदास बैल या पालतू भैंसोंका नाम नहीं लेते, किन्तु धुर्या (रघु० १७.१९) शब्दसे बैलका भी बोध होना सम्भव है, जो वाहक पशुओंमें शामिल कर लिया गया होगा।

साँपों (फणी[4], और भोगी[5]) के नाम भी आये हैं और कई अन्य कीड़ोंके भी। मेघदूतमें दीमक (वल्मी[6]) का उल्लेख है और मालविकाग्निमित्रमें चींटी (पिपीलिका[7]) का। इन्द्रगोप[8] या इन्द्रगोपक[9] का नामोल्लेख क्रमशः 'रघुवंश' और 'ऋतुसंहार' में हुआ है, जो मटरके बीजके आकारके लाल माँसल कीट है। यह देखनेमें मखमली और छूनेमें अत्यन्त कोमल है। वर्षाऋतुके प्रारम्भ होनेपर इन्द्रगोपोंके दल दृष्टिगोचर होने लगते हैं और जहाँ कहीं ये सैकड़ोंकी संख्यामें एकत्रित होते हैं वह स्थान लाल धब्बे-सा दिखायी देने लगता है। इसपर संस्कृत कवियोंकी अनुरक्ति है; वे प्रायः पावसके संगीके रूपमें इसका वर्णन करते हैं।

जलचर

विदेह मगर और नक्र, सर्पजातीय जीव (भुजंगाः)[10], अपने छिद्रमय मस्तकोंसे पानीके फव्वारे छोड़नेवाले ह्वेल (तिमयः)[11] जल-तलपर[12] सहसा उछल निकलनेवाले जलमहिष (मातंगनक्राः), नुकीले होनेके बिन्दुपर[13] गड़े सिरवाले शंखोंका समूह (शंखयूथम्) तथा सिकता-कूल[14] पर अपनी सिनुही (शुक्ति) खोले सीपोंसे हिन्द-महासागर संकुलित था। सर[15] और नदों[16] में घड़ियाल (नक्राः) और गोह (गोधाः[17]) थे।

---

१ माल०, पृ० ८५। २ वही, पृ० ८४। ३ शाकु०, पृ० २२६। ४. ऋतु०, १.१३, २०। ५ रघु०, २.३२, ४. ३८, ११.२७; ऋतु०, १.१६, १८। ६. मेघ० पू० १५। ७. माल०, पृ० ४८। ८ रघु०, ११.४२; विक्र०, पृ० ९५। ९. ऋतु०, २.५। १० रघु०, १३.१२। ११ वही, १०। १२ वही, ११। १३ वही, १३। १४ वही, १७। १५ शाकु०, पृ० १८४। १६ रघु०, ७.३०। १७ वही, १२.५५।

इनके बाद वहाँ बहुत प्रकारकी मछलियाँ (मीन[1]) थीं, बड़ी (मत्स्य[2]) और छोटी, रोहित[3] और सफरीकी[4] जैसी। रोहित (रोही-लाल) एक प्रकारकी थीं जो गंगाके पार्श्वमें झील और तालावोंमें मिलती थीं। ये तीन फ़ीट तक लम्बी होती हैं, बड़ी पेटू हैं। इनका मांस, यद्यपि उसका स्वाद कुछ पंकिला लगता है, स्वादिष्ट होता है। इनका पृष्ठ जैतूनके रंगका, पेटी सुनहला और पर और आँखें समकर होते हैं। पच्चीससे तीस पौंड तौलकी ये मछलियाँ निम्न बंगालके तालावोंमें अक्सर पकड़ी जाती हैं। सफरी एक प्रकारकी छोटी चमकीली मछली है जो सामान्यतः भारतवर्षके सभी नदीके सोतोंमें प्राप्त होती है। मछलियोंके सिवा सर्वत्र ही छिछले जलमें मेंढक (भेक[7], मण्डूक[5]) उछलते देखनेमें आते हैं।

विहग

कालिदासकी कथावस्तुमें पक्षियोंका एक मुख्य स्थान है। उनका परिचय अगले वाक्योंसे मिलता है। मयूर,[8] बर्ही,[9] शिखण्डी,[10] कलापी[11] और शिखी[12] पर्यायोंमें मोरका बार-बार प्रयोग होता है। भारतका मोर अत्यन्त चंचल पक्षी है, विशेष कर मेघासन्न पावसमें। इसके गोलाईमें घूम-घूमकर चलनेसे, कभी-कभी लगता है मानो यह नाच रहा है। मयूर अधिकतर वन्य अवस्थामें पाये जाते थे जो वनबर्ही[13] थे, किन्तु कभी-कभी मनोरंजन (क्रीड़ा मयूर[14]) के लिए पाले[15] भी जाते थे और भवन-शिखी[16]

---

१ वही, १.७३, १६.६१; ऋतु०, १.१६। २ रघु०, ७.४०। ३ शाक०, पृ० १८६–२०६। ४ कुमा०, ४.३६; मेघ० पू० ४०; ऋतु०, ३.३। ५ मोनियर विलियम्स: शाकुन्तल; नोट्स। ६ ऋतु०, १.१८, २.१३। ७ वही, १.२०। ८ रघु०, ३.५६, ६.६७, १३, २७, १४.६६, १६.१४; ऋतु०, १.१३, ३.१२। ९ रघु०, २.१६, १६.१४; ऋतु०, २.६। १० रघु०, १.३६। ११ वही, ६.५१—ऋतु०, १.१६। १२ मेघ० पू० ३२; ऋतु०, २.१४, १६, ३.१३। १३ रघु०, १६.१४। १४ वही। १५ मेघ० पू०, ३२। १६ रघु०, १४.१४।

कहलाते थे। ग्रीसके कई जातियोंके तीतरोंमें टिट्रापोर्डी जातिका तीतर चकोर[1] है। सुडौल शिर,बड़ी-बड़ी रतनार आँखों और पैरोंवाले चकोरकी एक-एक गतिसे स्फूर्ति टपक पड़ती है। समशीतोष्ण कटिवन्धों में वर्षाकालके बाद नये हरे-भरे उपवनोंमें इसके जोड़े मिलते हैं। कहा जाता है, यह चन्द्र-रश्मिका भक्षण करता है और विषको देखते ही इसकी आखें व्यग्र हो जाती हैं। चातक[2] एक प्रकारका कोकिल है जो केवल मेघ[3] जल पीता है। महाशय एस०पी० पण्डित[4]का विश्वास है कि "यह काल्पनिक पक्षी नहीं है, किन्तु एक छोटी चिड़िया है, छोटीसे छोटी पंडुकीसे भी छोटी। यह लम्बी पूँछवाला है और इसके अंगोंमें कृष्ण, पीत और श्वेत रंगोंका सम्मिश्रण है। इसके सिरपर सशर चापकी आकृतिका एक छत्र होता है, जिसके चोंचके ठीक पीछे आ जानेके कारण यह अपना सिर नहीं झुका सकता और इस प्रकार भूमिपर पड़ा पानी या कोई पीनेका पानी, जिसको पीनेके लिए चोंचका नीचे झुकना आवश्यक है, यह नहीं पी सकता। इसके छत्रके संबंधकी एक पौराणिक कथा गाँवोंमें प्रचलित है। पूर्व जन्ममें इसने एक अति तुच्छ अपराधके कारण अपनी पुत्र-वधूको निर्दयतासे प्यासी रखा था, उसीके दण्डमें इसे यह छत्र मिला है। यदि पंडितकी यह एकरूपता ठीक है, तो यह पक्षी पूर्वी उत्तर-प्रदेशमें विख्यात नाइनके सिवा और कुछ नहीं हो सकता। गृध्र[5] प्रसिद्ध गीध है। गरुड़[6] एक काल्पनिक पक्षी है। यह पक्षियोंका राजा और साँपोंका विकट वैरी माना जाता है। इसको विष्णुका वाहन कहते हैं। श्येन[7] भारतीय बाज है। सारिका[8] भारतमें साधारणतः पायी जाने-वाली पहाड़ी चिड़ियोंमें है। इसको लोग मैनाके नामसे पुकारते हैं।

---

१ वही, ६.५६, ७.२५। २ ऋतु०, २.३; रघु०, ५.१७, मेघ० पू० ६, उ० ५१। ३ ऋतु०, २.३। ४ विक्रमोर्वशीय, २. नोट्स। ५ रघु०, ११.२६, १२.५०; शाकु०, पृ० १८६। ६ रघु०, ११.२७, ५६। ७ वही, ११.६०। ८ मेघ० उ०, २२।

शुक[1] साधारण सुग्गा है। हारीन[2] को कुछ[3] लोगोंने एक प्रकारका कपोत कहा है, परन्तु वास्तवमें यह एक प्रकारका शुक है, जो मिर्च[4] की पत्तियाँ खाता है। पारावत[5] और कपोत[6] कबूतर हैं, शायद ये दो जातिके हैं, सम्भवतः पहला पेडुकी जातिका और दूसरा साधारण कपोत। कोकिल[7] भारतकी कोयल है। इसका रंग काला होनेके कारण इसका दूसरा नाम श्यामा[8] भी है। इसका नर पुंस्कोकिल[9] है। इसको अन्यपुष्ट[10] और परभृतकी[11] उपाधि मिली है क्योंकि इसका पालन-पोषण दूसरों के द्वारा होता है। ऐसी धारणा है कि कोयल अपने अण्डोंको कौवेके घोंसलेमें पालनार्थ छोड़ आती है। भारतीय कविता-काननमें भारतीय कवियोंने कोयलको वही स्थान दिया है जो बुलबुल (नाइटिंगेल) को यूरोपके काव्योद्यानोंमें मिला है। कोकिल-स्वर निरंतर किसी प्रसंगको प्रेरणा देता है और यह बहुत मीठा समझा गया है। इन पक्षियोंमें शुक[12], सारिका[13] और कपोत[14] पाले जाते और पिंजड़ोंमें रखे जाते थे।

नीर-सेवी पक्षी, नीरपतत्रिणः[15] भी थे, जो दृष्टिपात-योग्य हैं। 'हंस'[16] या राजहंस[17] वह श्वेत हंस है जिसकी चोंच और पैर लाल होते हैं।

---

१ विक्र०, पृ० ७४, वही, २.२२; शाकु०, १.१३। २ रघु०, ४.४६। ३ आप्टे: संस्कृत-इंगलिश कोष (स्टुडेंट-एडीशन), पृ० ६३६, C.9। ४ रघु०, ४.४६। ५ मेघ० पू० ३८, विक्र०, ३.२। ६ माल०, पृ० ८४। ७ विक्र०, ४.५६, ऋतु०, ६, १४, २०, २१, २२, २७। ८ मेघ०, उ०, ४१। ९ कुमा०, ३.३२, ४.१४; शाकु०, ६.४। १० ऋतु० ६.२५। ११ वही, ६.२८; अन्यभृत, रघु०, ८, ५९, ९.३४, ४३, ४७। १२ रघु०, ५.७४; विक्र०, २.२२। १३ मेघ० उ०, २२। १४ माल०, पृ० ३४। १५ रघु०, ९.२७। १६ वही, ४.१९, कुमा०, ८.८२; मेघ० पू० २३; ऋतु०, १.५, ३.१, २, ८, १०, १३, १६, १७, २४, २५; ४.४। १७ रघु०, ५.७५; मेघ० पू० २, ऋतु०, ३.२१।

इसको बहु-संख्यक दिव्य गुण दिये गये हैं और यह मानस-सरका[1] निवासी माना गया है। मादा राजहंसी[2] कहलाती है। बलाक[3] या सारस[4] बगला है और कारण्डव[5] बत्तखकी एक भिन्न नस्ल है। चक्रवाक[6], जो दूसरे शब्दमें रथांग[7] कहलाता है, युगल[8] रहनेके कारण द्वन्द्वचर पतत्री कहा जाता है। इसकी मादा चक्रवाकी[9] है। हिंदीमें ये चकवा और चकवीके नामसे जाने जाते हैं।

कलहंस ब्राह्मणी बत्तख हैं। कुररी[10] जलाशयके पास रहनेवाली एक एकान्त-प्रिय पंछी है, जो बारम्बार वेधक स्वरमें बोलती है और इतनी भीरु है कि किसी आशंकाका आभास पाते ही उड़ जाती है। मनुष्य के रुदनके[11] साथ इसकी बोलीका सादृश्य समझा जाता है। क्रौंच[12] और कंक[13] लम्बे पैर और गर्दनवाले बगलोंकी जातिके हैं, जो चीख भरी आवाज़में बोलनेवाले बड़े जल-पक्षी हैं। कंक-पत्र नामक बाणोंके पुच्छ[14] कंक-पक्षोंके परोंके योगसे बनते थे।

उपर्युक्त विहगोंके साथ हमें टिड्डियों, शलभों[15] (नाना प्रकारके परवाले जीव, जो दीप-शिखासे आकृष्ट हो उसपर गिरते हैं) और मधु-मक्षिकाएँ, छोटे अलि[16] और बड़े द्विरेफ[17], भृङ्ग[18], भ्रमर, मधुप[19] और मधुकर[20] के भी उल्लेख मिलते हैं।

---

१ मेघ० पू० २। २ रघु०, ६.२६,८, ५९। ३ मेघ० पू० ६; ऋतु०, ३.१२। ४ रघु०, १३.३०, ३३; मेघ० पू० ३१; ऋतु०, १.१६, ३.८, १६। ५ ऋतु०, ३., ८., विक्र०, २.२२। ६ कुमा०, ७.१५, ८.३२; शाकु०, पृ० ११०। ७ रघु०, ३.२४, १३.३१। ८ रघु०, ८.५६। ९ मेघ० उ०, २०। १० रघु०, १४, ६८; विक्र०, पृ० ९। ११ रघु०, १४.६८। १२ ऋतु, ८.४। १३ रघु०, २.३१। १४. वही। १५ शाकु, १.२८। १६ ऋतु०, ६.२८, ३५। १७ माल०, ३.५; ऋतु०, ३.६, ६.१, १४, १५। १८ ऋतु०, २.१४, १५, ६.२१। १९ ऋतु०, ६.२७। २०. वही, ६.२७, ३४; शाकु०, १.२०।

खण्ड ३

जनपदोंका एकीकरण

अब हम उन राज्य-विभागों—जनपदों[1]—के एकीकरणपर विचार करेंगे जिनका उल्लेख कालिदासने किया है। सबसे पहले हमें उन स्थान-नामों को लेना चाहिए जो रघुवंशके चतुर्थ सर्गमें रघु-दिग्विजयके प्रकरणमें आते हैं। यह ध्यानमें रखना यहाँ आवश्यक है कि, क्योंकि रघु दिग्विजयका प्रयास कर रहे थे—अन्य राजाओंके अजित देशोंपर स्वाधिकार स्थापित कर, जो इस पुस्तकके[2] अन्य प्रसंगमें राजाके लिए आवश्यक कहा गया है—इसलिए स्वभावतः ये देश जिनसे होकर वे जा रहे थे उनके आधिपत्यके बाहर थे। वे, एक प्रकार, रघुके साम्राज्यकी सीमापर स्थित छोटे-छोटे राज्य थे। दूसरे देशोंमें विजेताकी सेनाके बढ़ावका वर्णन करते हुए हमारा कवि यथार्थमें अप्रत्यक्ष रूपसे भारतवर्षकी एक आदर्श सीमा दे जाता है। इस विजय-वर्णनमें कालिदास अन्तर्वर्ती देशोंके नाम तक नहीं लेते किन्तु वे भारतवर्षको प्राकृतिक सीमाओंका उल्लेख करते हैं। इस प्रकार सर्वशक्तिशाली मध्यवर्ती अयोध्या राज्यसे कविका विजेता सुदूर पूर्वका मार्ग पकड़ता है और भारतकी पूर्वी सीमा बंगोपसागर[3] के तटपर पहुँचता है। पूर्वी जनपदके[4] निवासियोंमें कविने सुह्म[5], लड़ाकू नौ-बेड़ोंसे[6] सुसज्जित बंग और उत्कलवासियोंका[7] नामोल्लेख किया है। उनपर एक भी बाण छोड़ना नहीं पड़ा। उन्होंने रघुका आधिपत्य स्वीकार

---

१ रघु०, ४.३४, ५.६, ४१, ६.४, १५.४२; मेघ०, पू०, ४८। २ अजिताधिगमाय रघु०, ८.१७। ३ पूर्वसागरगामिनीं ४.३२। ४ पौरस्त्यान् वही, ३४। ५ वही, ३५। ६ वंगान्....नौसाधनोद्यतान् वही, ३६। ७ वही, ३८।

कर लिया और गज-सैन्य[1]के लिए विख्यात कलिंगका मार्ग उन्हें बतलाया।

सुह्म वंगके[2] पश्चिममें था। महाभारतका प्रसिद्ध टीकाकार नीलकंठ इसको 'राधा' बतलाता है और इसलिए यह बंगालका वह भाग था जो गंगाके[3] पश्चिममें पड़ता था और जिसमें तामलुक, मिदनापुर[4] और शायद हुगली और बर्दवान के जिले भी शामिल थे। बृहत्संहितामें[5] यह वंग और कलिंगके बीचमें अवस्थित माना गया है, जो ठीक वही स्थान है जहाँ कालिदासने इसे रखा है[6]। केवल थोड़ी भिन्नता यह है, कि कालिदास इनके अभ्यन्तर[7] एक संकीर्ण मैदानको रखते हैं जो उत्कलवासियोंका निवास-स्थान था और राजनीतिक विचारसे कलिंगोंकी भूमिसे भिन्न[8] होने पर भी भौगोलिक स्थितिसे केवल उसका एक उत्तरी भाग था। गंगा नदीके पूर्व और गंगा-ब्रह्मपुत्र[9]की तर-भूमिमें वंगोंका निवास था। सुह्मोंका देश इसके पश्चिम रखा जाता है। पोलेमी अपने ग्रंथ 'गंगारिदा'[10] में सुह्म और वंगके भागोंका हवाला देता ज्ञात होता है। जिस हवालेका हवाला[11] देती दिखती है 'पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' नामकी पुस्तक। रघुकी पूर्वकी यात्रामें यही जनपद सबसे पहले[12] मिलता है। तदुपरान्त आता है, वंगोंका देश। कवि उक्ति-भेदसे बतलाता है कि सौह्म बेंतोंसे भरी भूमिके निवासी थे और उन्हें अपने दैनिक जीवनमें नित्य यह देखनेको

१ वही, ४०। २ ३५ वें छन्दमें सुह्मका वर्णन है, जिसमें वंगोंका गंगा-तटपर होनेका उल्लेख है। ३ आनन्दभट्टका बल्लालचरितम्, खण्ड २, अध्याय १। ४ विल्सन। इन्ट्रोडक्शन टू मकेंजी कौलेक्शन, अध्याय १३८, १३९। ५ अध्याय १६। ६ मिलाकर छन्द ३५-३८ रघु० का०, ४। ७ रघु०, ४.३८। ८ मिलाकर छन्द, ३६-३८ वही। ९ वही, ३६। १० एस० एन० मजुमदार, मैकक्रीण्डल का एन्सेण्ट इण्डिया, पृ० १७३। ११ विल्फ्रेड एच० स्कौफका अनुवाद, पृ० ४७, पृ० ६३। १२ रघु०, ६.३५।

मिलता था कि किस प्रकार प्रवाहकी राहमें अकड़नेवाले वृक्ष नीचे वहा लिये जाते और विनम्र बेंत बचे रह जाते थे और इससे वे शक्तिशाली शत्रुके आक्रमण करनेपर सर्वापेक्षा निरापद कार्य (वेतसीं[1] वृत्तिम्) की शिक्षा ग्रहण करते थे।

बंग

बंगोंका[2] देश टिपेराके पश्चिममें था। इसको गौड़ या उत्तरी बंगाल मानकर भ्रम नहीं उपस्थित किया जा सकता, क्योंकि माधव-चम्पूमें दोनों देश स्पष्ट रूपसे पृथक् हैं और बंग वह देश कहा गया है जिसमें होकर पद्मा और ब्रह्मपुत्रकी धाराएँ प्रवाहित होती हैं। ब्रह्मपुत्रकी मुख्य धारा मैमनसिंह में होकर बहती है, इससे इसपर और भी प्रकाश पड़ता है। पार्जिटर बंगका एकीकरण उस स्थानसे करता है जहाँ आजके मुर्शिदाबाद, नदिया, यशोहर, राजशाहीके भाग, पबना और फरीदपुरके जिले अवस्थित हैं। यह एकीकरण निकटतम शुद्ध होता यदि इस सूचीमें मुर्शिदाबादको स्थान नहीं दिया जाता जो शायद बहुत दूर पश्चिम पड़ेगा। बंगोंको कालिदास गंगा-ब्रह्मपुत्र (गंगास्रोतान्तरेषु[4]) की लायी हुई मिट्टीसे बनी भूमिके निवासी मानते हैं जिससे ये सागर-सैन्य[5] रखनेवाले समुद्र-विहारी लोग हैं। सम्भवतः स्ट्राबो[6] और पेरिप्लस[7] दोनोंको गंगाके केवल एक ही मुहानेका पता होगा।

उत्कल

इसके पश्चात् उत्कलों[8]का वर्णन आता है। उत्कल अपभ्रंश है उत्कलिंगका, जिसका अर्थ है, कलिंगका उत्तरी (उत) भाग। उत्कल देश या ओड्र (उड़ीसा) ताम्रलिप्तके दक्षिणमें था और जिस प्रकरण-विशेषमें इसका उल्लेख हुआ है उसके अनुसार इसकी उत्तरी सीमापर

---

१ वही। २ वही, ३६। ३ एन्सेंट कंट्रीज इन इस्टर्न इंडिया : जे० ए० एस० बी० १८९७, पृ० ८५। ४ रघु०, ४.३६। ५ नौसाधनोद्यतान्, वही। ६ १५.१.१३। ७ स्कॉफका अनुवाद, पृ० ४७। ८ रघु०, ४.३८।

कपिश नदी बहती थी जो बंगाल[1]में मेदिनीपुरसे होकर बहनेवाली कसई नदी है। महाभारत-कालमें उत्कल कलिंगका एक अंग था और वैतरणी नदी इसकी उत्तरी सीमा[2] थी, किन्तु ब्रह्मपुराणमें वे दोनों दो अलग-अलग राज्य[3] हैं। कालिदास ब्रह्मपुराणकी परम्पराके[4] साथ स्पष्टतया सहमत दीखते हैं। इस प्रकार उत्कलका विस्तार उत्तरमें बंगालके मेदिनीपुरकी[5] कसई नदी तक और दक्षिणमें कलिंग तक था। उत्तरमें उत्कलसे लेकर दक्षिणमें गोदावरीके मुहाने तक बंगोत्खात[6]के किनारे-किनारे कलिंग[7] देशका फैलाव था।

जेनेरल कनिंघम इसको उत्तर-पश्चिममें इन्द्रावती नदीकी शाखा गोलिया और दक्षिण-पश्चिम[8]में गोदावरी नदीके मध्यमें रखते हैं और

कलिंग

राप्सनके अनुसार यह उत्तरमें महानदी और दक्षिणमें गोदावरी तक विस्तृत है। अतः गोदावरीको कलिंगकी सर्वसम्मत दक्षिणी सीमा माना जा सकता है। उत्तरमें यह उत्कलसे मिला हुआ था जिसके प्रमाण में हम कालिदास[9]को ही उपस्थित करेंगे। किन्तु हम उत्कल और कलिंग के बीचकी निश्चित सीमाके संबंधमें असंदिग्ध नहीं हैं। कनिंघमका गोलिया नदीको सीमा बनाना शायद शुद्ध माना जा सकता है। महेन्द्र[10] गिरि, जिसपर कलिंग राजका आधिपत्य[11] कहा जाता है, कलिंगका पर्वत है और कुछ उत्कलमें भी चला गया है, इससे इस सीमा-रेखाके

---

१ परजिटर : एन्सेंट कंट्रीज इन इस्टर्न इंडिया, जे० ए० एस० बी०, भी० ५६, पृ० १, १३७७, पृ० ८५। २ वन पर्व, खण्ड ११४। ३ खण्ड ४७, छन्द ७। ४ रघु०, ४.३८। ५ वही, ३८, ४०। ६ वही, ६.५६, ५७। ७ एन्सेंट ज्योग्रफी, पृ० ५१६। ८ एन्सेंट इंडिया, पृ० १६४। ९ रघु०, ४.३८। १० वही, ४.३९, ६.५४। ११ वही, ४.४०, ५४।

निश्चित एकीकरणका हमारा कार्य और भी कठिन हो जाता है। स्थूल दृष्टिसे इन्द्रावतीकी गोलिया शाखाको कलिङ्गका उत्तरी हद माननेमें आपत्ति नहीं हो सकती।

अब विजेता पूग वृक्षोंसे[1] भरे सागर-तटके साथ-साथ दक्षिणकी ओर अग्रसर होता है। वह कावेरीको[2] पार करता है, मसालोंकी भूमि मलाया[3] से होकर निकल जाता है और सुदूर दक्षिणमें उसकी मुठभेड़ होती है शक्ति-शाली[4] पाण्ड्योंसे। वह उनके प्रत्याक्रमणको असफल करता है और अंतमें ताम्रपर्णी तथा भारत-महासागर[5] से निकाले गये उनके सम्पूर्ण मोतियोंके भण्डारको प्राप्त करता है। पेरिप्लस,[7] प्लीनी[8], पोलेमी[9] और प्राय: सभी गवेषणाशील लेखकोंने भारत-महासागरसे मोती निकालनेके असंख्य हवाले दिये हैं। इसके उपरान्त अजेय-पराक्रम रघुने मलय और दर्दुर[10] पर्वतोंके बीच पालघाट-दरीसे पश्चिमी घाट (सह्य)[11]को पार किया; इसी मार्गसे सेनाएँ पूर्वी तटसे पश्चिमी किनारे[12] जाया करती थीं।

इन पाण्ड्योंका रघुवंश, ६.५९–६५ में एक दूसरा उल्लेख भी है। उरगपुर[13] उनका राज-नगर कहा जाता है। वैद्यके विचारमें उरगपुर करिकाल चोलके समय और उसके पूर्व, पाण्ड्यों की राजधानी था क्योंकि ईसाकी प्रथम शताब्दी में करिकाल चोलने पाण्ड्योंको परास्त किया और उरैयुरकी उपेक्षा कर कावेरिपत्तनमको अपना राजनगर बनाया।

पाण्ड्य

१ वही, ४४। २ वही, ४५। ३ वही, ४६। ४ दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। वही। ५ वही, ४९। ६ वही, ५०। ७ स्कौफका अनुवाद, पृ० ४६, ५९। ८ ९.५४,५८। ९ मजुमदार: मैकक्रिण्डलका टोलेमी, पृ० ५८–६०। १० रघु०, ४.५२। ११ वही, ५१। १२ विद्यालंकार: भारतभूमि, पृ० १०१। १३ अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं वही, ६.५९।

इसलिए वैद्यका विचार है कि यह उरगपुर वास्तवमें करिकाल चोल-द्वारा पराभूत होनेके पूर्व पाण्ड्योंका उरैयुर ही है और फलत: वह कालिदास को ई० पू० प्रथम शतक[1] में रखता है। नीचेके विचार-विन्दुओंके सामने इस तर्कके टिकनेकी सम्भावना नही। करिकाल चोलका समय भी अभी अनिश्चित है। इससे भिन्न एक और विचार-बिन्दु है। हमें ज्ञात है कि सेल्यन या नेडम सेल्म पाण्ड्यों[2] ने ईसाकी तीसरी शताब्दीमें पाण्ड्य-राज्यकी पुनर्वार स्थापना मदुरामें की थी जो तामिलके सर्वोत्तम कवियोंके काव्योत्कर्षका काल था। पाण्ड्योंके संबंधके दो उल्लेखोंमें[3] पहला उस समयका है जब हार खानेपर भी वे दुर्जेय[4] समझे जाते थे, किन्तु दूसरेसे कोई महत्त्व नहीं प्रकट[5] होता। पहली अवस्थामें रघुने उनको पराजित किया और उनसे कर प्राप्त कर उनका राज्याधिकार उन्हें फिर लौटा दिया। किन्तु दूसरे प्रसंगमें रघुके उत्तराधिकारियोंमेंसे एकके राज्य-कालमे वे फिर आते हैं, इस बार उनको कोई विशेषता नहीं दी जाती। क्या यह सम्भव है कि कविने दक्षिणापथको रंग-भूमिमें पाण्ड्योंके दो बार अवतीर्ण होनेकी ओर इंगित किया हो, एक बार करिकाल-द्वारा उनके पराभूत होनेके पहले, कथामें करिकालका स्थान रघुको देकर, और दूसरा तीसरी शताब्दीमें राज्याधिकारकी पुन: प्राप्तिके बाद ? हमें इस पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि वे तीसरी शतीसे पाँचवीं शती तक दक्षिणमें फिर उन्नत रहे जिसके पश्चात् उन्हें पुन: पल्लवोंके हाथ पराजित होना पड़ा। अत: कालिदास द्वितीय बार जब उनकी राजधानी उरगपुर के साथ उनकी चर्चा करते हैं तो उनके मस्तिष्कमें उनके पुनरागमनकी स्मृति जाग्रत अवश्य थी। यह उरगपुर मदुरा ही हो सकता है। कारण,

---

१ सी० वी० वैद्य : दी पाण्ड्याज एँड दी डेट आफ कालिदास दी अनल्स ऑफ भंडारकर इंस्टिच्यूट, २, पृ० ६३—६८। २ कृष्णस्वामी अयंगर : दी बिगिनिंग आफ साउथ इंडिया, हिस्ट्री, खण्ड ६। ३ रघु०, ४.४६—५० और ६.५६—६५। ४ वही, ४.४६। ५ वही, ६.५४—६५।

मदुराका तमिल नाम 'अलवय'[1]'सर्प', 'उरग' है। कान्यकुब्ज[2] (कोलेरून) नदीके तटपर अवस्थित नागपुरके साथ पाण्ड्योंके इस नगरका मल्लिनाथ-द्वारा एकीकरण, जो वास्तवमें उस नदीके किनारेका नागापट्टम है, केवल उरगपुरका एक पर्याय खोज निकालनेके लालचका परिणाम है। पाण्ड्य देश भारतके अत्यन्त दक्षिणमें था जो चोलदेशके दक्षिण-पश्चिममें पड़ता था। मलय[3] पर्वत तथा ताम्रपर्णी[4] नदी इसकी स्थिति निभ्रान्ति रूपसे निश्चित करते हैं। इसकी उतरी सीमा कौवेरी[5] तक पहुँची प्रतीत होती है जहाँसे यह दक्षिणमें सीधे भारत महासागर[6] तक विस्तृत है।

इसके उपरान्त रघुकी सेना भारतके सम्पूर्ण पश्चिमी समुद्री किनारे (अपरान्त[7]) पर विजय प्राप्त करनेके लक्ष्यसे पश्चिमी तट पर बढ़ चली।

अपरान्त—केरल

'कौटिल्य-अर्थशास्त्र'[8]के अपने भाष्यमें भट्ट-स्वामी अपरान्तका एकीकरण कोंकणके साथ करते हैं जब कि ब्रह्मपुराण[9] सूरपारकको भी शामिल करता है। किन्तु कालिदासका वर्णन इन दोनोंमें किसीके साथ भी सहमत नहीं। पूर्व-तटपर रघुकी विजयके बाद उन्होंने जो वर्णन दिया है उसके अनुसार वे स्वभावतया समुद्र-तटका समस्त पश्चिमीय अंचल रघुके साम्राज्यमें मिला देना चाहते हैं; अतएव अपरान्तका प्रयोग सामान्य अर्थमें हुआ है जिसमें पश्चिमका सारा किनारा शामिल है। एन० एल० डेकी यह मान्यता कि कालिदास अपरान्तको सीमाकी सहायक नदी, मुल-मुथ[10], मुरलाके[11] दक्षिणमें रखते है, नितान्त भ्रमपूर्ण

---

१ के० जी० शंकर: दी अनाल्स आफ भंडारकर इन्स्टीच्यूट, २ पृ० १८६—१९१। २ कान्यकुब्जतीरवर्तिनं नागपुरस्य, रघु० की टीका, ६.५६। ३ वही, ४.४६। ४ वही, ५०। ५ वही, ४५। ६ ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः वही ५०। ७ अपरान्तजयोद्यतैः वही, ५३। ८ कोषाध्यक्ष, पुस्तक २। ९ खण्ड, २७। १० ज्यो० डिक्स०, पृ० ९ (अपरान्त)। ११ वही, पृ० १३४।

है। कारण, मुरला केरलकी नदी है क्योंकि इसके नामका उल्लेख केरलों[1] के वर्णनमें आता है, और इसलिए भी कि यदि हम अपरान्तको मुरलाके दक्षिणका देश मानें तो हमें इसको केरल, यानी मालाबारके भी दक्षिणमें रखना पड़ेगा जिसका संकेत इसके पीछे आया है। किन्तु यदि हम सह्य (पश्चिमी घाट) तथा समुद्र (**सह्य-लग्न इवार्णवः**[2]) के मध्य स्थित समस्त भू-भागको अपरान्त मान लें, तो हमारी कठिनाईका हल हो जायगा क्योंकि उस अवस्थामें केरलका देश अपरान्तके दक्षिणमें होगा। अपरान्त-वर्णन ५३ वें पद्यसे आरम्भ होकर ५८वेंमें समाप्त होता है। केरलका वर्णन ५४-५५ में है। अतएव केरल, जहाँकी ललनाओंने रघुकी सेनाके आनेके भयसे भीत होकर अपने आभूषण उतार[3] फेंके थे, मालाबार था। सम्पूर्ण पश्चिमी तट, 'रघुवंश'का हमारा अपरान्त, अपनी भौगोलिक सीमाके अन्तर्गत कोंकणके तीन भागों, उत्तरमें दमनसे गोया तक, मध्यका कर्णाटक-तट और दक्षिण केरलको[4] सम्मिलित करता था। अतः केरल मालाबार था।

अपरान्त-विजय त्रिकूटमें आकर पूर्णता प्राप्त करती है, जहाँके तीन गिरिशृङ्ग जय विजय-स्तम्भ[5] के रूपमें प्रकट होते हैं। त्रिकूट वह स्थान मालूम होता है, जहाँसे समुद्र बहुत अधिक दूरीपर नहीं था। कालिदास बतलाते हैं कि त्रिकूटसे ही पारसिकोंके देशको जानेवाले स्थल तथा जल-मार्ग भिन्न होते थे। सम्भव है, नासिकके पश्चिममें खड़ी किसी पहाड़ीका नाम त्रिकूट हो। नासिकके समीप अजनेरीमें प्राप्त एक प्रस्तर-लेखमें (भारतीय विश्वकोष भाग २५, पृ० २२५–२) 'प्राच्य त्रिकूट विषय' का उल्लेख मिलता है।

भारतवर्षके दूर पश्चिममें अन्तिम उत्तरी छोर, त्रिकूटको हस्तगत कर लेनेके बाद पारसिकोंको[7] परास्त किया गया। यहाँ कालिदास पारसिकों

१ रघु०, ४.५४–५५। २ वही, ५३। ३ वही, ४.५४। ४ **विद्यालंकारः भारतभूमि पृ० ८४।** ५ रघु०, ४.५९। ६ वही, ६०। ७ वही, ४.६०।

के देशको जानेवाले दो पथोंकी ओर संकेत करते हैं—स्थल-पथ और दूसरा समुद्र-पथ जो, उनके "प्रतस्थे स्थलवर्त्मना"[1] की उक्तिसे प्रकट होता है। त्रिकूटके आस-पास ही साधारण पथिकोंका स्थल-पथ समाप्त हो जाता और पारसका जल-मार्ग यहाँसे आरम्भ होता था। यह उक्ति बड़े महत्त्वकी है और यह स्पष्ट करती है कि पारसिकोंकी भूमि फार्ससे भिन्न नहीं थी जिसका प्राचीन नाम पारस था। ऐसा लगता है कि यहीं से पारसके यात्री किसी-न-किसी नौकाश्रयको प्रयाण करते थे, जिनमें कल्याण-का नौकाश्रय सर्वापेक्षा निकट था। यह स्मरण रखना चाहिए कि कल्याण[2] आधुनिक कल्याणी (१९°१४′ उ०, ७३°१०′पू०) बम्बई पोताश्रयके पूर्वी किनारेपर, सुरपारक[3] आजका, सोपारा (१९°१५′उ०, ७२.°४१′पू०) और भृगुकच्छ,[4] पोलिमीका बारीगज, वर्त्तमान भ्रौंच (२१°४३′ उ०, ७२°५७′ पू०) सभी व्यस्त नौकाश्रय थे, जहाँसे पारस जाया जाता था। रघुके सामने दो मार्ग उपस्थित थे—समुद्रका सुगम पथ और थारका काटकर मरु-मार्ग। इनमेंसे दूसरेका ही अवलम्बन किया गया। मल्लि-नाथ कहता है कि ऐसा करनेका कारण रघुका धार्मिक दृष्टिकोण[5] था, किन्तु यह विश्वसनीय नहीं, क्योंकि कालिदासके कालके लगभग भारतीय सागरिक पाश्चात्य देशोंके साथ सम्पर्क रखते थे और शीघ्र ही करीब डेढ़ शताब्दी बाद, भारतीय महासागरके अनेक, द्वीपोंपर विजय प्राप्त कर

---

१ वहीं। २ कालिन, दी परिप्लस आफ दी एरीथेरियन सी, स्कौफकी टीका, ५. ५२। ३ सुपर, वही, मिलाकर स्मिथ : अशोक, १२९; जर्नल आफ दी बौम्बे ब्रांच आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग १५, पृ० २७२, भगवानलाल इन्द्रजी : एण्टिक्वारियन रिमेन्स ऐट सोपर एण्ड पदन०, बुर्गेस : एण्टीक्वीटिज आफ काथियावाड़ एण्ड कच्छ, पृ० १३१। ४ मजुमदार : मैकक्रिण्डलस टोलेमी, पृ० ३८, ४०, ४९, ७७, १५२, १५३; स्कौफकी परिप्लसपर टीका, पृ० २७, ३०, ३२, ३४–३८ प्रत्येक पृष्ठपर। ५ समुद्रयानस्य निषिद्धत्वादिति भावः रघु० पर; ४.६०।

उन्होंने उनको अपना उपनिवेश बना लिया था। कविकी अपनी रचनाओं-में[1] ही भारतीय जनोंके सामुद्रिक कार्य-कलापके प्रभूत प्रसंग हमें पढ़नेको मिलते हैं। तब क्या रघुके पास अपने सैनिकों, अश्वों और गज-दलको ले जानेके लिए कोई सामुद्रिक बेड़ा नहीं था जो स्थल-मार्गका अनुसरण किया? निश्चय ही, सुरपारक[2] राजनगरवाला अपरान्त या स्वयं कल्याण ही एक ऐसा बेड़ा सुसज्जित कर दे सकता था। अब केवल एक बात रघुके स्थल-मार्ग-निर्धारणकी पृष्ठ-भूमिमें रह जाती है—संकटमयी यात्रा कर शौर्य-प्रदर्शन। जब पाण्ड्य उनका गति अवरोध नहीं कर सके तो मरु-स्थलके लिए यह कब शक्य था। ऐसा प्रतीत होता है, रघु रुक गये, सोचा और फिर स्थल-मार्गसे प्रयाण करनेका निश्चय किया। कविके "प्रतस्थे[3] क्रियासे दो संकेतितार्थ उद्भूत होते हैं, पहला यह कि पारसिकोंके देशको जानेवाला यह लम्बा मार्ग था और रघुको यहाँसे अपनी यात्राका पुनरपि श्रीगणेश करना था और दूसरा, जो पहलेका ही फलितार्थ है, यह कि उन्हें निश्चित वेगसे बढ़ाव करना था। परिस्थितिको एक लौह संकल्पकी आवश्यकता थी जिस संकल्पको करके विजेताने थार तथा सक्करको पार किया। बोलनके दर्रेसे होकर वह कोणक अमरन पर्वतकी अधित्यकामें पहुँचा और गिरिष्क तक चक्कर काटकर द्रुत वेगसे दक्षिण पारसकी सीमापर जा खड़ा हुआ। यहीं उसकी मुठभेड़ हुई, लम्बी दाढ़ीवाले पारसिक अश्वारोहियोंके साथ, जिनको पराजित किया और उन्होंने अपनी शिरःच्छद पगड़ियाँ उतार क्षमा याचना की। यह फारस-निवासियोंका क्षमा-याचनाका प्रकार था। इसी निष्कर्षके प्रमाण-स्वरूप एक दूसरा भी लक्षण है। कल्पना करें, रघुने जल मार्गको अच्छा समझा। वह कहाँ स्थलपर उतरें? मकरन या पारसके समुद्र तटपर? ऐसी अवस्थामें पारसिकोंको इनके आँगन फार्समें पराभूत करना होता। कुछ

---

१ मिलाकर समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो शाकु०, पृ० २१६, नौव्यसने (शिपरेक) विपन्नः वही, रघु० में सामुद्रिक वर्णन, १३.२—१८।
२ भण्डारकरः हिस्ट्री आफ दी डेकन, सेक्सन ३, पृ० ६। ३ रघु०, ४.६०।

लोगोंका यह कथन नहीं स्वीकार किया जा सकता कि भारतकी उत्तर-पश्चिम सीमापर अवस्थित फारसके निवासियोंपर विजय पानेके लिए रघु पहले पारसके तटपर अवतीर्ण होते और फिर उत्तर-पूर्व अर्थात् भारतकी ओर प्रत्यावर्तन करते।

यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि क्यों कालिदास अपरान्त और पारसिकोंके देशके मध्यवर्त्ती देशोंके संबंधमें मौनका अवलम्बन करते हैं ? हमें कुछ विशिष्ट विचार-विन्दुओंको स्मरण रखना होगा। पिछली पँक्तियोंमें हमने देखा है, कालिदास रघुकी दिग्विजयमें भारतकी प्राकृतिक और आदर्श सीमा-रेखाओंको खींचनेका प्रयत्न कर रहे हैं। पोलेमीने भारतवर्षमें उस प्रदेशको भी रखा था जो सिन्धुके बिलकुल पास पश्चिमम था, जिसमें उन देशोंके अधिकांश भाग थे जो आजकल बलुचिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान कहलाते हैं। उसका ऐसा रखना सुसंगत था, क्योंकि सिन्धुपारके बहुतसे स्थानोंके नामोंकी व्युत्पत्तियाँ, जैसा उत्तर भागसे ज्ञात होगा, संस्कृत मूलसे हुई है और इन देशोंका शासन आदि-कालसे मुसलमानों की विजय तक भारतीय राज-कुलोंके राजाओं-द्वारा होता आया था। सिन्धुके मुहानेसे कन्दहार, गजनी, काबुल और बलखके निकटवर्त्ती भागों और उनके आगेसे होती हुई यदि कोई रेखा खींची जाय तो पोलेमीकी मानी हुई पश्चिमी सीमाको एक प्रकार प्रकट कर सकेगी। परोपमिसस पर्वत-मालाके दक्षिणमें विस्तृत प्रदेशका निवासी परोपनिषदाई था जो आधुनिक मध्य हिन्दुकुश है। वह हमें परोपमिसस पूर्वीय हदसे परिचित कराता है जो ऑक्सस नदीके उद्गमके दक्षिणमें कौकेशियन पर्वत (हिन्दू-कुशके पूर्वी अंश) से होकर खींची गयी रेखा है और जो अक्षांश ११९°' तथा देशान्तर ३९°[१] के बीचमें स्थित है। भारतवर्षकी उत्तरी और उत्तरी-पश्चिमी सीमा अंकित करनेके लिए यदि पोलेमी हिन्दूकुश और ऑक्ससके उद्गमके विषयमें सोच सकता था, तो कालिदास-जैसे अक्खड़

---

१ मजुमदार : मैकक्रिण्डल्स पोलेमी, पृ० ३३–३४।

राष्ट्रवादीको पूर्ण अधिकार था कि वह उनको प्राकृतिक सीमाका स्थान दे। इसके पश्चात् समुद्रगुप्तका सिंहल और बल्ख़के[1] साथ आवागमन का संबंध रखना और चन्द्रगुप्तका वैक्ट्रियाकी भूमिपर वास्तविक अधिकार होनेसे, जिसका प्रमाण है, मेहरौलीका लौह-स्तम्भ, पारस, हिन्दूकुश और ऑक्ससकी तराई स्वभावतः दूरकी उत्तरी और उत्तरी पश्चिमी सीमाएँ निर्माण करते थे।

ऐसा होनेसे ही कालिदास पश्चिमी समुद्र-तट अपरान्तके आगे अपने काव्य-नायककी पश्चिमाभिमुख प्रगतिको रोक देते हैं। वंगोपसागर पर खड़ा पूर्वी किनारा, कुमारी अन्तरीपके साथका मलायाका स्पर्श करता हुआ ठेठ दक्षिणी तट और अपरान्त तो पराजित हो ही चुके थे और अफ़ग़ानिस्तान और हिन्दूकुश सदासे उत्तरी-पश्चिमी सरहद पर रहते आये थे। ऑक्ससके किनारे रहनेवाले हूँण कुछ दूर पड़ते थे। किन्तु उनके पड़ोसमें उत्पात मचानेकी कहानियाँ अवश्य भारतकी सीमाके भीतर वहाँके निवासियोंके कानोंतक पहुँच चुकी थीं। उनको दण्ड देनेके लिए कवि अपने नायकसे पासकी सीमा पारकर उनपर आक्रमण करानेके लोभको संवरण नहीं कर सका। तब वह दक्षिण-पूर्वको घूम जाता है, कम्बोजपर विजय-पताका फहराता है और नीचे मार्गमें पड़नेवाले किरात, उत्सव-संकेत और किन्नरोंकी भूमिको अपने राज्यमें मिलाता और आसाम (कामरूप) के राजाकी भेंट स्वीकृत करता हुआ हिमालयको पार करता है, और इस प्रकार भारतीय सीमाको पूराकर उसे सुरक्षित बनाता है। इसीके लिए अपरान्तकी विजयके पश्चात् रघुको उत्तर और उत्तर-पश्चिम की ओर देखना पड़ता है। और क्योंकि मालवा, सौराष्ट्र और थार भारत की प्राकृतिक चहारदीवारीके भीतर स्थित है, कालिदास को रघुसे उनपर विजय करानेकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु पारसिकोंको पराभूत करना ही था, क्योंकि वे मार्गमें पड़ते थे और ऑक्ससकी तराईमें नये बसे हूँणोंके

---

१ स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, चौथा एडीशन, पृ० ३०६।

साथ युद्ध-रत थे। युद्ध-परायण इन दोनों जातियोंको उसकी शूरताका स्वाद चखना ही पड़ेगा, जो असाधारण वीर था और इस बातको प्रमाणित करनेपर तुला था कि वह भूमि उसकी अपनी थी।

आजकी तरह पारस उस कालमें भी 'द्राक्षावलयभूमिषु' अपनी अंगूर-लताओंके[1] लिए प्रसिद्ध था। आजकल भी बलुचियोंकी भाषामें यह शब्द छोटे-दानोंवाली अंगूर-लताके साथ व्यवहृत होता है। अरियानाका वर्णन करते हुए विल्सन कहता है, "मशदके पाससे हिरातके पड़ोसतक फली भूमिमें एरियाको सीमाबद्ध किया जायगा। एरियाकी यह स्थिति स्ट्राबो-द्वारा कथित स्थितिसे बहुत कुछ मेल खाती है। आकार-प्रकार और उपजमें मार्जियनाके साथ इसका सादृश्य, इसके पर्वत और अंगूर-लताओंसे हरी-भरी सुजला तराइयाँ, अलबुर्जकी चौरस शृङ्खलाके दक्षिण और उत्तरमें इसकी समान दूरी और इसकी उत्तरी सीमा पर हिरकानिया, मार्जियना और बैक्ट्रियना ओर दक्षिणमें ड्रांजियना[2]—इन सारी बातोंसे एरियानाका प्रदेश यहीं स्पष्ट होता है।" कालिदासने पारसको बहुमूल्य चर्म (अजिनरत्न)[3] के लिए भी उल्लेख्य माना है और पेरिप्लसकी भी यही मान्यता है, जिसके लेखसे स्पष्ट है कि पारसके आस-पासके स्थानोंसे अडोलिसमें चमड़ेके कुर्त्तकका आयात होता था। इसी संबंधमें स्कॉफ लिखता है, "आरम्भमें ये रुखड़े चर्मके बने होते थे जिनपर बाल स्वाभाविक रूपमें छोड़ दिये जाते थे; कालान्तरमें मेसोपोटामियामें बज़नी ऊनी तन्तुओंसे उनकी नक़ल तय्यार की जाने लगी जो आधुनिक आवरण-कुर्तक (ओवर कोट) के समान थी और उसका प्रभूत परिमाणमें निर्यात[4] होता था।

पारससे हिन्दूकुशके किनारे-किनारे रघु सीधे उत्तर (कौबेरीम्) की ओर बढ़े और हूणोंको मारने-गिराते आक्ससकी तल-भूमिकी केसरकी तराईमें जा निकले।

---

१ रघु०, ४.६५। २ अरियन एण्टिक्विटिज, पृ० १५०। ३ रघु० ४.६५। ४ दी पेरिप्लस आफ दी एरीथ्रियन सी, पृ० ७०।

उत्तर दिशामें प्रयाण कर रघुने ऑक्सस और उसकी सहायक नदियों के तटवर्त्ती-स्थानोंवाली हूँणोंकी निवास-भूमिमें पदार्पण किया। वांक्षु नदीका ऑक्ससके साथ एकीकरण करते हुए

हूँण

सिंधुके लिए वाक्षुके प्रयोगका कारण लिखा जा चुका है। हमने क्षीरस्वामीके (अमर-कोषका टीकाकार जिसका ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धका यह लेख है) उद्धरण का भी हवाला दिया है जिसमें उसने हूँणोंकी निवास-भूमि का प्रसग लिखा है, जो रघुकी दिग्विजयमें परास्त हुए थ। दृष्टान्त-रूपमें उसने रघुवंशसे (रघु-विजयका प्रकरण) इन पंक्तियोंको उद्धृत किया है—"दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान्"। हमें यहाँ देखना है कि हूँणोंका वास्तविक निवास-स्थान कहाँ था।

हूँणोंका मध्य-एशियामें फैलनेका इतिहास बड़ा मनोरंजक है। पौ-वर्त-टांजोंके राज्य-कालमें (ई० ४६) दुर्भिक्षके कारण हूँण-देश और उनके साम्राज्यको बड़ी क्षति पहुँची। अभी वे संकटमें ही थे, कि पूर्वी तातारों और चीनियोंने उन्हें उनके देशसे निकाल बाहर किया और पश्चिम और दक्षिणकी ओर उनको धकेल दिया। इस प्रकार चीनके उत्तरी भाग तातारको छोड़कर उन्होंने काशगर और अक्षुके प्रान्तोंमें प्रवेश किया और वहाँसे वे कास्पियन सागर और पारसकी सीमाकी दिशामें बढ़ते चले गये। वे टे-ले या टि-ले कहलाते थे। क्योंकि वे ऑक्सस (आब-जल) के तटपर रहते थे वे 'आब-तेले'के नामसे सम्बोधित किये जाते थे। उनकी नामावलीमें 'आबतेलित'की संज्ञा इसी मूलसे व्युत्पन्न हुई है। इसी नामके अपभ्रष्ट होनेसे यूफ्थालित तथा नेफ्थालित[१] नामोंका

---

१ एम० डेग्युन्स : हिस्ट्वायर डेस हन्स, टोम १, पार्टि १, पृ० २१६, डा० जे० जे० मोदी-द्वारा अंकित अर्ली हिस्ट्री आफ दी हुनाज एण्ड देयर इनरोड्स इन इंडिया एण्ड पर्सिया, पृ० ५४५। २ वही, १, भाग २, पृ० ३२५—२६, उसीमें अंकित, ५६५।

सृजन हुआ है। ताबारीके मतानुसार 'हैतालित' शब्द 'हैतल' से निकला है जिसका अर्थ बोखारी-भाषामें 'एक बलिष्ट पुरुष'[1] का है। महाशय ऑरल स्टेन लिखते हैं, "पाँचवीं शताब्दीके मध्यमें शायद तुर्की कुलकी इस जातिने (हिपथालित) ऑक्ससकी तराईमें एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना की थी। वहींसे उन्होंने नीचे गांधार और दक्षिणमें सिन्धु पार तक, और पूर्वमें खोतान तथा करशहर तक अपनी विजय-पताका फहरायी।"[2] महाशय पी० एम० सिक्स, उसी प्रकार, कहते हैं—"इस शक्तिशाली जातिने ई० ४२५ के लगभग ऑक्ससको पार किया और पारसिक इतिहास-लेखकोंके अनुसार उनके आक्रमणकी खबरसे चारों ओर आतंक फैल गया।"[3] इस सम्बन्धमें एम० चैगनेसका विचार भी मिलता-जुलता है। वह लिखता है, "पाँचवी शताब्दीके मध्यकी ओर उन्होंने ऑक्ससकी तराईमें एक महान् शक्तिकी स्थापना की और तबसे वे पारसिक साम्राज्यके अत्यन्त शत्रु सिद्ध होते रहे।"[4] ई० ३५० जैसे ईस्वी संवत्के आरम्भ-कालमें भी उनका आक्रमण पारस पर हुआ था, किन्तु वेसापुर महान्[5] के द्वारा पराजित कर दिये गये थे। उन्होंने ४२५ ई०में पुनः पारसपर धावा किया और वेहरामगौरने उनको हराया (वेहराम ५, ई० ४२०–४३८) और उन्हें ऑक्ससको ईरान और अपने देशके[6] मध्यकी सीमा स्वीकार करनेपर विवश होना पड़ा। चीनी ऐतिहासिकों के विचारमें भी पाँचवीं शताब्दी[7] के आरम्भमें श्वेत हूँण ऑक्ससके किनारे के देशमें पहले पहल प्रकट हुए। सुतरां, कालिदास-कालके लगभग हूँणों का निवास ऑक्ससकी सहायक वकशाव और अक्शाव नदियोंके दो-आबमें

---

१ तबरि पर जोल्लेबर्ग, २, पृ० १२८, अर्ली हिस्ट्री आफ दी हुन्समें अंकित; पृ० ६५६। २ एन्सेण्ट खोटन, खण्ड ३, पृ० ५८। ३ हिस्ट्री आफ पर्सिया, भाग, १, पृ० ४६८ ४६९। ४ टुर्रस आसिडेण्टौक्स, पृ० २२३। ५ एस० कृष्णस्वामी आयंगर : दी हुन प्रोब्लेम्स इन इण्डियन हिस्ट्री, इण्डियन एण्टिक्वोरी, १९१९, पृ० ६६। ६ मोदिः अर्ली हिस्ट्री आफ दी हुन्स; पृ० ५६६–६७। ७ वही।

था। इसको क्षीरस्वामी[1] और वल्लभ[2] दोनों सिद्ध करते हैं। सिन्धुके सदृश ऑक्ससकी तराई भी केसरके फूलोंकी बहुतायतके लिए प्रसिद्ध थी, जिनके पुष्प-दल[3] रघुके अश्व-सैन्यके अश्वोंके अयालमें उलझ पड़ते थे। क्षीरस्वामी[4] इसका हवाला देते हैं जैसा ऊपर संकेत किया गया है। कवि अपने नायककी विजय-पद्धतिमें भारतकी सीमाओंका वर्णन कर रहा है, इसको दिखानेके लिए पर्याप्त प्रमाण उपस्थित किये जा चुके हैं और उत्तर-पश्चिमके हदके लिए विदेशी भूगोलवेत्ता उसका पूर्ण रूपसे समर्थन करते हैं। आचार्य एस० कृष्णस्वामी अयंगर उसी निष्कर्षपर आते हैं। वे कहते हैं, रघुकी यह विजय भारतके पश्चिम और उत्तर-पश्चिममें बाह्य-सीमाका निरूपण करती है। इस निरूपणका समय है अखेमेनियम काल से, यदि युवांग च्वांग (ह्यून संग)[5] के काल तक नहीं, तो ईसाकी तीसरी शताब्दीके मध्य तक।

हूँणोंके बाद जिनके साथ मुठभेड़ हुई वे स्वभावतः उनके आसन्न प्रदेशके निवासी थे। क्योंकि हूँण ऑक्ससकी तराईमें रहते थे और कालिदास रघुके प्रत्यावर्त्तन करनेकी बात नहीं लिखते, इसलिए कम्बोजोंका देश अफगानिस्तानके उत्तर-पश्चिम भागमें नहीं पड़ सकता।

कम्बोज

उनका निवास कहीं अन्यत्र ही खोजना पड़ेगा। यहाँ हमें एक बड़ी आवश्यक सूचना प्राप्त होती है जिससे कम्बोजकी स्थिति ज्ञात होती है और पारसिकोंके हूँण होनेकी हमारी धारणाको बल मिलता है। हूँणोंके उपरान्त

---

१ बह्लीकदेशजं बाह्लीकं यद्रघोरुत्तरदिग्विजये—दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुंकुमकेसरान्— (बाह्लीकं सैफ्रौन पर टीका, के० जी० ओझाके क्षीरस्वामी प्रकाशनमें, पृ० ११०) ऑक्ससकी घाटीमें तब यह बैक्ट्रियाका स्थल होगा। २ वँक्षुके सिन्धुके लेखनको मानने से। ३ रघु०, ४.६७। ४ क्षीरस्वामी-द्वारा, पृ० ११० ऊपर अंकित। ५ दी हूँण प्रोब्लेम इन इण्डियन हिस्ट्री, आई० ए०, १९१९ पृ० ६९।

कम्बोजोंको परास्त कर, कहा जाता है, रघुने हिमवानका आरोहण[1] किया। रघुकी विजयके इस भागमें महापर्वत-शृङ्खलाका उपस्थित होना एक ऐतिहासिक महत्त्वको स्थान देता है। विजेताने अवश्य ऐसे मार्गको पकड़ा होगा जिससे हिमालयकी कठिनाइयोंसे बच सके। यह तभी सम्भव था यदि वह पारस और अफ़ग़ानिस्तानसे होकर प्रयाण करता। हमें स्मरण रखना चाहिये कि पारसिक और हूँण साम्राज्य एक दूसरेसे मिले हुए थे और भारतकी सीमा दोनोंका स्पर्श करती थी। अफ़गा-निस्तानका अधिकांश भारतमें था और उसका कुछ भाग ही पारसिक साम्राज्यमें प्रविष्ट था। पारसिक और हूँण राज्य निरन्तर एक-दूसरे के प्राणके ग्राहक थे। कालिदास-कालमें एक-मात्र विजयश्री पारसिकोंके पक्षमें आई। बेहराम गोरने (वेहराम ५) ४२५ ई० में एक महा-युद्धमें हूँणोंको हराया और ऑक्ससको दोनों साम्राज्योंके मध्यकी सीमा निश्चित किया। इस प्रकार पारसिकोंको उनके अपने देशमें पराजित करनेके अनन्तर रघुके लिए स्वाभाविक था जो उन्होंने काश्मीरके कुछ उत्तर-पश्चिममें स्थित ऑक्ससकी तराईवाले हूँणोंके देशको पार किया और इस क्रमसे विजेता हिमवानके उत्तर और उत्तर-पश्चिम, बिना उसको पार किये जा पहुँचा। किन्तु घर लौटते समय भारतीय देशोंमें प्रविष्ट होनेके पूर्व उसे इस विशाल पर्वत-शृङ्खलाको कहीं-न-कहीं अवश्य पार करना पड़ा। प्रत्यावर्त्तनके समय हिमालयको पार करनेके पहले कम्बोजों पर विजय प्राप्त हो चुकी थी, इसलिए वह स्थान जहाँ हिमालय पार किया गया हिमालयके उस पार तो अवश्य था किन्तु अफ़ग़ानिस्तानमें नहीं; जैसा ऊपरके कारणोंसे स्पष्ट है। यहाँ एक और तथ्य उल्लेख्य है। यदि रघुने दक्षिण ओरसे हिमालयका आरोहण किया होता, तो वे निस्सन्देह उस अवस्थामें चीनी तुर्किस्तानके दक्षिण अथवा दक्षिण-पश्चिमकी भूमि-में अवतीर्ण हुए होता[1]!

---

१ 'ततो गौरीगुरुं शैलमारुरोहाश्वसाधनः' रघु०, ४.७१; कम्बोज ६९–७० छन्दोंमें समाप्त हो चुके थे, वहीं।

उत्तरी-पूर्वी अफ़ग़ानिस्तानमें कम्बोजोंकी बस्तीकी सम्भावना इस प्रकार बहुत दूर हो जानेपर हम इसको काश्मीरके उत्तर और उत्तर-पूर्व में अन्वेषणके लिए अग्रसर होते हैं। कल्हण कम्बोजको काश्मीरके[1] उत्तरमें रखता है। यह सच है, किन्तु हमें अधिक निश्चिन्तताके साथ उसकी स्थिति निश्चित करना है और ऐसा करते समय हमें अपने पैर पीछेकी ओर ले जाने पड़ेंगे और अपने पूर्वके तर्कोंके कुछ अंशोंकी आवृत्ति भी करनी पड़ेगी। रघुवंशमें हूणोंके[2] बाद कम्बोजोंका वर्णन आता है। अब हूणोंका निवास उस प्रदेशमें रखा गया है जिसको पारसिक, हैतल और अरबवाले खुतल कहते थे। अरबी भौगोलिकोंके मतमें ऑक्ससकी सहायक आधुनिक वक्श और अक्सु नदियोंके बीचका यह प्रान्त था। धाल्चा-भाषा-भाषी देशकी[3] उत्तरी सीमा इसकी भी सीमा है। कम्बोजों के बाद गंगा[4]-शीकरोंको स्पर्श करनेवाले मरुत्का वर्णन आता है। एक प्राचीन विश्वास है कि हिमालयके मध्य भागमें अनवतप्त नामक एक सरोवर है जहाँसे प्राचीनोंकी धारणाके अनुसार, उत्तरमें सीता या यारकन्द, पश्चिममें ऑक्सस, दक्षिणमें सिन्धु और पूर्वमें[5] गंगा निकलकर बहती थीं। यारकन्द कम्बोजकी पूर्वी सीमापर बहती थी और इस प्रकार उस सरोवरके उत्तरसे पूर्वकी ओर बढ़नेवाली रघुकी सेनाको पारम्परिक धारणाओंके आधार पर ही कहें, तो कह सकते हैं, कि वह गंगा-तटपर पहुँच जाती। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कालिदासकी गंगा काश्मीरके उत्तरमें बहनेवाली इस नामकी नदियोंमेंसे नहीं है क्योंकि वे सभी भीतरी हिमालय-श्रेणीके निचले भागसे निकलनेवाली हैं। कम्बोज का पीछा करती रघुकी सेना उनको पारकर उतरती[6] है। यहाँ स्पष्ट

१ राजतरंगिणी, औरेल स्टेइन-द्वारा, ४.१६३–१७६, पृ० १०४ २ रघु०, ४.६८–७०। ३ जयचन्द्र विद्यालंकार : भारत, पृ० ३०२। ४ 'गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे' रघु०, ४.७३। ५ अभिधर्मकोश, ३.५७; वाटर्स; यान चांग, १, पृ० ३२–३५। ६ रघु०, ४. ७६–८१।

ही जिस प्रसंगका संकेत हिमालयकी ओर है वह काराकोरम पर्वत-मालासे है। इसलिए रघुका मार्ग कम्बोजकी पूर्वी सीमापर सीता नदी (यारकंद) की तराईसे काराकोरम-घाटीके पूर्व तक है, और फिर दक्षिण-पूर्वकी ओर। अनवतप्त सरोवर कहाँ है, नहीं मालूम। किन्तु कहा जाता है कि इसके दक्षिणमें सिन्धु और उत्तरमें सीता (यारकन्द) निकलीं। यदि शियोक सिन्धुकी मुख्य धारा हो तो काराकोरम-शृङ्खलाकी सरकनेवाली बर्फ़की चट्टानोंका इस सरोवरसे अभिप्राय हो सकता है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें यहाँसे सिन्धुका दक्षिण और सीताका उत्तर बहना कहा जा सकेगा। किन्तु इन हिम-चट्टानोंसे ऑक्सस और गंगाका निकलना संभव नहीं दिखाई पड़ता। एक बात है, कि नदियोंके मार्ग प्रायः परिवर्त्तनशील होते हैं और यह बिलकुल असम्भव नहीं कहा जा सकता कि जोरकुल-सरका जल पूर्वकी ओर बहता हो और चकमकितनका आजके ठीक प्रतिकूल पश्चिम दिशामें। ऐसी दशामें सम्भव है कि पुरातन कालमें काराकोरम की हिम-चट्टानोंसे निकलकर कोई नदी पूर्वकी ओर बहती हो जिसको भ्रमवश गंगाकी[1] शीर्ष-धारा समझा गया हो। ऐसा भ्रम हो सकता है, क्योंकि गत शताब्दीके उत्तरार्द्ध तक आधुनिक भौगोलिक निश्चय नहीं कर सके थे कि तिब्बतकी साँपू नदी किसकी शीर्ष धारा है, ब्रह्मपुत्र, इरावदी या सालवीन[2] की। यह एक मनोरंजक बात है कि एक प्रसिद्ध वाणिज्य-पथ लद्दाख और पूर्वीय काश्मीरसे होकर रण-बांकुरे दारादास[3]-द्वारा अधिकृत प्रदेशके पास तिब्बतमें जाता था। रघुने अवश्य ही और पूर्वका मार्ग लिया होगा क्योंकि कवि दरदसका उल्लेख नहीं करता और इससे भी बढ़कर यह कथन है कि उसका सैन्य गंगा-पवनके स्पर्श[4] से श्रमरहित और सुस्थ हुआ था। अब, यदि गंगाके संबंधकी बातें अक्षरशः सत्य मान ली जायँ, तो रघुकी राह गंगोत्री और केदारनाथकी घाटियोंसे होकर

---

१ जयचन्द्र विद्यालंकार : भारत०, पृ० ३०४। २ वही, पृ० ३०४—३०५। ३ आई० ए०, १९१९, पृ० ६६। ४ रघु०, ४.७३।

गंगा और यमुनाके दो-आब तक गई होगी, जिसकी पुष्टि कैलाश पर्वत[1] के दृश्योंके उल्लेखसे होती है। इस प्रकार यदि बदख़्शाँके कुछ भाग और यारकन्दकी तराईके घाल्चा-भाषा-भाषी प्रदेशके साथ कम्बोजका एकीकरण उपयुक्त हो, तो यह उपयुक्तता दूनी हो जाती है जब हम देखते हैं कि कम्बोजों[2]से रघुको मिले अश्वोंकी सुन्दर नस्ल और गज-बन्धनके लिए प्रयुक्त अखरोट वृक्ष (अक्षोट)[3] आज भी बदख़्शाँ और उसके पासके देशके कुछ विशिष्ट लक्षणोंमें हैं। उसी प्रकार कालिदासका यह कथन कि कम्बोजोंने रघुको हीरे और सुवर्ण[4] भेंट किये हमारे एकीकरणकी यथार्थताकी ओर संकेत करता है क्योंकि आजकल भी घाल्चा-भाषा-भाषी मुनजां नगरके पास मरकत और वैदूर्य मणियोंकी खानें हैं। टभरनियर[5] कहता है, "काश्मीर पारका वैदूर्य उत्पन्न करनेवाला एक पर्वत" जिसको वौल[6] बदख़्शाँमें फरगामुके निकट ३६°१०' उ०. ७१°प० रखता है। इसलिए घाल्चाभाषी देश और काश्मीरके उत्तर-पूर्वमें ही कम्बोज अवस्थित था। लौंगमैनकी उच्च श्रेणीकी—भारत—मानचित्र[7]—पुस्तकके २५० ई० पू० के भारतके ऐतिहासिक मानचित्रमें कम्बोजको काश्मीरके पूर्व और हिमालयके उत्तर दिखाया गया है, जिसके साथ कालिदासका कम्बोज पूर्ण रूपमें सादृश्य रखता है।

---

१ वही, ८०। २ सदश्वभूयिष्ठाः वही, ७०। यह मनोरंजक है कि वक्श बदक्शनके एक भागका नाम था; यह खल्लनसे मिला और अपने घोड़ोंके लिए प्रसिद्ध था। वख या वखन पूर्वी बदक्शनके एक ज़िलेका नाम है। मिलाकर, ए० हौदुम स्किण्डलर: आई० ए० १८, पृ० ११४। ३ वही, ६९। ४ द्रविणराशयः वही, ७०। ५ ट्रैवेल्स इन इंडिया, २. पृ० २५। ६ इकोनोमिक ज्योलोजी आफ इंडिया, पृ० ५२९। पूर्ण सूचनाके लिए, होल्डिचका, गेट्स आफ इंडिया, पृ० ४२६—५०७। ७ जोर्ज फिलिप-द्वारा सम्पादित, एफ०, आर०, जी० एस०, पृ० २, चित्र, नं० ए०।

पूर्वकी ओर अग्रसर हो और हिमवानको पार कर रघु पूर्वाभिमुख प्रयाण करते ब्रह्मपुत्रकी तराईमें पहुँचते हैं और यहाँ उन्हें हिमालयके उपत्यका-निवासी किरात[1], उत्सव-संकेत[2] और किन्नर[3] मिलते हैं। मरयुल (मक्खन

किरात

का देश, जैसा कि मध्ययुगके तिब्बती लद्दाखको कहते थे), जस्कर और रुपशुके साथ किरातोंका एकीकरण करना चाहिए। भारतीय साहित्यमें किरातोंका प्रयोग सामान्य अर्थमें[4] किया गया है। कालिदासके किरात निश्चय ही तिब्बती या लद्दाख, जस्कर और रुपशुके तिब्बती–वर्मी थे। फिर भी मानसरोवरके चतुर्दिक् निवास करनेवाले तिब्बतियोंको किरात माननेमें कोई बाधा नहीं। यद्यपि कारा-कोरमकी घाटीके पूर्वमें बहनेवाली गंगाके पहले नहीं, किन्तु बाद किरातों का सामना होता है, तो भी कैलासके दृश्यका[5] उल्लेख हुआ है और मान-सरोवर उसी पर्वत-शृङ्खलामें है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भूटान और उसके पड़ोसके निवासी किरात कहे गये हैं। पेरिप्लस[6] किरातोंको गंगाके मुहानेके पश्चिमके निवासी मानता है और पोलेमी[7] टिपेराके आसपास के। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय साहित्यमें उनको समस्त हिमालय-शृङ्खलामें और विशेषतः ब्रह्मपुत्रकी तराईमें स्थान दिया गया है। किन्तु कालिदास उनको लद्दाखके आसपासमें रखते हैं।

दूसरी जातियाँ थीं, उत्सवसंकेतों और किन्नरोंकी। किन्नर किरातों से भिन्न थे और भारतीय साहित्यमें उनका वर्णन यक्षों और गन्धर्वोंके साथ

---

१ रघु०, ४.७६। २ वही, ७८। ३ वही। ४ प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांजेक्सन्स आफ दी सिक्स्थ ऑल इंडिया ओरियण्टल कान्फरेन्स (रघुके विजयलिखित उत्तरी भारत सीमा पर) पृ० १११। ५ रघु०, ४.८०। ६ स्कौफ-द्वारा अनुवाद, पृ० ४७, ६२। ७ मैक्क्रिंडल्स पोलेमी, मजमदार-द्वारा सम्पादित, पृ० १९४।

आता है। रघुका कैलास नहीं जाना प्रकट करता है कि किन्नरोंका देश कैलास तथा मानसके पश्चिममें ही था। महाभारतमें भी अपनी विजय-यात्रामें अर्जुन सर्वप्रथम किंपुरुषोंके देशमें पहुँचता है, तब गुह्यकों के हाटक देशमें, तदुपरान्त मानस-सर[1] आता है। इसलिए जयचन्द्र विद्यालंकारका सतलजकी ऊपरी घाटीमें आधुनिक कनौरको, जहाँ चन्द्रभागाकी शीर्ष-धाराएँ इसके बिलकुल निकट आ जाती[2] हैं, किन्नरोंकी निवास-भूमि मानना सर्वथा संगत है।

किन्नर

रघुवंशके एक भाष्यके आधारपर पार्जिटरने उत्सवसंकेतोंके संबंधमें यह कल्पना की है कि इनकी कोई पृथक् जाति नहीं थी, किन्तु उत्सवसंकेत एक सामाजिक सांकेतितार्थक शब्द था 'जिससे उन लोगोंका बोध होता था जो वैवाहिक जीवनसे अलग रह विविध प्रकारसे समागम करते। उत्सवका अर्थ था प्रणय और संकेत द्योतक था प्रणयसिद्धिके निमंत्रणकी[3] चेष्टा का।' वास्तवमें, कनौर और इसके आस-पासके भागोंमें आज भी एक वैवाहिक बन्धन है, यद्यपि वह ढीलाढाला है। इससे किन्नरोंका ही निवास यहाँ प्रतीत होता है। किन्तु यदि उत्सवसंकेतोंकी कोई भिन्न जाति थी, जैसा कि कालिदासके किरातों और किन्नरों[4] के मध्य उनको रखनेसे ज्ञात होता है, तो कनौर और कनौरीके सवर्गीय[5] मनचती, लहुली, तुनन, रंगलोई और कनशी छोटी बोलियाँ बोलनेवाले रूपशके

उत्सवसंकेत

---

१ सभापर्व, खण्ड, २९, १—५। २ प्रो० सिक्स० ओरि० कौन्फ०, पृ० ११२. मिलाकर, चन्द्रभागानदीतीरे अहोसि किन्नरी तदा। अथाऽद्दसं देवदेवं संकमन्तं नरासभम् ॥ इत्यादि धर्मपालके अत्थकथा परमात्थदीपिनी में उल्लिखित थेरीगाथा पर। ३ मार्कण्डेय पुराण, अनुवाद, पृ० ३१९। ४ रघु०, ४.७८। ५ प्रोसीडिंग्स आफ दी सिक्स ओरि० कौन्फ०, पृ० १११ :

किरात-इलाक़ोंके बीचके प्रदेशके निवासियोंमें उनके वंशजोंको खोजना होगा।

पार्वतों, किरातों, उत्सवसंकेतों और किन्नरोंपर विजय प्राप्तकर रघु हिमालयसे नीचे आये और लौहित्य[१] अर्थात् ब्रह्मपुत्र नदीको पार करनेके बाद कामरूप-देश प्राग्ज्योतिष[२] में प्रविष्ट हुए। आजकलका आसाम कामरूप है। कामरूपका वर्त्तमान जिला गोपालपारासे गौहाटी तक चला गया है। प्राग्ज्योतिष[३]से कालिदासका अभिप्राय राजनीतिक विभागका प्रकट होता है, किन्तु कामरूपका[४] प्रयोग कामरूप अर्थात् आसामके निवासियोंके लिए किया गया प्रतीत होता है। कालिका[५] पुराण इसको कामरूपकी राजधानी मानता है। मार्क कौलिन्सकी यह कल्पना कि कालिदासने प्राग्ज्योतिष और कामरूपका दो पृथक् राज्योंके रूपमें उल्लेख किया है विलक्षण और विनोदपूर्ण है। कालिदास और दूसरे प्राचीन भारतीय लेखकों-द्वारा किये गये एक ही भौगोलिक नामके पर्यायोंके स्वतंत्र प्रयोगोंके दोष दिखानेके लिए वह कविके प्राग्ज्योतिष तथा कामरूपके उल्लेखोंका हवाला उपस्थित करता है। वह लिखता है, "यह सम्भव दीख पड़ता है कि रघुवंशमें जब कालिदास रघुसे पहले प्राग्ज्योतिष और उसके बाद कामरूपपर विजय प्राप्त कराते हैं, तो हमारे सामने पर्यायोंके स्वतंत्र प्रयोगका एक साहित्यिक उदाहरण आता है।" प्रत्यक्ष[६] है, कि इस भ्रान्त धारणाकी पृष्ठभूमिमें मूल-पाठ-विषयक उनके समुचित ज्ञानका अभाव है। कारण, प्राग्ज्योतिष और कामरूपके संबंधके चारों श्लोकों[७]में केवल प्राचीन आसामकी विजयका वर्णन किया गया है। ईकासीवें श्लोकमें रघुका ब्रह्मपुत्र पार करना प्राग्ज्योतिष-नरेश को भयसे प्रकम्पित[८] कर देता है।

---

१ रघु०, ४.८१। २ वही। ३ प्राग्ज्योतिषेश्वरः रघु०, ४.८१। ४ तमीशः कामरूपाणां वही, ८३। ५ खण्ड, ३८। ६ ज्यो० डेटा आफ रघु० एण्ड दश०, पृ० १५। ७ रघु०, ४.८१-८४। ८ रघु०, ४।

एक ही साँसमें प्राग्ज्योतिषको लौहित्य[1] की अभिधा देकर उल्लेख करनेसे ब्रह्मपुत्रके दूसरे तट पर अवस्थित आधुनिक गौहाटी[2] का प्राग्ज्योतिष होना स्पष्ट होता है। नदी पार कर ज्योंही

प्राग्ज्योतिष और कामरूप

रघु इस नगरके अभिमुख हुए वहाँका राजा आतंकित हो उठा।[3] इसके बादके तीन श्लोकोंमें कवि कामरूपके नृपके पराजय-कृत अपमान तथा उस विजेताको कर भेंट करने का वर्णन करता है। इस प्रकार कालिदास, भ्रमाभिभूत मार्क कौन्स्कि समान, इन दोनोंको दो भिन्न राज्य नहीं मानते, किन्तु इनके द्वारा एक राज्य, कामरूपका निर्देश करते हैं और सम्भवतः इसके राजनगर प्राग्ज्योतिष के साथ, जो आजका गौहाटी हो। रघुकी यह विजय समुद्रगुप्तकी विजय को आभासित करती कही जाती है, और हमें ऐसा अवसर मिलेगा जब हम दोनोंकी तुलना कर उनकी असमानताके आधारका पता लगा सकेंगे।

अब हम रघुवंशके छठें सर्गमें कथित राज्योंके नामों पर विचार करेंगे। वे हैं : मगध[4], अंग[5], अवन्ती[6], अनूप[7], सूरसेन,[8] कलिंग,[9] पाण्ड्य[10] और उत्तर-कोसल[11]। विदर्भ[12] और उत्तरकोसलके नाम अनेक बार आये हैं। हम एक एक करके इनको लें।

गंगाके दक्षिणमें दक्षिण बिहार है, जिसका प्राचीन राज्य मगध था।[13] पड़ोसी ज़िलोंके लोग आज भी

मगध

पटना और गयाके ज़िलोंको मगहके नामसे सम्बोधित करते हैं, जो मगधका अपभ्रंश है। पुष्पपुर[14] (पाटलिपुत्र, आजका पटना) मगधका राजनगर था।

---

१ चकम्पे तीर्णलौहित्ये तस्मिन्प्राग्ज्योतिषेश्वरः, वही। २ जे० आइ० ए० एस०, १९००, पृ० २५। ३ रघु०, ४, ८१। ४ वही, ४, २१। ५ वही, २३। ६ वही, ३२। ७ वही, ३७। ८ वही, ४५। ९ वही, ५३। १० वही, ६०। ११ वही, ७१। १२ वही, ५.३९, ८; मल्लि० १। १३ रामायण, आदिका०, १९.३२; महाभारत, सभा प०, ध० २८। १४ रघु०, ६.२४।

कालिदास चार श्लोकोंमें[1] मगध-राज्यका उल्लेख करते हैं और मगधाधिपकी विशिष्ट रूपसे उपेक्षा भी। मगधका समसीमान्त अंग स्वभावतः उसके बाद आया है।[2] भागलपुरके चारों ओर जिसमें मुंगेर भी शामिल था अंग कहलाता था, जो ईसा पू० छठी शताब्दीमें भारतके[3] षोडश राजनीतिक विभागोंमें एक था। इस देशका नामोल्लेख केवल रूढ़ि-निर्वाहके लिए किया गया प्रतीत होता है, जो कथा-वस्तुकी अंग-पूर्तिके लिए आवश्यक था।

अवन्ती

मालवाका पूर्वकालीन नाम अवन्ती था और उसकी राजधानी उज्जैनमें[4] थी, जिसका उल्लेख अन्य प्रसंगमें आया है। यहाँ भी महाकाल[5] के मन्दिरके वर्णनके प्रसंगमें कालिदास उज्जैन को राजधानीके रूपमें स्मरण करते हैं। ईसा की सातवीं या आठवीं शताब्दी[6] से अवन्ती मालवा कही जाती रही है। यह गुप्त सम्राटोंके साम्राज्यमें थी और इसकी राजधानीमें राजवंशके राजकुमारोंने युवराजके रूपमें मौर्यकाल[7]-से ही अपने न्यायालयका संचालन किया था। मालविकाग्निमित्रमें अपना-सम्राट् पिता, पुष्यमित्रका राज-प्रतिनिधि, अग्निमित्र ग्वालियर रियासतकी बेतवा नदीके किनारेके आजकलके भिल्सा, विदिशामें राज्य करता था जो ईसाकी द्वितीय शताब्दीमें अवन्तीकी राजधानी थी। इसका वर्णन ३२–३६ श्लोकोंमें आता है।

अनूपकी अवस्थिति मध्यभारतके दक्षिणी भागमें दीख पड़ती है,

---

१ वही, २१–२४। २ वही, २७–२६। ३ अंगुत्तर, १.४; विनय टेक्स्ट, २.१४६; दीघनिकायमें गोविन्द सुत्त, १६, ३६। ४ मेघ० पू०, २७–२६। ५ रघु०, ६–३४। ६ रैज डैविड्स: बौद्धकालीन भारत, पृ० २८—मेरे विचारमें इस उक्तिका प्रचलन बहुत पहलेसे था। ७ स्मिथ: अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० १६३।

जिससे होकर नर्मदा[1] बहती है। इसकी राजधानी माहिष्मती[2] थी, जो आज नर्मदाके किनारे मानधाराके नामसे प्रसिद्ध है। यह हैहयवंशीय क्षत्रियोंका पौराण-कालिक राज्य था। इसका वर्णन अवन्तीके पश्चात् आनेसे यह अवश्य अवन्तीके साथ सम-सीमान्त था। बौद्ध-कालमें यह वास्तवमें अवन्ति-दक्षिणापथ—'आधुनिक राज-पथकी अवन्ती' कहलाता था।

अनूप

मथुराके चारों ओरका प्रदेश सूरसेन था जिसकी राजधानी मथुरा[3] में थी। वासुदेव और कुन्तीके पिता सूरने अपने राज्यका नामकरण अपने नाम पर सूरसेन किया। उस कथामें इस देशका वर्णन स्पष्टतः पारम्परिक है। इसमें वृन्दावन[4] तथा गोवर्धन[5] पहाड़के नाम आये हैं। पूर्वी समुद्री किनारेके कलिंग और पाण्ड्यका पूर्व पृष्ठोंमें एकीकरण किया जा चुका है। ये दोनों गुप्तोंके समकालीन वास्तविक राजनीतिक शक्तियाँ रही होंगी। समुद्रगुप्तके एलाहाबादवाले स्तम्भ-लेखमें[6] उसकी दिग्विजय में पराजित देशोंकी सूचीमें महेन्द्रका नाम भी अंकित है जिसका उल्लेख कालिदासने किया[7] है और जो कलिंगका एक पर्वत था। इस समय पाण्ड्योंका शासन दक्षिणमें चल रहा था और उसका राजनगर मदुरा था, जिसको कालिदास अपने कथानकको प्राचीनताका वेश देनेके लिए उरगपुर[8] कहते हैं (करिकाल कोलके द्वारा पद-दलित होनेके पूर्व जो पाण्ड्योंका आरम्भिक राजधानी था) और इस प्रकार काल-गणनाके भ्रमसे अपनेको मुक्त कर लेते हैं।

सूरसेन, कलिंग और पाण्ड्य

---

१ रेवा, रघु०, ६.४३। २ वही। ३ रघु०, ६.४५–५१। ४ वही, ५०। ५ वही, ५१। ६ कौर्पस इन्स्क्रप्सनम इंडिकारम, पृ० ७, नोट। ७ वही, ५४, ४.३९–४३। ८ रघु०, ६.५९।

रघु और उनके उत्तराधिकारियोंका राज्य उत्तर कोसलमें था। यह साधारण दृष्टिसे अवश्य था। अयोध्या[1] या साकेत[2] में उसकी राजधानी थी जिनको कविने एक ही माना है।[3]

उत्तर कोसल

इसको कोसल भी कहते[4] थे। मार्क कॉलिन[5] का विचार है कि उत्तर कोसल शायद उत्तरीय साम्राज्य[6] का प्रदेश था (ऐसी दशामें यह उस राज्यके साथ सम्मिलित समझा जायगा जिसको दण्डी मगध कहकर पुकारता है) या कथामें स्वाभाविकता लानेके लिए इसका नाम उस सूचीमें दे दिया गया हो। किन्तु यहाँ इसपर ध्यान रखना चाहिए कि यदि यह यथार्थमें उत्तरीय साम्राज्य था तो इसका विस्तार समुद्रगुप्तके साम्राज्यसे अवश्य बड़ा था।[7] मालवों तथा आभीरोंके पश्चिमी प्रदेश और कुछ और भी उत्तरकी जंगली जातियों के प्रान्त इसमें मिलाये गये मालूम पड़ते हैं। पूर्वमें सीमान्त-राज्य समतट का स्थान वंग ग्रहण करता है, और दक्षिणमें एलाहाबादके स्तम्भ-लेखके काकों, सनकानिकों और दूसरे छोटे-छोटे राज्योंके एकीकरणके लिए हमारे पास कोई सामग्री नहीं है। इसके मतानुसार कालिदास ई० सन् ४०० के पश्चात् अवश्य थे। ई० सन् ४०० या इसके कुछ बाद द्वितीय चन्द्रगुप्तने वंगमें गुप्त वंशकी स्थापना की। समुद्रगुप्त दावक वंगको सीमान्त राज्योंमें (प्रत्यान्त नृपति) परिगणित करता है और ऐसा नहीं ज्ञात होता कि कुमारगुप्तके हाथमें इस साम्राज्यकी बागडोर कभी आयी थी, इससे उपर्युक्त कथनकी पुष्टि हो जाती है। अनेकों विद्वान् मेरौली के लोह-स्तम्भके राजा चन्द्रको द्वितीय चन्द्रगुप्त मानते हैं। उनके इस एकीकरणको मान लेनेपर यह बात और भी पक्की हो जाती है। इसपर

---

१ रघु०, ८.६१, १४.२९, १६, ११–२२। २ वही, ५.३१, १३.७९, १८.३६। ३ वही, कनिंघम : ज्यो–आफ एंस, इंडिया, पृ० ४०१। ४ रघु०, ४.७०, ९.१७। ५ ज्यो० डेटा आफ दी रघु० एण्ड दश०, पृ० १८। ६ वही। ७ समुद्रगुप्तका एलाहाबाद-स्तम्भ-लेख।

स्थान दिया जा सकता है कि इस चन्द्रने लौहित्यसे बैक्ट्रिया तकके देशों पर विजय प्राप्त करनेका दावा किया है। यही कारण है कि डा० स्मिथ-ने अपने भारतवर्षके आरम्भिक इतिहासके पृ० ३०० पर ख्रिष्टाब्द ४०० के भारतका जो मानचित्र दिया है उसमें गुप्त-साम्राज्यसे दावक वंगको पृथक् कर दिया है और चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-कालमें ही मत्रपोंके राज्य—मालवा, सौराष्ट्र और सम्भवतः निकटवर्ती दूसरे राज्य—इस साम्राज्यमें मिला लिये गये थे।[१] रघु और बादके साम्राज्य-संस्थापक गुप्तोंके साम्राज्य में मालवा अन्तर्निविष्ट था। गुप्त-सम्राटों (स्कन्दगुप्त) का राज्य सौराष्ट्र तक फैला हुआ था। कोई विशेषता नहीं रखनेके कारण सौराष्ट्रका उल्लेख रघुवंशमें नहीं हुआ है। एलाहाबाद-स्तम्भ-लेखमें समुद्रगुप्तने सीमान्त राज्यके रूपमें अंकित किया है। गुप्त-साम्राज्यने उसको वह स्थान दिया है, ऐसा नहीं प्रकट होता। उस स्तम्भ-लेखके बलवर्मनको बनर्जीने आसामके भास्करवर्मनके पूर्वजका स्थान दिया है, किन्तु यह समानता सम्भवतः संगत नहीं है क्योंकि आसाम एक प्रत्यान्त नृपतिके द्वारा शासित कहा गया है। उपर्युक्त मानचित्रमें स्मिथ कामरूपको गुप्त-साम्राज्यसे बाहर रखता है। रघुवंशमें यह रघुके राज्यके बाहर है और रघुसे पराजित हुआ वर्णित है।

कुछ उल्लिखित नाम, यथा, मगध, कलिंग, पाण्ड्य, वंग, कामरूप, अंग और विदर्भ प्रचलित नाम थे। विदर्भका यहाँ संक्षिप्त वर्णन किया गया है। इन्दुमतीके कथा-प्रसंगमें रघुवंशके तीन सर्ग[२] समाप्त होते हैं। विदर्भपर भोज-वंश[३] का राज्य था। यदि हम शिला-लेखोंके प्रमाणोंकी ओर दृष्टि डालें, तो हम देखेंगे, कि यह सत्य है कि पाँचवीं अथवा छठीं शताब्दीके प्रामाण्य लेखोंमें भोजोंका कहीं नामोल्लेख नहीं है।

विदर्भ

---

१ स्मिथ : अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २५४–२५५; (चतुर्थ संस्करण)। २ रघु०, ५.३६। ३ वही, ५.३६, ७.२, १३, २०, भोजकुलप्रदीपः २६, ३५।

किन्तु हम यह अवश्य देखते हैं, कि राजाओंका एक शक्तिशाली वंश गुप्त-कालमें दाक्षिणात्यके पश्चिमी भागपर वकाटक-वंशी नामसे शासन कर रहा है। इन राजाओंके दान-पत्रोंमें ग्राम-दानका उल्लेख आता है। कर्मणक (आधुनिक चम्मक, इल्लीचपुरसे प्रायः चार मील दक्षिण-पश्चिम) भोजकट[1] के राज्यमें अवस्थित कहा जाता है। विष्णुपुराणमें[2] इसी नामके एक नगरका वर्णन हुआ है, जो विदर्भके राजा भीष्मकके पुत्र रुक्मि का स्थापित कहा जाता है। महाभारतमें[3] भी भोजकट और रुक्मिनके नाम आये हैं और ये नर्मदा और अवन्तीके आस-पास रखे गये हैं। यह नगर हमारे शिला-लेखका भोजकट है। वाकाटक राज्यके उस जिले या विषयका यह निस्सन्देह प्रधान नगर था, जिसको शिला-लेख भोजकट-राज्यम् कहता है। अशोकके राज्य-कालमें इस नामकी एक जाति पश्चिमी विन्ध्य-श्रेणीमें अवश्य निवास करती थी।[4] सम्भव है, इस जातिके दुर्गोंमें भोजकट भी एक रहा हो या वह सुरक्षित क़िला, जिसमें उनका प्रधान—भोज निवास करता था। प्रत्येक अवस्थामें यह स्पष्ट है कि वकाटकोंका राज्य केवल उसी देशमें नहीं था जिसका आधुनिक नाम प्राचीन विदर्भसे सम्बद्ध है किन्तु उसमें वह जिला भी था जिसका नाम भोज था। इस प्रकार रघुवंशका विदर्भ वाकाटकोंके राज्यका प्रतिनिधित्व करता है; और इस देशके शासकोंके लिए भोज शब्दके प्रयोगकी एक व्याख्या हो जाती है, यदि हम यह मान लें कि कालिदासने यह उस समय लिखा था जब दक्षिणमें इस वंशकी प्रधानता थी। आजका बरार, खानदेश, निज़ाम-राज्यका भाग और मध्य भारतका भाग—सब मिलकर विदर्भ है। यह नर्मदाके दक्षिणमें था क्योंकि इसमें प्रवेश करनेके

---

१ भोजकटराज्ये। २ विल्सनका अनुवाद, भाग, ५, पृ० ६९–७१। ३ २.११९५–११६६, मिलाकर, हरिवंश भी, कलकत्ता, १८३९, ५०१६ छन्द। ४ १३, राक एडिक्ट।

पूर्व अजको—इस नदीको पार करना पड़ा था।[१] कुण्डिनपुर[२] इसका राजनगर था जो कुण्डनपुर है जो बरारकी[३] अमरावतीसे प्राय: चालीस मील पूर्व है। इसके पूर्वके एक कथानकमें मालविकाग्निमित्र[४]में कालिदास ने विदर्भका एक और उल्लेख किया है जिसमें यह अग्निमित्रके द्वारा विजित होकर अपने शासकके वंशके दो भ्रातृव्योंमें विभक्त होता है और वरदा या वर्धा इसकी सीमा होती है।

विदेह, सिंधु

कुछ और जनपदोंका हवाला कविने दिया है उनका उल्लेख नीचे किया जा सकता है। विदेह[५] आजकी मिथिला है, जो साम्राज्य-स्थापक गुप्तोंका तिर्हुत या तिरभुक्ति है। इसका उल्लेख रूढ़िगत है और रामायणके आधार पर किया गया है। राज्य और राजधानी (मिथिला) दोनोंका नाम विदेह था[६]। सिन्धु देश[७] सिन्धु नदीके दोनों किनारोंपर इसके मुहाने तक विस्तृत था। इस देशमें तक्षशिला[८] और पुष्कलावती[९] (तक्षशिला और चश्काल)[१०] अवस्थित थे। सिन्धुमें गन्धर्व[११] अर्थात्-गान्धार निवास करते थे जिनको भरतने पराजित किया था। इस देशको भरतने अपने दो पुत्रों, तक्ष और पुष्कलमें[१२] बाँट दिया और उन्हींके नाम पर तक्षशिला और पुष्कलावती दो राजधानियोंकी स्थापना हुई। यथार्थमें कविका वर्णन परम्परागत है और रामायणके[१३] आधारपर किया गया है। सिन्धु सदासे उत्तम जातिके घोड़ोंके लिए प्रसिद्ध है। अत: अमरकोषमें घोड़ोंके पर्यायमें सैंधव और गन्धर्व दोनों आये हैं। उसी पुस्तकमें सैंधव लवणका भी नाम है जिससे स्पष्टत: पहाड़ी

---

१ रघु०, ५.४२, ४३। २ वही, ७.३३। ३ डौसन: क्लासिकल डिक्सनरी, चतुर्थ संस्करण पृ० १७१; विल्सन: मालती–माधव, एक्ट्स १। ४ एक्ट्स १ और ५। ५ रघु०, १२.२६। ६ वही, ११.३६। ७ वही, १५.८७। ८ रघु०, १५.८९। ९ वही। १० विड, पृ० ७०। ११ वही, ८८। १२ वही, ८९। १३ उत्तरकाण्ड,—११४, ११।

नमकका बोध होता है जो पहाड़ोंकी लवणमयी श्रेणियोंमें पाया जाता है, क्योंकि इसमें समुद्रके नमकका अर्थ नहीं सूचित होता क्योंकि समुद्र-नमक का अलग उल्लेख किया गया है। सैंधव लवणका दूसरा पर्यायवाची है, मणिमंथ, और टीकाकार महेश्वर इसकी व्याख्या करता है—"मणिमंथ पर्वतमें उत्पन्न (जिसमें केवल लवण पर्वत-श्रेणीका ही संकेत है)।" किन्तु सबसे बढ़कर इसका प्रमाण रघुवंशका[1] एक श्लोक है और भारतके सभी लवण-विक्रेता सैंधवसे पहाड़ी नमक समझते हैं। डा० बोरुआ कहता है—"इसलिए मणिमन्थको लवण-पर्वत-श्रेणी मानने और प्राचीन सिन्धु देशमें इसके होनेपर बल देनेमें मुझे कोई हिचक नहीं है।" बादके साहित्य में सिन्धुका प्रयोग उसी अर्थमें किया गया जिस अर्थमें अरियननें समझा था—ऊपरी सिन्धुके दक्षिणका देश अथवा तक्षशिलाका प्रान्त। रघुवंश में हम पढ़ते हैं कि रामने इस देशको अपने भ्राता भरतको दिया, जिसने गन्धर्वोंको जीतकर अपने पुत्र तक्ष और पुष्कलको दो नगरोंके अधिकारी बनाया, जिनका नामकरण इन अधिकारियोंके नामपर ही हुआ—तक्ष-शिला और पुष्कलावती[2]। व्यास और सतलजके मध्यका प्रदेश और महाराज दशरथकी सबसे छोटी रानी कैकेयीके पिताका राज्य केकयका[3] उल्लेख भी रूढ़िक्रमसे ही है।

कारापथ

कारापथका[4] एकीकरण कठिन है। बल्लभके शब्दोंमें इसका अर्थ है, चन्द्रपथप्रभुः। ए० बोरुआका विचार है, "बिजनौर जिलेमें चान्दपुर एक बड़ा शहर है; कदाचित् यही रामायणमें वर्णित चन्द्रपुर या चन्द्रकान्त है, उत्तरकाण्डमें यह पाठ आता है कि रामके भाई लक्ष्मणके दो पुत्र कारुपथके (कालिदासका कारापथ) शासक नियुक्त हुए थे; पश्चिममें अंगदपुरीका अंगदको और उत्तरमें मल्लभूमिमें चन्द्रकान्तका

१ रघु०, ५.७३। २ वही, १५. ८९। ३ वही, ९.१७। ४ वही, १५.१७।

चन्द्रकेतुको शासन-भार दिया गया था। पहला अवयमें आजकलका शाहाबाद है जो अभी भी भारतवासियोंको अंगदपुरके रूपमें ज्ञात होता है। यह अयोध्याके ठीक पश्चिममें उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार चन्द्रपुर (चाँदपुर) इसके ठीक उत्तरमें नहीं। किन्तु यथा-चित्रण तथा दिक्-निरूपणमें हमें प्राचीन लेखकोंमें भाषाकी नियमितता नहीं प्राप्त होती। फ़रुकाबाद ज़िलेमें एक दूसरा चाँदपुर है, किन्तु यह चन्द्रकान्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह उसी दिशामें है जिस दिशामें शाहाबाद। इसलिए एक प्रकार मेरा निश्चय है, सहारनपुरके पूर्वका चाँदपुर ही वह नगर है जिसका नामकरण चन्द्रकेतुके नामपर हुआ था और यह उत्तरी मल्लों की भूमिमें अवस्थित है।[1] विल्सन[2] कारापथको हिमालयके पाद-प्रदेशमें स्थान देता है।

कुरुक्षेत्र

ब्रह्मावर्त्त जनपद[3] सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीचका देश था जब कि पश्चात्‌के साहित्यमें कुरुक्षेत्रका[4] पूर्व स्थान ही रहा। तो भी कालिदास ब्रह्मा-वर्त्तको जनपद, एक बड़ा राजनीतिक विभाग कहकर उल्लेख करते हुए कुरुक्षेत्रको वह युद्ध-स्थल बतलाते हैं जहाँ कौरवों तथा पाण्डवोंका युद्ध हुआ था।[5] कुरुक्षेत्र थानेश्वर है।

नैमिष

लखनऊसे[6] पैंतालीस मील उत्तर-पश्चिम और सीतापुरसे बीस मीलपर नीमसर स्टेशनसे थोड़ी दूर नीमसर नामका एक स्थान है, यही नैमिष[7] है। यह गोमतीके किनारे है। पोलेमीने इसको ननी-खाई[8] लिखा है।

---

१ रघुवंशमें अंकित, नन्दर्गिकर-द्वारा सम्पादित, रघु० पर नोट, १५.६० । २ विष्णुपुराण, भाग ३, पृ० ३६० । ३ मेघ० पू०, ४८ । ४ वही । ५ वही । ६ डे० ज्यो० डिक्स० आफ एन्स० एण्ड मेड० इण्ड०, पृ० १३५ । ७ रघु०, १९.२ । ८ मैकक्रिण्डल्स पोलेमी, मजुमदार-द्वारा सम्पादित, पृ० १३२ ।

निषध

लैसेनने[1] निषधको[2] बरारके उत्तर-पश्चिम सतपुराकी पहाड़ियोंके साथ रखा है। बरगेस भी इसको मालवा[3] के दक्षिणमें रखता है।

दशार्ण

दशार्ण[4] वह देश था जिसको साधारण दृष्टिसे मालवा कह सकते हैं। पूर्वी मालवा, जिसमें भूपालकी रियासत भी शामिल थी, पश्चिमी दशार्ण कहलाता था जिसकी राजधानी थी विदिशा[5] या भिल्सा। मालकी[6] स्थिति निर्दिष्ट करना कठिन है, किन्तु निश्चय ही यह मध्यप्रदेशके रामटेकके उत्तर नये जोते गये खेतोंके आस-पासकी ऊँची भूमि होगी जिसका वर्णन हम मेघदूत[7] में पढ़ते हैं।

दण्डकारण्य

विन्ध्य-पर्वत-मालाके उत्तर (बुन्देलखण्डके दक्षिणी भाग) से आरम्भ होकर दण्डकारण्यकी[8] विस्तीर्ण जांगल भूमि दक्षिणमें कृष्णा नदीकी तराई तक जाती थी और पूर्वकी दिशामें छोटा-नागपुरके जिलोंको कलिंग देशकी सीमातक मिलाती थी। पश्चिमकी ओर यह विदर्भ[9] के दो सूबों तक फैली हुई थी।

पंचवटी

इसी दण्डक वनमें नासिकके पास गोदावरीके किनारे पंचवटी[10] की रम्य भूमि[11] थी।

---

१ डे० ज्यो० डिक्स० आफ एन्स०, एण्ड मेड० इण्ड०, पृ० १४१। २ रघु०, १८.१। ३ एन्टिक्विटिज आफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ, पृ० १३१। ४ मेघ० पू० २३। ५ वही, २४। ६ वही, १६। ७ वही। ८ रघु०, १२.९। ९ दी ज्योग्रफी इन राम्स एग्जिल, जे० आर० ए० एस०, १८९४, पृ० २४२। १० रघु०, १२.३१, १३.३४; रामायण, अरण्यकाण्ड, खण्ड ४९। ११ डे, ज्यो० डिक्स० एन्स० मेड० इण्ड०, पृ० १४७।

दण्डकारण्यका ही एक भाग जन-स्थान[1] था और सम्भवतः पाँच वट-वृक्षोंका स्थान, पंचवटी[2] इसीके अन्तर्गत था। बुन्देलखंडमें आधुनिक चित्रकूटके समीप कामतागिरिके चारों ओर चित्रकूटारण्य[3] का विस्तार था। यह भी दण्डकारण्यका ही एक अंग था[4] क्योंकि इसका उल्लेख दण्डकारण्यके प्रसंगमें आया है।

जनस्थान

भारतके दक्षिणके एक द्वीप, स्पष्टतः सिंहलके अर्थमें कालिदासने लंकाको[5] लिया है। "इन्द्रके वायुयानमें बैठे राम अपने वायु-पथका वर्णन करते है और वर्णनमें सबसे पहले आते हैं भारत-सागर[6] और उनका अपना बनाया हुआ सेतुबन्ध। इसके बाद ज्यों-ज्यों उत्तरकी ओर यान गतिशील होता है क्रमशः मलय पर्वत, पंचवटी, जन-स्थान और अन्य स्थानोंके नाम आते हैं।"[7] इससे प्रकट होता है कि कालिदासके समयमें लंका आजका सिंहल ही था। अतः कुछ विद्वानों (उदाहरणार्थ, राय-बहादुर हीरालाल) का लंकाको मध्य भारतका एक भाग मानना अवश्य भ्रान्तिपूर्ण है। प्रायः सभी उच्चकोटिके शास्त्रीय विवेचक भौगोलिकोंने इस द्वीपको तपोवनका नाम दिया है और इसको सामुद्रिक वाणिज्यका केन्द्र माना है। यही द्वीप संस्कृत तथा बौद्ध साहित्यका सिंहल है।

लंका

नगर तथा अन्य छोटे वास-स्थान

कालिदास अनेकों नगरों और कुछ दूसरे स्थानोंके नाम भी लेते हैं जिनका एकीकरण भी किया जा सकता है।

---

१ रघु०, १२.४२, १३.२२, ६.६२। २ वही, १२.१५, २४, १३.४७। ३ रामायण, उत्तरकाण्ड खण्ड ८१। ४ दण्डकारण्य रघु० में १२.६ चित्रकूट उसीमें; १५,२४। ५ रघु०, ६.६२, १२.६३, ६६। ६ वही, १३.२–१८। ७ वही, २.२२,३४।

पुष्कलावती[1] पुष्कलकी राजधानी थी जिसको उसने ही बसाया था। इसको ग्रीक-लेखकोंका पिकेलावटीस[2] और ह्यून शंगका पौ-से-की-लो-टा-टी कहा गया है। अलक्षेन्द्र (सिकन्दर)के समय यह गन्धारकी राजधानी थी और अरियन इसको सिन्धु नदीसे अधिक दूर नहीं रखता। यह सिन्धुके पश्चिममें थी और सम्भवत: यह वही है जिसको चरसद्दा कहते हैं। नामकी समानताके कारण हस्त-नगरके उत्तर-पूर्वमें स्थित बदकल के साथ इसकी समानता की जाती है किन्तु पहला एकीकरण ही अधिक सम्भव दीख पड़ता है। तक्ष-द्वारा अपने नामपर स्थापित तक्षशिला[3] ग्रीकोंकी तक्सिला है जो सिन्धु और हिदास्पीके मध्यमें था। इसकी पुरातत्त्व-सम्बन्धी खुदाइयोंसे एक बहुत बड़ी संख्यामें प्राचीन वस्तुओंका संग्रह प्राप्त हुआ है। कनखल[4] इस समय एक छोटा ग्राम है जो हरिद्वार से दो मील पूर्व गंगा और नीलधाराके संगमपर बसा है। गंगा हिमालय की ऊँचाईसे उतरकर यहीं समतल भूमिमें प्रवेश करती है। इसीके पास एक स्थान था जिसको शिवने अपने पाद-स्पर्श, चरणन्याससे[5] पवित्र किया था। यह स्थान कदाचित् हरिद्वारके निकटकी पहाड़ी हरकी पैड़ी, हरका पाद हो, जिसको शम्भु-रहस्यमें चरण-न्यास कहा जाता है। किन्तु इस एकीकरणमें एक कठिनाई यह आ उपस्थित होती है कि कालिदास इसके उल्लेखके पहले सुरगाय और सरल देवदारुकी[6] चर्चा करते हैं जिससे आगे ऊँचाईपर यह स्थान निर्दिष्ट हो सकता है। अंगदपुर और चन्द्रपुर का पूर्वमें एकीकरण किया जा चुका है।

कौरवोंकी राजधानी हस्तिनापुर[7] आज गंगाके प्रवाहका ग्रास बन गया है। यह गंगाके ठीक किनारेपर मेरठसे बाईस मील उत्तर-पूर्व और बिजनौर के दक्षिण-पश्चिममें था। कालिदास इसको दुष्यन्तकी राजधानी बताते

---

१ वही, १५.८९। २ प्रोक्लेज—मैकक्रिण्डल पोलेमी, पृ० ११५–१७; प्रोक्लेज– स्कौफ, पृ० ४१.४७। ३ रघु०, १५.८९। ४ मेघ. पू., ५०। ५ वही, ५५। ६ वही, ५३। ७ शाकु०, पृ० १२८।

समय काल-गणनाकी भ्रान्तिमें पड़ जाते हैं; कारण, हस्तिनापुरकी स्थापना करनेवाले हस्तिनका समय दुष्यन्तकी कई पीढ़ी बादका है। शचीतीर्थ[1] और शक्रावतारका[2] स्थान निश्चित करना सम्भव नहीं है परन्तु ये हस्तिनापुरके पास ही कहीं होंगे। शकुन्तलाका धीवर शक्रावतारके[3] इलाक़ेका निवासी था, जो एक ऐसा राजनीतिक विभाग दीख पड़ता है जिसमें शचीतीर्थ भी वर्त्तमान[4] था। जैसा नामसे प्रकट होता है शचीतीर्थ कोई तीर्थ स्थान था और इसकी स्थिति हस्तिनापुरके पास गंगाके तटपर अवश्य होनी चाहिए जहाँ शकुन्तलाके अंगुलीयकका खोना कहा जाता[5] है। पुष्कर[6] इसी नामके सरोवरके चारों ओरका इलाक़ा था जो अजमेर से प्रायः छः मीलपर था। मधुघ्न[7], जिसके निकट मथुरा[8] प्रतिष्ठित हुई थी, ग्रौज-[9] द्वारा मथुरासे पाँच मील दक्षिण-पश्चिम महोली कहा गया है। वृन्दावन[10] मथुरा ज़िलेका आधुनिक वृन्दावन है, जिसको कालिदास-कालमें ही पुण्य-ख्याति प्राप्त हो चुकी थी। मथुरासे चौदह मील पश्चिम गोवर्धन[11] पहाड़के समीप गोवर्धन नामक एक गाँव बस गया है।

रघु और उसके वंशधर राजाओंकी राजधानी अयोध्या[12] आजकी अयोध्या है। कालिदासने साकेत[13]का प्रयोग अयोध्याके पर्यायमें किया है, किन्तु बौद्ध ग्रन्थ[14] इसको अयोध्यासे भिन्न नगर मानते हैं। नन्दिग्राम[15] जिसमें कहा जाता है कि राम-वनवास[16] पर्यन्त भरतने निवास किया.

१ वही, पृ० १७२। २ वही, पृ० १८२। ३ शक्रावताराभ्यन्तरं शचीतीर्थसलिलं वही, पृ० १७२। ४ वही। ५ वही। ६ रघु०, १८.३१। ७ वही, १५.१५। ८ वही, ६.४८, मथुरा वही, १५.२८। ९ मथुरा, पृ० ३२,५४। १० रघु०, ६.५०। ११ वही, ६.५१। १२ वही, १३.६१, १४.२९, १६.११–२२। १३ वही, ५.३१, १३.७९, १८.३६। १४ संयुत्त निकाय, एल० फीयर-द्वारा सम्पादित, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, १८८४–१९०४, भाग ३, पृ० १४०, इसे गंगा पर रखें। १५ रघु०, १२.१८। १६ वही।

अयोध्याके पड़ोसमें स्थित है और सम्भवतः नन्दगाँव है, जो फैजाबादसे आठ मील दक्षिण भरतकुण्डसे सटा है। अवधके गोंडा जिलेमें अयोध्यासे अठावन मील उत्तर राप्ती नदीके किनारे सहेर-महेर, सारावती[1] है, जो बौद्ध साहित्यका श्रावस्ती है। प्रयागका सीधे कहीं उल्लेख नहीं है, तथापि कवि-कथित गंगा-यमुनाके संगम (यमुनासंगम)[2] का पुनीत माहात्म्य इसको बरबस खींच लाता है। इसी संगमपर वे पुरुरवाकी राजधानीकी चर्चा करते हैं[3], स्पष्टतः प्रतिष्ठान, एलाहाबादके सामने गंगाके उस पार की झूँसी। यह कथन भी परम्परा-जन्य ही है। काशी[4] आजका बनारस है। जहाँ रामके चरण[5]-स्पर्शसे अहिल्याको अपना पूर्व शरीर प्राप्त हुआ था वह बिहारके शाहाबाद जिलेमें बक्सरका अहिल्याघाट है। प्राचीन विदेहकी राजधानी मिथिला[6] बिहारके दरभङ्गा जिलेका जनकपुर है। मगधका राजनगर पुष्पपुर[7] पाटलिपुत्र था, जो आज पटना है। कामरूपकी राजधानी प्राग्ज्योतिष[8] आसाममें ब्रह्मपुत्रके किनारे का कामाख्या या गौहाटी[9] कहा जा चुका है।

कालिदासने लिखा है कि वनवासके समय राम और सीताके[10] निवास करनेसे रामगिरि[11] पवित्र हो गया। यह रामगिरि मध्यभारतमें नागपुर से चौबीस मील दूर रामटेक है। आजकल रामटेक नागपुर जिलेकी एक तहसील है। रामटेकमें राम, उनके भाइयों तथा उनकी पत्नीके नामके अनेक मन्दिर हैं। यह एक बड़ा तीर्थ-स्थान समझा जाता है और प्रत्येक कार्त्तिक-पूर्णिमाको यहाँ एक बड़ा मेला लगा करता है। एक अस्पष्ट स्थानीय शिला-लेखमें रामटेकका दूसरा नाम सिंधूरगिरि, यानी 'सिन्दूरका बिन्दु' दिया गया है।[12] यह शिलालेख यादव-नृपति रामचन्द्र

---

१ वही, १५.६७। २ मेघ० पू०, ५१; रघु०, १३.५४—५७। ३ विक्र०, पृ० १२१। ४ वही, पृ० २६, ३१। ५ रघु०, ११.३३—३४। ६ वही, ३२। ७ वही, ६.२४। ८ वही, ४.८१। ९ जे० आर० ए० एस०, १९००, पृ० २५। १० मेघ० पू०, १। ११ वही। १२ आई० ए० ३७, पृ० २०२।

के समयका है जिसका काल तेरहवीं सदीका अन्त अथवा चौदहवीं ई० पू० के[1] आरम्भका है। ऐसे नामकरणका कारण है उसका लाल पत्थर जिसको तोड़नेपर रक्तकी ललाई फूट पड़ती है, विशेषकर सूर्यकी किरणों के सामने। यह स्पष्ट है कि यहाँके अपने प्रवास-कालमें यक्ष अपनी पत्नीका चित्र शिलाखण्डपर[2] रक्त प्रस्तरसे, जो गेरु है, अंकित करता है। इस बातसे इस समानतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। अवन्तीके उत्तर में एक और राज्य था जिसकी राजधानी दशपुर[3] थी जो आधुनिक दसोर है, जो मालवाका मन्दसोर है जहाँ एक सूर्य-मन्दिरके जीर्णोद्धारके प्रसंगमें तन्तुवायों (जुलाहों) की एक मण्डली प्रस्तरपर उत्कीर्णित प्राप्त हुई थी। भूपालसे प्रायः छब्बीस मील उत्तर-पूर्व ग्वालियर रियासतमें बेतवाके किनारे विदिशा[4] मालवाकी भिल्सा है। मेघदूत[5]में उल्लिखित प्राचीन दशार्णकी यह राजधानी थी। भिल्सासे चार मीलपर पुरातत्वकी सामग्रियों के अवशेषोंसे भरी एक भग्न पहाड़ी है, जो नगरकी पुरानी बस्ती हो सकती है। शुंग-कालमें अग्निमित्रका[6] यह राजनगर था। सिप्राके किनारे वर्त्तमान उज्जैनके स्थानमें उज्जयिनी[7] खड़ी थी और वह विशालाके[8] नामसे भी विख्यात थी। यह भारतकी सात पवित्र नगरियोंमें एक थी। दक्खनसे श्रावस्तीको जानेवाले मार्गमें इसका मुख्य स्थान था और Periplus of the Erythrean Sea इसको वारिगाजामें आयात की सारी वस्तुओंके वाणिज्यका एक बड़ा केन्द्र बताता है, जहाँसे वे गंगा-तटवर्त्ती[9] राजनगरोंसे वितरित होती थीं। इस नगरके वर्णनमें[10] कालिदासकी स्पष्ट घनिष्ठता प्रकट होती है। यह अवन्तीकी राजधानी थी और इसमें आज की तरह ही महाकालका[11] शिव-मन्दिर विराजमान था। हैहय-राज्य

---

१ इप० इण्ड०, भाग २५.७६५। २ धातुरागः। ३ मेघ० पू०, ४७। ४ वही, २५; माल०, पृ० ८६, ६७। ५ पू० २४। ६ माल०, पृ० ८६, ६७। ७ मेघ० पू०, २७, २६; रघु०, ६.३४। ८ मेघ० पू०, ३०। ६ स्कौफ-द्वारा अनुवादित; पृ० ४२। १० मिलाकर, मेघ० पू० २७। ११ मेघ० पू०, ३४, चण्डेश्वर वही, ३३।

अनूपकी[1] राजधानी माहिष्मती[2] की समानता नर्मदाके किनारेके मान्धाता से स्थापित की जा चुकी है। कुशकी राजधानी कुशावतीकी[4] स्थिति विन्ध्याकी[5] घाटीमें थी क्योंकि रघुवंशमें एक प्रकरण आता है कि कोसलकी प्राचीन राजधानी अयोध्याके पुनर्निर्माणके लिए कुशको विन्ध्या[6] और गंगाको[7] पार करना पड़ा था। अतः थौर्नटन गजेटियरके लेखानुसार इसको अवधमें गोमतीके किनारेके सीतापुरके साथ एकता प्रदान करना गलत है। विदर्भकी राजधानी कुण्डिनपुरका[8] विदर्भके वर्णनमें ऊपर उल्लेख आ चुका है। सोमतीर्थ[9] कुरुक्षेत्रमें एक तीर्थ-स्थान था। कर्णतीर्थ[10] एक अन्य तीर्थ-स्थान था जिसका समानीकरण कठिन है।

गोकर्ण[11] दक्षिण-भारतका एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। इसकी समानता करवार जिलेके उत्तरी कनारामें स्थित गेंदिया[12] नामक एक नगरसे की गयी है जो गोयासे तीस मीलपर करवार और कुमताके मध्य है, और सदाशिवगढ़से[13] भी तीस मील दूर है, जो गोयासे तीन मील दक्षिण है। इस नगरमें रावण-द्वारा प्रतिष्ठित महादेवका मन्दिर महाबलेश्वर है। कालिदास इसको दक्षिण-सागरके किनारे रखते हैं।[14] पाण्ड्यकी राजधानी उरगपुर[15] उपर्युक्त है। यह सम्भवतः मदुरा होगा जिसका तमिल नाम अलवय है, जिसका शब्दार्थ है, सर्प (उरग)। दो काल्पनिक नगर कैलासपर अलका[16] और हिमालयकी राजधानी ओषधिप्रस्थ[17] भी पूर्व वर्णित है।

---

१ रघु०, ६.४३। २ वही, ३७। ३ पर्जिटर: मार्कण्डेय पुराण, पृ० ३३३, नोट; जे० आर०ए०एस०, १९१०, पृ० ४४५–४६। ४ रघु०, १५.९७, १६.३१। ५ रामायण, उत्तरकाण्ड, खण्ड १२१। ६ रघु०, १६.२१। ७ वही, ३३। ८ वही, ७.३३। ९ शाकु०, पृ० २२। १० शाकु०, एक्ट० १। ११ रघु०, ८, ३३। १२ डे: ज्यो० डिक० एन्स० मेड० इण्ड०, पृ० ७०। १३ न्यूबबोल्ड: जे० ए० एस० बी०, भाग १५० पृ० २२८। १४ रोधसि दक्षिणोदधेः रघु०, ८.३३। १५ वही, ६.५९। १६ कुमा०, ६.३७; मेघ० पू०, ऋतु० उ०, ६३। १७ कुमा०, ६.३३, ३६।

द्वितीय खण्ड

राजनीति और शासन

अध्याय ४

राज्य और राजा

राज्य

कालिदासकी रचनाओंसे हमें विदित होता है कि हिन्दू-राजनीति राज्यको सात भागोंमें विभक्त करती है और, अर्वाचीन विचारकोंके[1] समान ही, उनको अंगकी[2] संज्ञा देती है, यानी शरीरांगकी, जिससे अंगीका भाव स्पष्ट होता है। ये सप्तांग, जिनके नाम लेकर कवि विशेष उल्लेख नहीं करता, राजनीतिके ग्रंथोंमें स्पष्टतः वर्णित हैं। अमरकोषके अनुसार इन राज्यांगोंके नाम होते हैं—राजा अर्थात् स्वामी, अमात्य, राजनीतिक मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सैन्य।[3] शुक्र-नीति कहती है,

१ सीलेः इन्ट्रोडक्शन टू पोलिटिकल साइन्स, पृ० १६। २ रघु०, १.६०। ३ स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। सप्तांगानि; मिलाकर कौटिल्य, जिसके पास वही है—पुस्तक ६.१। मिलाकर भी।

स्वाम्यमात्यपुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ तथा सुहृत्।
सप्तैतानि समस्तानि लोकेऽस्मिन्राज्यमुच्यते।।मनु.,९.२९४।
स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोशो बलं सुहृत्।
परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते।। कामन्दक नीतिसार। ४.१।

"राज्य-रूपी शरीरके सात अंग हैं, यानी स्वामी, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और दण्ड"[1]। उसीमें यह लेख भी है, "राज्यके इन सप्त शरीरांगोंमें राजा अर्थात् स्वामी शिर है, मंत्री चक्षु, मित्र कर्ण, कोश मुख, सैन्य बुद्धि, दुर्ग भुजाएं और राष्ट्र पाद।"[2] ये सभी मिलकर राज्यके अस्तित्व, उसके हित तथा उत्थानका निर्माण करते हैं और इनमेंसे एकका भी अभाव सारी शरीर-रचनाको अपूर्ण[3] बना देता है।

राज्यका सिद्धान्त और राज्यके साथ राजा का सम्बन्ध

राज्यके इन सप्तांगोंमें महत्त्वकी दृष्टिसे राजाका स्थान सर्वप्रथम था। राज-पद, जो वैदिक युगमें[4] निर्वाचन-जन्य था और जिसमें प्रजातंत्र के इतने तत्त्व काम कर रहे थे, कालिदासके कालमें वंश-परम्परागत ही नहीं रहा था, प्रत्युत ईश्वरीय समझा जाने लगा था। राजा और राज-पदके विषयमें कालिदासके विचार मनुके विचारोंसे सामंजस्य रखते हैं। राज्यके साथ राजाके संबंधकी[5] प्रणालीके सिद्धान्तमें कालिदास मनुका अक्षरशः अनुकरण करते हैं और राज्यपर राजाके अधिकार तथा उसके गुणोंके परिगणनमें उनका बार-बार नामोल्लेख[6] करते हैं। अतः कालिदास की राजनीति स्वभावतः परम्पराके आधारपर चलती है। मनुके वाक्यों

१ खण्ड १.१२१—१२२। २ वही, १२२—१२४। ३ कामन्दकनीति-सार, ४.१,.२। ४ हिन्दू पोलिटी, पार्ट १. पृ० ११—१६। ५ नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः। रघु० १४.६७। ६ वही, १.६, ८, ११, १४, १५, १७, २.३३, ४.७, ६.३, १४.६७, १८.४०; मिलाकर भी वही, १४.१०, १६.२२, २४.३६।

का अनुसरण[१] करता हुआ कवि राजाको असामान्य व्यक्ति मानता है। राजा 'सृष्टिका सार, सर्वप्रकाशका प्रतीक' है और उस 'सर्वोन्नत'के द्वारा राजनीति क्रान्त होती[२] है। दिलीपकी रानी सुदक्षिणा जब गर्भवती होती है तो मानो उसके शरीरमें[३] लोक-पाल प्रवेश करते हैं। इलाहाबादके स्तम्भ-लेखमें[४] लिखित है कि समुद्रगुप्तने ऐसे कार्य सम्पादन किये जो मनुष्यके लिए सम्भव नहीं थे। सो कालिदास मनुके सदृश ही अपने ईश्वरीय अधिकारसे राजाका राज्याधिकार प्राप्त करना समझते हैं। जैसा अगले श्लोकसे प्रकट होता है, राजामें सर्वशक्तिशाली देवताओंकी शक्तियाँ एकत्र हो सन्निविष्ट होती मानी जाती थीं। "इन्द्र वर्षा करता है, यम रोगोंकी उत्पत्तिको रोकता, वरुण जलयान-संचालकोंके जल-मार्गको

---

१ रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।। मनुस्मृति, ७.३ ।
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।। वही, ४ ।
यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः ।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ।। वही, ५ ।
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च ।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ।। वही, ६ ।
सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट् ।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः ।। वही, ७ ।
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ।। वही, ८ ।

२ स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुरिवात्मना । रघु०, १.१४; तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना । वही, १.२८, अगाधसत्त्व वही, ६.२१ । ३ वही, २.७५, ३.११, १८.७८, मिलाकर दिशः प्रसेदुः वही, ३.१ निशीदीपाः सहसा हतत्विषो वही, १५ । ४ कर्माण्यनेकान्यमनजसदृशानि छन्द ५ ।

सुरक्षित रखता, कुबेर भी उसके कोशकी वृद्धि करता...।"[1] इस प्रकार ये लोकपाल जिनकी शक्तियाँ उसके जन्मके साथ मिली हैं, उसकी सहायता करते हैं। शुक्रनीति भी पहले अध्यायके १४१-४३ श्लोकोंमें राजाकी इन दिव्य शक्तियोंका उल्लेख करती है और इसके उपरान्त आगे आनेवाले १४४–५१ श्लोकोंमें उसीकी व्याख्या। राजा कानूनके मूर्द्धाभिषिक्त था और कोई मानव उसके कार्योंके निर्णायकके पदपर आसीन नहीं हो सकता था। उसकी अन्तर्प्रविष्ट दिव्य शक्तियाँ उसके अपराधोंके लिए दण्डविधान कर सकती थीं और यदि हम घटनाओंके साधारण धरातल से होकर कविके कथनकी वास्तविकतामें झाँक सकें, तो हम अपनेको अभिज्ञानशाकुन्तलके राजाकी आत्म-परीक्षाके आमने-सामने खड़े पायेंगे। वहाँ राजा व्यवस्था-उल्लंघन (विमार्गप्रस्थितानाम्) के दण्डविधाताके पदसे एक स्त्रीके स्वधर्मस्खलनपर एक निर्दय और क्रूर दण्डका विधान करता है, जिसने धर्मका मार्ग छोड़ अपने पिताके आश्रमको अपवित्र किया था। उसके अपराधमें राजाने स्वयं भाग लिया था और जब अपराधिनीका दण्ड-विधान समाप्त हुआ, उसके शरीरमें स्थित ईश्वरीय तत्त्वोंने उसे अपने अपराधका दण्ड स्वीकार करनेको तय्यार किया। फलतः राजा आत्म-वेदना और असीम मानसिक परितापका शिकार बना।

राजा भगवान[2], प्रभु,[3] जगदेकनाथ,[4] ईश्वर,[5] ईश,[6] मनुष्येश्वर[7], प्रजेश्वर,[8] जनेश्वर,[9] देव,[10] नरदेव,[11] नरेन्द्रसम्भव,[12] मनुष्यदेव[13] आदि विशेषणोंसे सम्बोधित होता था और इनके अन्दर उसके दूसरे गुणबोधक थे— राजेन्द्र,[14] वसुधाधिप,[15] भूमिपति,[16] राजा,[17]

---

१ रघु०, १८.८१। २ माल० एक्ट० ४। ३ रघु०, ५.२२। ४ वही, २३। ५ माल०, एक्ट० ४; रघु०, ३.५, ४.८१, ८४, ५.३९। ६ रघु०, ४.८३। ७ वही, २.२। ८ वही, ३.६८। ९ वही, ११.३५। १० शाकु०, पृ० ६८; विक्र०, पृ० ६४। ११ रघु०, ६.८। १२ वही, ३.४२। १३ वही, २.५२। १४ वही, १.१२। १५ वही, ३२। १६ वही, ४७। १७ वही, २७,५७।

प्रियदर्शन,[1] अर्थपति,[2] भुवो भर्तुः,[3] महीक्षित्,[4] विशांपति,[5] प्रजाधिप,[6]
मध्यमलोकपाल,[7] गोप,[8] महीपाल,[9] पुरुपाधिराज,[10]
राजा क्षितीश,[11] नृप,[12] पार्थिव,[13] नरेन्द्र,[14] सचिव-
सखा,[15] अधिपति,[16] सम्राट्,[17] नृसोम,[18]
क्षितिप,[19] नरलोकपाल,[20] अगाधसत्त्व,[21] दण्डधर,[22] पृथिवीपाल,[23] भट्टारक,[24] आदि। उसकी रानी देवी[25], राज्ञी,[26] महिषी[27] या अग्रमहिषी[28] के नामोंसे विभूषित होती थी और पटरानीको महादेवी[29] और भट्टिनी[30] कहते थे। इन नामोंका प्रयोग कविकाल और उसके पूर्व भी होता था। राजाके ईश्वरीय रूपका दर्शन शुभ माना जाता था और इस अभीष्टकी सिद्धिके लिए लोग राज-प्रासादके[31] पास एकत्रित होते थे।

राजाका राज्य-लिंग परिच्छद,[32] राजककुद,[33] नृपति[34]ककुद, राज्य-

---

१ वही, ४७। २ वही, ५६, ६.३। ३ वही, १.७४, ७.३२। ४ वही, १.८५। ५ वही, ६३। ६ वही, ३.४२। ७ वही, १६। ८ वही, २४, ४.२०, १५.४४। ९ वही, ३४। १० वही, ४१। ११ वही, ६७। १२ वही, ७१। १३ वही, ३.२१। १४ वही, ३.३६। १५ वही, ४.८७। १६ वही, ५.३३। १७ वही, २.५, ४.८८। १८ वही, ५.५९। १९ वही, ७६। २० वही, ६.१। २१ वही, । २२ वही, ९.३। २३ वही, १५.१। २४ माल०। २५ रघु०, ३.७०, ५.३६, १४.३२, विक्र०, पृ० २८, ६४; माल०, पृ० १०५, ५.१२; शाकु०, पृ० ८१। २६ रघु०, १.५७; माल०, पृ० १६। २७ रघु०, ८.८२, १४.५। २८ वही, १०.६६। २९ शाकु०, पृ० १२८। ३० वही, पृ० १९३; विक्र०, पृ० ५३-५४; माल०, पृ० ५३। ३१ रघु०, १९.७। ३२ वही, १.१९, ९.७०; विक्र०, पृ० ९३, ९४। ३३ रघु०, १७.२७। ३४ वही, ३.७०।

चिह्न,[1] पार्थिवलिंग[2] आदिसे सूचित होता था। राज्य-लिंगके लिए कालिदासने परिच्छद शब्दका प्रयोग किया है। राजाका परिधान या आभूषण परिच्छद है, जो साधारण अर्थमें राजकीय बाहरी उपकरण, राज्य-चिह्नके लिए व्यवहृत होता है। कविने राज्य-चिह्नोंमें, सिंहासन,[3] राज्यछत्र,[4] चमर,[5] मध्य-रत्न-जटित मुकुट,[6] राजदण्ड,[7] विजय[8]-शंख,[9] वितान[10] और सुवर्णमयी पाद-पीठिकाका[11] उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त गुप्त सम्राटोंके[12] जैसे बन्दीजन[13] थे, जो उसके और उसके पूर्वजोंके[14] स्तुति-पाठ करते, दिनके घंटोंकी घोषणा करनेवाले चारण, दास[15] और अन्य सेवकोंके[16] साथ पणिक[17], यवनियाँ[18] और किरातियाँ[19] भी थीं। राजाके बैठनेके लिए सभा-भवन[20] (सदोगृह, संसद, सभा) का प्रसंग आता है। इनमें तीन—एक छत्र और दो चामर—बिलकुल अनिवार्य थे। ये ही राज-पदके मुख्य चिह्न थे और किसी भी अवस्था में इनका त्याग[21] नहीं हो सकता था (अदेयत्रयम्)। प्राचीन कालके

राज्य-लिंग

---

१ वही, २.७। २ वही, ८.१६। ३ वही, ६.१, १७.७, १६.५७। ४ वही, २.१३, ४७, ४.५, १७, १४.११, १६.२७, १७.३३, १८.४२। ५ वही, ३.१६, १७, १४.११, १८.४३; कुमा०, १.१३; विक्र०, ४.१३। ६ रघु०, ६, १६, ६.२२, १०.७५। ७ वही, १०.७५, १३.५६। ८ वही, ६.३। ९ वही, ७.६३। १० विक्र०, ४.१३; रघु०, १७.२८। ११ रघु०, ६.१५; १७.२८। १२ वही, ४.६, ५.६५; विक्र०, ४.१३। १३ गीतिश्च स्तुतिभिश्च वन्दकजनो, स्कन्दगुप्तका भीतरी प्रस्तर स्तम्भ लेख, छन्द ७। १४ शाकु०, पृ० १५७। १५ विक्र०, ३.१६। १६ रघु०, १.३७, २.४, ६। १७ विक्र०, ४.१३। १८ शाकु०, पृ० ५७, २२४; विक्र०, पृ० १२३। १९ रघु०, १६.५७। २० वही, ३.६६,६७, सभागृह १५.३६, संसद् १६.२४। २१ वही, ३.१६।

राजाओंके वर्णनमें इनके नाम आते हैं तथापि कविके समयमें भी ये राज्य-लिंगके रूपमें आते थे।

सिंहासन[1] राजकीय आसन था और रत्न-जटित सुवर्णका बना हुआ। उसका बहुमूल्य होना स्वाभाविक था। टी० ए० गोपीनाथ रावके शब्दोंमें इसकी व्याख्या है, 'एक हस्त-प्रमाण ऊंचा वृत्ताकार अथवा आयताकार चतुष्पाद आसन, इस आसनके चारों पाद चार लघुकाय-सिंहाकार[2] के होते हैं। जो सुवर्ण-निर्मित न होकर केवल रत्नजटित होते थे, नृपासन या भद्रासन कहलाते थे। मानसार नौ प्रकारके सिंहासनोंका उल्लेख करता है। मानसार[3] के 'धवल-छत्र' को कालिदास निष्कलंक श्वेत राजकीय छत्र कहकर संकेत करते हैं और चमरी गौके पुच्छाग्रके बने चामर-युग्मके साथ इसको मिलाकर तीन ऐसे राज्यलिंग बताते हैं जो राजाके लिए सर्वस्व देकर भी रक्षणीय (अदेयत्रयम्[4]) है। श्रीवितान स्वर्णालंकृत राजकीय चन्दोवा था। यह वितान साधारणतः संसद्की छतके अर्थमें आता था या उसकी अनुपस्थितिमें चाँदनीके लिए। आज भी राज-प्रासादकी शायद ही कोई छत होगी जो सुवर्ण-रेखाओंसे अलंकृत न हो। उत्कृष्टता या लक्ष्मी देवीके योग्य पवित्रताका बोध करानेके लिए 'वितान' शब्दके पूर्व 'श्री' शब्दका संयोग किया गया होगा अथवा राज-प्रासादोंमें प्राप्य किसी छत-विशेषसे अभिप्राय होगा जो अपनी पवित्रता के कारण लक्ष्मीको वहाँ निवास करनेको आकर्षित करे। काव्यात्मक कथन होनेके कारण यह अलंकृति-पद भी हो सकता है।

राजाको अग्रजन्मा तथा वृद्ध और राज्य-शासनसे अवकाश लेनेवाले राजा-द्वारा उसके उत्तराधिकारी होनेके उपयुक्त गुणोंसे युक्त होना चाहिए।

---

१ वही, १९.५७। २ दी हिन्दू आइकोनोग्राफी, भाग १, पार्ट १, पृ० २१। ३ पी० के० आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ६०। ४ वही। ५ रघु०, ३.१६।

राजाके व्यक्तिगत गुण

शुक्रनीति जन्मसे अधिक गुणपर बल देती है। उसका कथन है, "राजा अपने गुणोंके कारण समादृत होता है। जन्म राज-पद नहीं प्रदान करता। उसका इतना सम्मान उसके राज-कुलमें उत्पन्न होनेसे नहीं, परन्तु उसके पराक्रम, बल तथा शौर्यसे होता है।"[1] केवल जन्मके आधारपर दावा उपस्थित करनेवाले अग्निवर्णके सदृश उदाहरण भी थे, तथापि कवि शासकके योग्य गुणोंका ही समर्थन करता है जो ऐतिहासिक तथ्योंसे पुष्ट होते हैं। समुद्रगुप्तके[2] पिताके समान कालिदास अग्रजन्मा होनेसे अधिक व्यक्तिगत योग्यताओं[3] पर जोर देते हैं। एलाहाबादके स्तम्भ-लेखसे प्रकट होता है कि अपने वंश के दूसरे राजकुमारोंको अपनी योग्यतासे नतमस्तक कर समुद्रगुप्त अपने पिता-द्वारा राजा चुना गया था और उसके इस चुनावको सभासदों और मंत्रियोंने चिन्ता-मुक्तिके उच्छ्वासके साथ स्वीकृत किया था।[4] इससे गुप्त-सम्राटों और कालिदासके विचारोंमें इस विषयपर साम्य विशेषत: लक्षित होता है। सबसे पहले उनकी दृष्टिमें राजाको पुष्टांग होना चाहिये, क्योंकि पूर्ण रूपसे स्वस्थ शरीर ही रक्षाका[5] उद्देश सम्पादन कर सकता है, जो राजाका मुख्य धर्म है। उसमें अदम्य साहस होना चाहिए और वह सर्वप्रथम आत्म-रक्षाके योग्य हो।[6] उसे धर्म-शास्त्रों[7] और अन्य

---

१ खण्ड १.३६३–३६४। २ एलाहाबाद स्तम्भ-लेख। ३ ज्येष्ठं पुरो जन्मतया गुणैश्च रघु०, १६.१ उत्थितो गुणैः १७.३४, ७५; लोक-कान्ताः गुणाः १८.४६; विक्र०, ५.२१।

४ आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कीर्णितैः रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्व्वीमिति ॥

५ आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः रघु०, १.१३। ६ जुगोपात्मानमत्रस्तो रघु०, १.२१। ७ शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिः, वही मिलाकर खारवेल राजाका हथिगुम्फ–लेख।

अनेकों विद्याओंका[1] स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए जिससे वह उनकी सहायता से न्यायका सम्पादन कर सके। वह सदाचारी हो और वह नितान्त पाप-वृत्ति-हीन[2] हो। उसे विशेषरूपसे बुरा संसर्ग छोड़ देना[3] चाहिए क्योंकि उससे बुराई करनेकी प्रवृत्ति होती है और उसे अपने अर्थ और कामके साधनमें भी निरपेक्ष रूपसे सत्यमंध रहना और उनमें सत्कर्मका[4] संचार करना चाहिए। अर्थशास्त्रकी व्यवस्थाके अनुसार, राजाको अपनी इन्द्रियोंपर सर्वांशमें अधिकार होना चाहिए। वह कहता है "..... इन्द्रियोंको वशमें नहीं रखनेवाला शीघ्र नष्ट होगा, यद्यपि वह दिक्पालोंसे रक्षित सारी वसुन्धराका स्वामी हो।" शुक्र अपने सारे नीति-शास्त्रमें[5] पूर्ण इन्द्रिय-निग्रहके इस दृष्टि-विन्दुका प्रतिपादन करता है। शुक्रनीति के विचारमें राजा संयमित भोगका अधिकारी है और निश्चित सीमामें भी उसके भोगको निगृहीत[6] होना चाहिये। समुद्रगुप्तके विषयमें कहा जाता है कि 'वह विद्वत्संसर्गका अभ्यासी था।'[7] कालिदासका कथन है कि राजामें कठोर और कान्त[8] (भीमकान्तैः गुणैः) दोनों प्रकार के गुणोंका समावेश होना चाहिए जिससे वह अतिसंसर्गके दोषोंसे बचते हुए प्रजाका प्रिय हो जाता है। राजाके आवश्यक गुणोंमें लोकप्रिय और कान्त गुणोंपर[9] कालिदास बल देते हैं। राजाओंके चार परम्परागत दोषों, यानी आखेट, द्यूत, मद्यपान और स्त्री-सेवनमें[10] उसे आसक्त

---

१ विद्यानां पारदृश्वनः रघु०, १.२३। शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां वही, ८। २ तस्य धर्मरतेरासीत् वही, २३। अनाकृष्टस्य विषयैः वही। ३ हीनसंसर्गपराङ्मुख—वही, १८.१४। ४ अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव, वही, १.२५। ५ शुक्रनीति, खण्ड १। ६ वही, २१५—१६, २३०—३२। ७ यस्य प्रज्ञानुषङ्गोचितसुखमनसः आल० वी० इन्स, छन्द ३। ८ रघु०, १.१६। ९ लोक-कान्ताः गुणाः वही, १८.४९; गुणैर्लोककान्तैः विक्र०, ५.२१। १० रघु०, ९.७। टीकाकार-द्वारा मनुका उल्लेख।

नहीं होना चाहिए। उसे अपने राज्यकी सभी अन्दरूनी बातें स्वयं[1] देखनी चाहिये। उसे पिताके सदृश[2] अपनी प्रजाका पालन करना चाहिए। मन्दसरके प्रस्तर-लेखमें वन्धुवर्माको 'प्रजा-बन्धु'[3] कहा गया है। कालिदासके शब्दोंमें यह एक आदर्श राजाका गुण है और सम्भव है, बहुसंख्यक रूपमें, उनके सम-सामयिक राजाओंको यह प्राप्त न हो, यद्यपि गुप्तवंशीय राजा उनके इस आदर्शके बहुत कुछ निकट पहुँचे हुए थे।

प्रो० ए० बी० कीथके संकेतानुसार कालिदासने दिलीपमें एक कर्त्तव्य-निष्ट प्रजापालकको चित्रित किया है। उनका रघु "राजाके सर्वोच्च निःस्वार्थ सद्गुणोंका प्रतीक है, जिसमें भोग और त्याग और 'यथाकामार्चितार्थित्व' तथा 'त्यागसम्भृतार्थित्व' के समन्वयका प्रदर्शन है, अपनी पत्नीके लिए अजका पश्चात्ताप करनेमें उच्च कोटिकी कृपालुता प्रकट होती है, जो अपनी अत्यन्त साधारण प्रजाके[4] साथ व्यवहारमें भी राजा प्रकट करते थे।" यह अन्तिम घटना, जिसके बीजका पता किसी पुराण या रामायणमें नहीं चलता और जो एकमात्र कविके मस्तिष्ककी सृष्टि है, राम-द्वारा सीताके परित्यागसे महत्तम त्यागको गुरुतर करनेवाली है, और यह स्पष्ट करती है कि किस प्रकार एक आदर्श हिन्दू राजा, जो अपनी पत्नीके प्रति अजके समान कोमल भावना रखनेवाला है, सहज ही रामके रूपमें अपने कर्त्तव्यपालनमें दृढ़ और अनासक्त हो सकता है, और अपनी उसी प्यारी एवं सुन्दरी पत्नीको प्रजा-रंजनार्थ त्याग देता है। राजाके रूपमें रामने कठोर नैतिक पवित्रताका एक उदाहरण रखा और

---

१ संवृतमंत्रस्य रघु०, १.२०। टीकाकार याज्ञवल्क्यका उल्लेख करता है:—

"मन्त्रमूलं यतो राज्यमतो मन्त्रं सुरक्षितम्।
कुर्याद्यथा तत्र विदुः कर्माणामाफलोदयात्॥"

२ पितेव पासि रघु०, २.४८। ३ छन्द, २६। ४ ए० बी० कीथ: ए हिस्ट्री आफ सन्स० लिट०।

अपने समस्त कार्योंको सन्देहसे परे प्रमाणित करना अपना कर्त्तव्य समझा। "बादके कालका कोई भी राजकीय आदर्श इससे सुन्दर उदाहरण नहीं रख सकता अथवा इससे योग्यतर आदर्शकी ओर इंगित नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें यह सुसंगत है कि ऐसे आदर्श राज्यको राम-राज्यकी अभिधा दी जाय जहाँ प्रजाके हितको सर्वप्रथम स्थान मिलता हो--राजाके स्वार्थ से भी प्रथम।[१]"

कालिदासके चित्रणके अनुसार एक भारतीय राजाके लिए उसकी राजकीय मर्यादा सादगीके साथ बेमेल नहीं होती थी, सुवर्णमय पात्रोंके स्थानमें साधारण वर्त्तनका प्रयोग करनेसे राजाका त्यागपूर्ण राज-पद बिगड़ खड़ा नहीं होता था और प्रजाके हित और उसके विश्वासके लिए राजा कोई भी बलिदान बहुत बड़ा[२] नहीं समझता था। ऐसे राजाके निर्वाचनके लिए राज-सत्ता, जिस प्रकार एक समझदार पुत्री अपने पिता की आज्ञाकी[३] अपेक्षा रखती है उसी प्रकार, अपने स्वामीकी सम्मतिके लिए प्रतीक्षा करती थी। कविके इस विचारके साथ जूनागढ़के चट्टानके लेखकी समानता, जिसमें स्कन्दगुप्तकी लूटकी प्रशंसा की गयी है रोचक है। स्तुतिपाठक भाट कहता है कि—धन और एश्वर्यकी देवी लक्ष्मीने उत्तराधिकार प्राप्त करनेके उसके गुण और योग्यताओंपर विचारपूर्वक निर्णयके साथ दूसरे राजपुत्रोंको अपनी मर्यादाके अनुकूल[४] न होनेके कारण परित्याग कर उसका वरण किया था। राजासे आशा की जाती थी कि वह राज्य-संस्कारोंमें दक्ष (विधिज्ञः)[५] हो। इन्द्रियोंके विषयों को वह अवश्य दृढ़तापूर्वक दमन करे।[६]

---

१ वही। २ वही। ३ श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्षे। रघु०, ५.३८। ४ 'क्रमेण बुद्ध्वा निपुणं प्रधार्य ध्यात्वा च कृत्स्नान् गुणदोषहेतून्। व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार॥' छन्द ५। ५ रघु०, ५.३। ६ वही, २३।

राज्यका केन्द्रीय व्यक्ति राजा स्वतंत्र नहीं था वरन् वह भारी दायित्वों से लदा था। राजन् और उसका मूल राट् दोनोंका शब्दार्थ शासक है।

राजाके कर्त्तव्य

इसका संबंध लैटिनके शब्द रेक्ससे है। किन्तु हिन्दू राजनीतिक सिद्धान्तियोंने इसको एक दार्शनिक व्युत्पत्ति दी है। नृपको राजाकी संज्ञा इसलिए दी जाती है कि सुशासनके द्वारा प्रजाको प्रसन्न करना (रंज) उसका कर्तव्य है। इस दार्शनिक व्याख्याको सारे संस्कृत साहित्यमें[1] स्वतः प्रमाण मान लिया गया है। कालिदासको भी अपने राजाकी वही परिभाषा करनी पड़ती है—वह क्योंकि अपनी प्रजाको प्रसन्न[2] करता है इसलिए राजा है (राजा प्रकृतिरंजनात्)। राजाको प्रजा-रंजन[3] (प्रजाके हृदय को वशमें करने) में प्रवीण होना चाहिए और जब उसके दयालुतापूर्ण शासनमें प्रजा प्रसन्न[4] होती थी तो उसकी प्रशंसा होती थी। प्रजा-जनमें कौन प्रसन्न हैं और कौन राज्याधिकारियों[5]-द्वारा सताये गये हैं, यह देखनेके लिए शुक्रनीति राजाको अपने राज्यमें भ्रमण करनेका विधान करती है और प्रजाकी प्रसन्नताके[6] लिए गजारोहण कर नगरमें घूमनेका आदेश भी। गुप्त-लेखोंमें[7] भी राजाका मुख्य लक्षण प्रजा-रंजन ही कहा गया है। पुरानी कहावत 'राजा कालस्य कारणम्[8]', राजा समयका प्रवर्तक है, राजाके महत्त्वका कविके शब्दोंमें संक्षेप है। यही वाक्यांश शुक्रनीतिमें भी आया है। वह है—"राजा रीति, रिवाज और आन्दोलनोंके प्रचलनके पीछे कारण रूप होनेसे कालका निर्माता या प्रेरक (युग-निर्माता) है। यदि युग और काल (प्रथा और कर्त्तृत्वका)

---

१ के० पी० जायसवालः हिन्दु पोलिटी, भाग २, खण्ड २२, पृ० ३। २ रघु०, ४.१२ : प्रकृतिमण्डलमनुरञ्जयन्राज्यं करोति, विक्र० पृ० १२१। ३ राजा प्रजारञ्जनलब्धवर्णः रघु०, ६.२१। ४ विक्र०, पृ० १२१। ५ खण्ड १.७५१–५२। ६ वही, ७४४। ७ संरञ्जयाञ्च प्रकृतीर्बभूव, छन्द २२, स्कन्दगुप्तका जूनागढ़ शिला-लेख मिलाकर. प्रियो जनस्य वही। छन्द १६ : सर्वाद्धितप्रीति गृहोपचारैः वही, २२। ८ विक्र०, पृ० ९३

कारण हों तो––उनके अनुसार कार्य करनेवालोंकी कोई विशेषता नहीं ।"[1] अन्य स्थलपर उसी नीतिके उद्गार हैं––"राजा अपने काल तथा सदाचार और कदाचारका निर्माता (युग प्रवर्त्तक) है । अपने राजतन्त्रके यन्त्रके विस्मयजनक-संचालन-द्वारा अपने प्रजा-वर्गके प्रत्येक व्यक्तिको यथास्थान पालन करना चाहिए ।"[2] कालिदास और शुक्रनीति दोनोंने यहाँ जिस तर्क-सरणीका अनुसरण किया है उसके अनुसार राजाके कार्य युगकी आत्म-शक्तिके संचारक होते हैं । आकार युगका निर्माण करता है और राजा आकारका निर्माता है इसलिए राजा काल या समयका स्रष्टा है । प्रजारंजन राजाका मुख्य कर्त्तव्य समझा जाता था । जैसा कि उसकी उपाधिके शब्द-साधनसे प्रकट होता है एकमात्र राजा होनेके कारण ही उसका प्रजा-रंजनका अपना प्रथम कर्त्तव्य नहीं छोड़नेका आदेश किया गया था ।

प्रजा-रंजनका अर्थ था राजा-द्वारा कठोर शासनके कर्त्तव्योंका पालन होना । शासन '(तंत्र) का कार्य कोई ऐसा-वैसा काम तो था नहीं और सिंहासनासीन होना इन कर्त्तव्योंका पालन था । राजाके सहचर वैतालिक[3] दिनके प्रहर और विशेषकर राजाके दैनिक काल-विभागकी सूचना देते थे । कालिदास यह लिखते हुए कि सूर्यके समान राजा दिवसके षष्ठ प्रहरकी समाप्तिपर विश्राम लेता था एक स्थल[4] पर, इस काल-विभागकी ओर संकेत करते हैं । राज-नीति शास्त्रके नियोग, जिसके अनुसार उनके राजा को अपना कार्य-क्रम निश्चित करना है[5], रात और दिनके भी विभाग करते

१ खण्ड १. ४३–४४ । २ वही, ११९–१२० । ३ वैतालिक शाक० पृ० १५७; माल, पृ० ३२, सूतात्मज, बन्दिन् आदि । ४ शाकु०, ५.५; काले रघु० १४.२४; कामं धर्मकार्यमनतिपात्यं देवस्य; शाकु०, पृ० १५४; षष्ठं कालं त्वमपि लभसे देव विश्रान्तिमह्नः विक्र० २.१; उपरूढो मध्याह्नः माल० २, १२; रघु, १७.४९ । ५ रात्रिंदिवविभागेषु यदादिष्टं महीक्षिताम् । तत्सिषेवे नियोगेन स विकल्पपराङ्मुखः ।। रघु० १७.४९ ।

है, उसकी ओर भी सामान्य दृष्टि डाली गई है। कालिदास इन काल-विभागोंका विशेष उल्लेख नहीं करते, किन्तु क्योंकि उनका छठा प्रहर कौटिल्यके छठा प्रहरसे मिलता है, हम कह सकते हैं कि वे इस संबंधमें केवल अर्थशास्त्रका अनुसरण करते है। कौटिल्यको प्रमाण मानकर इन काल-विभागोंको इस प्रकार अंकित कर सकते हैं—"आठ भागों (प्रहरों) में विभक्त दिनके प्रथम प्रहरमें राजा प्रहरियोंको चौकियोंपर नियुक्त करनेके बाद आय-व्ययके लेखाका निरीक्षण करेगा, दूसरे प्रहरमें वह नगर तथा ग्रामके निवासियोंके मामलोंपर ध्यान देगा, तीसरे प्रहरमें वह केवल स्नान और भोजन ही समाप्त नहीं करेगा प्रत्युत स्वाध्याय भी करेगा, चौथेमें वह सुवर्ण (हिरण्य) में राजस्व ग्रहण करनेके अतिरिक्त राज्याधिकारियोंसे मिलेगा भी, पाँचवेंमें अपने मंत्री-मण्डलके साथ लिखित रूपमें (पत्र-संप्रेषणेन) विचार-विनिमय करेगा और गुप्तचरोंकी लायी हुई गुप्त सूचनाओंको ग्रहण करेगा, छठेमें वह अपने प्रिय मनोरंजनमें अथवा आत्मचिन्तनमें समय व्यतीत करेगा, सातवेंमें वह हस्ति, अश्व, रथ और पदाति सैन्यका निरीक्षण करेगा और आठवें प्रहरमें अपने सेनानायकके साथ वह सैन्य-संचालनकी बहुविध योजनाओंपर विचार-विमर्श करेगा।" दिवसकी समाप्तिपर वह संध्या-वन्दनमें निरत होगा।

रात्रिके आठ प्रहरोंमेंसे पहलेमें वह गुप्त राजदूतोंसे मिलेगा, दूसरेमें वह स्नान, भोजन और अध्ययन करेगा, तीसरेमें तूर्यध्वनिके बीच वह शयन-कक्षमें प्रवेश कर चौथे और पाँचवें प्रहरोंको शयनमें लगायेगा, छठेमें तूर्य-निनादको सुनकर वह उठ बैठेगा और शास्त्रोंके आदेश तथा अपने दैनिक कर्त्तव्योंका स्मरण करेगा, सातवेंमें वह राजकीय योजनाओंपर विचार करने बैठेगा और गुप्तचरोंको बाहर भेजेगा और आठवें प्रहरमें वह ऋत्विक, पुरोहित और आचार्यके आशीर्वाद ग्रहण करेगा और अपने राजवैद्य, महा (पाचक) तथा राजज्योतिषीसे मिलनेके बाद सवत्सा गौ और वृषभकी प्रदक्षिणा कर राज-सभामें पदार्पण करेगा।"

१ भाग १, अ० १९।

राजाओंके कार्य-क्रम निश्चित करते समय याज्ञवल्क्य ठीक वही विधान करते हैं और उन्हीं शब्दोंके द्वारा जैसा कौटिल्यने किया है। कालिदासके प्रायः एक शताब्दी बादके लिखे गये दशकुमारचरितमें अर्थशास्त्रके उद्धरणों-द्वारा उसी योजनाकी पुष्टि की गयी है। कवि रात-दिनके अन्य भागोंका उल्लेख नहीं करता क्योंकि नाटकीय अथवा काव्यके कथानकके लिए इस प्रकारके संदर्भकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

निश्चित कर्त्तव्य-क्रमसे यह स्पष्ट होगा कि राज-पद पानेवालेको कभी विश्राम नहीं। कालिदास इसकी सत्यताको स्वीकार करते हैं।[1] जिस प्रकार "सूर्यने अपने अश्वोंको एक बार ही रथ-लग्न किया है, वायु रात-दिन गमन करता रहता है और शेष सदा पृथ्वीका भार वहन करता है" उसी प्रकार राजाको अपने शासनके दायित्वोंको सतत उठाये रखना है।[2] इन त्रिदेवोंके सदृश ही, जो विश्राम नहीं लेते, राजाओंको भी अहर्निश कार्य-रत रहना था। उससे आशा की जाती थी कि वह सूर्यके समान अपने प्रजा-वर्गमें जीवनकी स्फूर्ति तथा सम्पत्तिकी वृद्धि करे, वायुके सदृश शक्तिमान् और जीवन-प्रदायी (मन्द गतिमें) हो, और शासनके दायित्वोंको वहन करनेमें शेषके समान सुदृढ़ रहे। वह मानो राज्यका स्वत्वाधिकारी था और इसके विशाल बोझको अपने ऊपर सँभाले था। लोक-हितके कार्यमें ऐसी उल्लेख्य सेवा उस एक व्यक्तिकी थी जो अपने निर्वाहके लिए अपने द्वारा रक्षित भूमिकी उपजका छठा भाग रखता था।[3]

एक श्रान्त राजाके शब्द हैं, "काम्य वस्तुकी प्राप्तिके बाद सारी उत्सुकता समाप्त हो जाती है; जो कुछ प्राप्त हो चुका है उसकी रक्षाका काम सिर खाने लगता है। राज्य, जिसका शासन-सूत्र किसीके हाथम होता है, आमोदकी तरह श्रान्तिका सर्वथा निराकरण करनेके लिए नहीं होता क्योंकि वह तो श्रान्तिकारक है जिसका वंश-दण्ड व्यक्ति अपने हाथमें

---

१ अविश्रामोऽयं लोकतंत्राधिकारः शाकु०, ० १५४। २ वही ५.४। ३ षष्ठांशवृत्तेः शाकु०, पृ० १५४।

लिये रहता है।"[1] इस कथनसे यह प्रकट होता है कि राज-पदके साथ कितना अथक परिश्रम और चिन्ताएँ सम्बद्ध थीं। इस प्रकार अपने सुखके प्रति उदासीन रहकर राजा प्रतिदिन अपनी प्रजाके लिए श्रमशील रहता था। वह राज्यके दायित्वोंके दैनिक कार्य-क्रमके भारी बोझको अपने सिर उठाता और अपनी रक्षामें आये हुए लोगोंको दुःखोंसे त्राण देते समय अत्यधिक बोझके नीचे घुटने भी लगता।[2]

राजाका प्रधान धर्म प्रजा-रंजनके लिए अपने वेतन (वृत्तिः) के बदले में उनकी रक्षा करना था।[3] राजकीय रक्षणके अर्थमें 'गोप्ता'[4] शब्दका प्रयोग किया गया है। शुक्रनीतिके अनुसार "प्रजाका रक्षण और अपराधियोंको सदा दण्ड देना" राजाका मुख्य कार्य है। जब दिलीप वनमें प्रवेश करते हैं, अपराधी दावाग्नि (ज्वाला), जो जंगलको भस्म कर रहा था, सहसा अपने इस अपराधकी ओर चौकन्ना हो जाता है मानो वन-रक्षक उसके सामने आ खड़ा हुआ हो और वर्षाकी सहायताके बिना ही तुरंत दावा शान्त हो जाती है। अरण्य अचिन्तनीय फूल-फलोंकी समृद्धिसे सम्पन्न हो उठता है। रक्षकके आते ही व्याघ्र-से बलशाली अपने अपराध-आचरणसे सचेत हो हिरन-जैसे निर्बलोंको मारनेके अपने स्वभावको छोड़ देते हैं।[5] यहाँ यह स्मरण रखा जा सकता है कि स्कन्दगुप्तके जूनागढ़ वाले शिला-लेख तथा दूसरे शिला-लेखोंमें भी गोप्ता शब्द प्रान्तीय शासक के अर्थमें व्यवहृत हुआ है।[6] शक्तिशाली रक्षकके राज्यमें वनका शासक गोप्ता है, वनवासी सत्व शासित प्रजा-जन हैं और 'अधिक' अपराधियोंका वह वर्ग है जो सरल, शान्त और राजनियमके पालन करनेवाले राज्यके

---

१ शाकु० ५.६। २ वही ७। ३ षडंशभाक् रघु० १७.६५; षष्ठांशवृत्तेः शाकु० ५.४। ४ रघु० २, १४.२४, २५.४४; कुमार० २.५२; विक्र० ५.१। ५ रघु० २.१४। ६ सर्वेषु देशेषु विधाय गोप्तॄ, १.७, गोपायितस्यापि १, १०, वही, द्वितीय भाग—दीपस्य गोप्ता महतांश्च।

नागरिक 'ऊन' को लूटो-खसोट कर जीते हैं और दावाग्नि वह अराजकता की अवस्था है जो शक्तिशाली रक्षककी अनुपस्थितिमें राज्यमें कभी-कभी फैल जाती है। [1]'गुप्त-कालके उत्कीर्णित लेखोंमें साधुओंके उदय और दुष्टों (असाधुओं) के[2] नाशकी शक्ति रखने तथा दुराचारियोंपर शासन करनेके लिए राजाकी प्रशंसा[3] की गई है। दिलीपके गुणोंके वर्णन करते समय कालिदास जिस परम्पराका अनुसरण करते हैं, गुप्त-कालकी शैलीपर दृष्टि रखते हुए, वह अप्रासंगिक नहीं है। राज्यको समानता निरीह गौसे[4] दी गई है जो धरोहरकी तरह सब प्रकारकी हानियोंसे रक्षणीय है।[5] जिस प्रकार पिता अपने बच्चोंकी सावधानी से रक्षा करता है उसी प्रकार राजा अपनी प्रजाकी रक्षा करे।[6] यह कहते हुए राजा सगर्व सन्तोषका अनुभव करता था कि 'मेरे राज्यमें कोई अपराधी दुष्टाचरण करनेका साहस नहीं कर सका'।[7] ऐसे सर्वांग-पूर्ण बचावके नीचे प्रजा उन्नति करेगी ही। मालविकाग्निमित्रका एक उद्धरण इसका स्पष्टीकरण करता है—"जनतापर आ पड़नेवाली विपत्तियोंको दूर करन-जैसी प्रजावर्गकी इच्छाएँ ऐसी एक भी नहीं थी जो अग्निमित्रके रक्षक रहते पूरी न हुई हो।"[8] यह पद्य (यद्यपि एक नाटकीय परम्पराका उद्देश्य सिद्ध करता हुआ) जूनागढ़के शिला-लेखमें[9] एक विचित्र समानता पाता है जिसमें स्कन्दगुप्तके सम्बन्ध

---

१ नेता १.२; मंदासोर स्टोन इन्सक्रिप्सन आफ कुमारगुप्त १ एण्ड बन्धुवर्मन, पद्य २४।

२ साध्वसाधूदयप्रलयहेतु एला० पृ० शिला-लेख। ३ शशास दुष्टान् जूनागढ़ प्रस्तर-लेख—५.२१। ४जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् रघु०, २,३। ५ रक्ष्यं वही, २.५६। ६ प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि वही, ४८। ७ कः पौरवे वसुमतीं शासति शासतरि दुर्विनीतानाम् शा०, १.२१। ८ आशास्यमीतिविगमप्रभृति प्रजानां सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे॥ मा०, ५.२०।

९ तस्मिन्नृपे शासति नैव कश्चिद्, धर्मादपेतो मनुजः प्रजासु।
आर्त्तो दरिद्रो व्यसनी कदर्यो दण्डयो न वा यो भृशपीडितः स्यात्॥श्लो०६।

९

में कहा गया है कि "जबतक शासन-सूत्र उसके हाथमें रहता है उसकी प्रजा मेंसे एक भी धर्म-च्युत नहीं होता; कोई विपन्न नहीं है या कोई दरिद्रता, दुःख या लोभमें आक्रान्त नहीं है, कोई दण्डनीय नहीं है और न कोई उत्पीड़ित है।" वर्ण और आश्रमपर राजा निरन्तर ध्यान रखे और उनकी रक्षा करे।[1] स्वयं अबाधनशील (स्थितेरभेत्ता) वह कर्त्तव्य-पालनके लिए अपनी प्रजाका पथ-प्रदर्शक होता है। कौटिल्य[2] राजाके लिए व्यवस्था देता है कि वह प्रजाको कर्त्तव्य-पथसे विचलित न होने दे, और ऐसी ही व्यवस्था शुक्की[3] भी है। अपनी प्रजाको वर्ण-धर्मके सम्पर्कमें उसे रखना ही होगा। धर्म-नगरके सिंह-द्वारका उसे अर्गला होना था। समुद्रगुप्त के लिए भी ऐसे ही वाक्योंका प्रयोग किया गया मिलता है। शिला-लेख का वाक्यांश है, धर्मप्राचीरबन्धः[4]। इसी रक्षाके कार्यके लिए वह अपने वेतन-स्वरूप[5] राज्यका राजस्व स्वीकार करता था। शुक्रनीति यह कहकर कि "ब्रह्माने राजाको जनताका सेवक बनाया है, जो अपनी सेवाके पारिश्रमिकमें राज-कर लेता है उसका राज-पद केवल जन-रक्षणके[6] लिए है।"—उसकी स्थिति तथा प्रजाके साथ उसके सम्बन्धको स्पष्ट करती है। इस ढंगसे मालिक-नौकरकी धारणा पुष्ट होती है।

राजा अपनी प्रकृति (प्रजा) के हित-साधनमें सदा-सर्वदा सजग रहे।[7] कौटिल्यका वचन है, "प्रकृतिके सुखमें उसका सुख, उसके हितमें उसका हित; जो कुछ निजको सुखकर प्रतीत हो उसमें वह सुखका अनुभव न कर जो कुछ प्रजाको सुख-प्रदायक हो उसको करनेमें अपना सुख समझे।"[8]

---

१ शाकु० पृ० १६२, ५.१०; रघु०, ५.१६, १६.६७, ८५; १५.४८; १८.१२। २ भाग, १, अ० ३। ३ अं० १. ५०—५१। ४ अर्थशास्त्र, भाग १, अ० ३। ५ एला० पिलर-इन्सक्रिप्सन, श्लो० ८। ६ विवेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेव भूः ॥ रघु० १७.६६। ७ प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः शाकु० ७,३४; प्रजायै कल्पिष्यमाणेव रघु०, १८.२। ८ भाग १, अ० १९।

प्रजाके कल्याणार्थ आत्म-समर्पण वह अपना प्रधान धर्म (वृत्ति) मानता[1] था। प्रजाकी भलाईके कार्योंकी उसे शिक्षा दी जाती और वह उनका अभ्यासी हो जाता था।[2] यहाँतक उसको अपनेको अवश्य योग्य बना लेना था। दूसरोंकी रक्षाका प्रश्न रक्षकमें शारीरिक योग्यताका होना आवश्यक कर देता है, अतः राजाका शारीरिक दृष्टिसे पुष्ट होना अनिवार्य है जिसमें अपने अंग-रक्षकोंकी अनुपस्थितिमें वह अपनी रक्षा आप कर सके।[3] राजाकी व्यक्तिगत शूरताकी ओर संकेत करनेवाले कालिदासके 'स्व-वीर्यगुप्ता'–जैसे वाक्य-खण्डोंसे शिला-लेख भरे पड़े हैं। उनमेंसे कुछ हैं—बहुवीर्य,[4] स्वभुजजनितवीर्य,[5] वीर्यम्, सुभुज-द्वयस्य,[6] भुजबल,[7] स्वभुजबल,[8] बाहुभ्याम्,[9] इत्यादि। "क्षत (हानि) से रक्षा" करनेके अर्थमें ही क्षत्रिय शब्दकी व्युत्पत्ति हुई है, जो उस वर्णका बोधक है जिसका राजा एक प्रधान सदस्य है।[10] क्षत्रियका यह लक्षण शुक्रनीति-कथित है—"जो मनुष्य दूसरे मनुष्योंकी रक्षा कर सकता है, जो शूर-वीर है, संयमी और शक्तिशाली है और जो दुष्टोंको दण्ड देनेवाला है, क्षत्रिय है।"[11] इसलिए राजाको क्षत्रिय होनेको सार्थक करना है।

---

१ प्रजानां वृत्ते स्थितः रघु०, ५.३३। टीकाकारने यहां कामन्दकका प्रमाण दिया है:—

"न्यायेनार्जनमर्थस्य वर्धनं पालनं तथा।
सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च राजवृत्तं चतुर्विधम्॥"

२ प्रजाक्षेमविधानदक्षं रघु०, १८.६। ३ स्ववीर्यगुप्ता वही, २.४। ४ एला० ०० ले०, ५.७। ५ जूनागढ़ राक इंसक्रिप्सन आफ स्कन्दगुप्त ५.२। ६ वही, २१। ७ भीतरी स्टे० पि० इन्सक्रिप्सन, ५.६। ८ एला० पि० इन्सक्रिप्सन आफ स्कन्दगुप्त। ९ भीतरी स्टे० पि० इन्सक्रिप्सन्स, ५.७। १० रघु०, २.५३। ११ अध्याय १, ८१–८२।

उसके बलिष्ट अंग रक्षाके कार्यमें सचमुच उसके सहायक होंगे और उसका अमोघ धनुष दुष्टोंको दुराचरणसे दूर रखेगा।[१] वह अपनेको राज्यके साथ गठ-बन्धनमें[२] समझता था और जिस प्रकार शेष पृथ्वीके भारको अपने फणपर[३] वहन करता है, वह अपने राज्यका बोझ अपने कन्धों पर उठाता था। रजोगुणके[४] दोषोंसे मुक्त रहकर वह इस प्रकार अपने उन्नतिशील राज्यका शासन संचालित करता था। कविने सात्त्विक शासनके विचारको बल दिया है। शुक्रनीतिने इस प्रकारके शासकका लक्षण लिखा है—"जो राजा कर्त्तव्य-पालनमें निरत और अपनी प्रजाका रक्षक है, जो सब यज्ञोंका कर्त्ता और शत्रु-विजेता है, और जो दानपरायण, सहनशील और वीर है, जो सुखके साधनोंके प्रति विरक्त और विषय-वासनासे रहित है, सात्त्विक कहलाता है और मरणोपरि वह मुक्ति प्राप्त करता है।"[५] इसके विरुद्ध कालिदासमें अस्वीकृत राजस नृपका लक्षण भी उसी नीतिकारने इस प्रकार दिया है—"वह दयनीय राजा जिसमें दया नहीं है और विषयी है, ईर्षालु और असत्यवादी है, आडम्बर-प्रिय है, जिसमें भोगके लिए काम और आसक्ति है, जो छल-छद्म और दुष्टताका आचरण करता है, जिसके मन-वचन-कर्म एकसे नहीं हैं, जो झगड़ालू, कलह-प्रिय और नीच वर्गके लोगोंका सहवास करता है, जो स्वेच्छाचारी और नीतिके नियमोंका पालन करनेवाला नहीं है और जो षड्यंत्रकारी स्वभाव का है, राजस कहलाता है और मृत्यूपरान्त स्थावर और छोटे जीवोंकी गति पाता है।"[६] कर्त्तव्य-पालनमें अपनी अनवधानताके कारण अनेक बार उसको अपनी रानीकी व्यङ्गोक्तियोंका शिकार होना पड़ता।[७]

रक्षाके कर्त्तव्य सम्पादन करनेके अतिरिक्त उसे न्यायासनपर बैठकर अपने पास विचारार्थ भेजे गये और कार्यों (मामलों) पर निर्णय भी देना

---

१ रघु०, २.८; शाकु०, १.१२। २ रघु०, ८.८३। ३ वही, २.७४। ४ ऋद्धं राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास वही, १५.८५। ५ अध्याय १, ५९—६२। ६ वही, ६४—६८। ७ यदि राजकार्यव्यी-गरुप्रपायनिपुणतार्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेत्। माल० पृ० २२।

होता था ।[1] यह वह अपने निश्चित कार्य-क्रमके अनुसार नियत समयपर करता था ।[2] न्याय-विभागके कार्योंपर विचार करते समय हम इसकी चर्चा करेंगे ।

कालिदासने राजामें जिन गुणोंके होनेका उल्लेख किया है उनका निकट सादृश्य सौराष्ट्रके उत्तराधिकार-क्रमसे शासक पर्णदत्त और उसके पुत्र चक्रपलितके प्रति कहे गये शासक (गोप्ता, प्रान्तीय शासक) के गुण और कर्त्तव्योंके परिगणनमें पाया जाता है ।[3] यह स्मरण रखा जा सकता है कि अपने एक व्यक्तिका चुनाव करनेके लिए स्कन्दगुप्तको कई दिन सिर खपाना पड़ा था । यह लेख शासकके उन गुणों और कार्योंको सूची-बद्ध करता है जो कालिदासके विचारोंके समकक्ष है और जिनसे एक आदर्श राजाके सम्बन्धकी उनकी धारणाएँ प्रतिध्वनित होती हैं ।

अपने महान् कार्यके लिए राजाको अपनेको योग्य बनाना है । उसे अपने कर्त्तव्यके बहुतसे विषयोंको सोच निकालना और उनका पूर्णतः ज्ञान प्राप्त करना है । यह तभी सम्भव था जब उसमें अन्तःप्रवेशिनी बुद्धि[4] (अकुण्ठिता बुद्धिः) हो, सहज या खप्ती नहीं किन्तु दैनिक कार्य-विधानके अनुसार धर्मशास्त्रोंके तत्त्वोंमें प्रवेश करनेवाली, क्योंकि उसे उनके वचनोंका सदा हवाला लेना पड़ता था । कहा जाता है कि समुद्रगुप्त शास्त्रोंके तत्त्वोंमें[5] पारंगत था । यही कारण है कि कालिदास की रचनाओंमें राजाके लालन-पालनका विधिवत् वर्णन हमें पढ़नेको मिलता है और उसको अपने प्रारम्भिक जीवनको उसी प्रकार नियमपूर्वक बिताना था जिस प्रकार दूसरे द्विजातियोंको । अगले श्लोकमें[6] राजाके

राजाकी शिक्षा

---

१ प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे रघु०, ८.१८ । २ स पौर-कार्याणि समीक्ष्य काले वही, १६.२४ । ३ जूनागढ़ रौक इन्सक्रिप्सन, श्लोक ७–२५, सी० आई० आई० पृ० ६२–६३ । ४ रघु०, १.१९ । ५ शास्त्रतत्त्वार्थभर्तुः एला० पि० इन्स० आफ समुद्रगुप्त, ५.३ । ६ रघु०, १.८ ।

जीवनका कार्यक्रम एक सामान्य नागरिकके जीवन-क्रमके समान ही संक्षेप में कहा गया है :

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"

अतः राजाका आरम्भिक कर्तव्य था, अपनी जिम्मेदारी और दायित्व के स्वरूपको समझना, जो केवल धर्म-शास्त्रोंके सांगोपांग अध्ययनसे ही हो सकता था। शास्त्रोंकी आँखोंसे ही वह अपने प्रयत्नोंके[१] अप्राप्त तथा सूक्ष्म परिपाकका पूर्वाभास प्राप्त करने और उनको सम्पादित करानेकी आशा कर सकता था। यहाँ यह कहा जा सकता है कि जैसा हम ऊपर देखते हैं और आगे भी देखेंगे, यद्यपि कालिदासका वर्णन पारम्परिक कालके प्रति संकेत करता है तथापि वह परम्परा गुप्तोंके राजकीय लेखों-द्वारा सिद्ध आदर्शके रूपमें वर्णित है।

अध्ययनके पाठ-क्रमपर प्रसंगानुसार शिक्षाके अध्यायमें हम विचार करेंगे। यहाँ केवल संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि धार्मिक शिक्षाके सिवा राजा (१) शास्त्र,[२] यथा, मानव धर्मशास्त्र,[३] (२) परातिसन्धान-विद्या,[४] और (३) दूसरी विद्याएँ[५] भी अध्ययन करता था। कालिदास ने चार प्रकारकी विद्याओंका[६] उल्लेख किया है, टीकाकार उनको आन्वीक्षिकी त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीतिके[७] नामसे अंकित करता है।

---

१ चक्षुष्मत्ता तु शास्त्रेण सूक्ष्मकार्यार्थदर्शिना वही, ४.१३। २ वही, १.६, ४.१३। ३ नृपस्य धर्मो मनुना प्रणीतः वही, १४.६७। मनुप्रभृतिभिः १, १७, ४.७। ४ शाकु०, ५.२५; पराभिसन्धान रघु०, १७.७६। ५ रघु०, १.८, २३, ८८, ३.३०, ५.२०, २१, १०.७१, १७.३, १८.५०, शाकु०, पृ० १२५; माल०, ७। ६ चतस्रः विद्याः ततार रघु०, ३.३०; चतस्रः विद्या परिसंख्यया ५.२१; और भी

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती।
एता विद्याश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः॥ नीतिशास्त्र, २.२

७ रघु०, १८.४६।

अर्थशास्त्र[1] तथा शुक्रनीति[2] दोनोंने इन चारोंका उल्लेख किया है और वे पहलीको दर्शन और तर्क-शास्त्र, दूसरीको त्रिवेद, तीसरीको कृषि और वाणिज्य और चौथीको राजनीति-शास्त्र कहते हैं। अन्तिमपर शुक्रनीति[3] विशेष बल देती है। शास्त्रोंमें मानव धर्मशास्त्रका प्रमुख होना स्वाभाविक ही है। कवि पुनः-पुनः इसका उल्लेख[4] विशेषकर राजाके शासन-कार्य में करता है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें दुष्यन्तको लक्ष्य करके सारंगरवने व्यङ्ग्य किया है[5]— (यह विचित्र है कि) "एक ऐसे व्यक्तिके शब्द जो अपने जन्म-कालसे ही कभी दुष्ट कूटनीतिसे परिचित नहीं हुआ साक्षीमें नहीं लिये जाते जब कि दूसरोंको वंचित करनेकी कला विद्याके रूपमें सीखनेवालोंके कथन सत्य मान लिये जाते हैं।" उससे प्रकट होता है कि राजनीति-शास्त्र (जिसमें परातिसन्धान, कूटनय शामिल था) राजाके अध्ययनका विषय था।

राजाके अध्ययनके पाठ-क्रममें कूटनीति-शास्त्रके विषयका समावेश स्वाभाविक-सा ही है। जिस राजाका जनपद चारों ओरसे स्वाभाविक शत्रुओं[6] (प्रकृत्यमित्र) से घिरा हो उसके लिए राजनीतिके सभी प्रयोग, जिनमें कूटनीति (परातिसंधान) भी शामिल है, सीखना आवश्यक है। इनके अतिरिक्त उसे उन परिस्थितियोंका भी अध्ययन करना था जिनमें शम, दम, दण्ड और विभेद नामक राजनीतिके चार पारस्परिक वाहनोंका[7] प्रयोग किया जाता है। जो विद्याएँ या शास्त्र राजाके अध्ययन के लिए अनिवार्य थीं वे चार थीं—आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्कशास्त्र तथा मानस-शास्त्र; त्रयी अर्थात् तीन वेद,—ऋक्, यजु और साम; वार्ता अर्थात् कृषि-वाणिज्य आदि व्यावहारिक कलाएँ और शासन या राजनीति का शास्त्र दण्डनीति। कामन्दक[8] अर्थ-शास्त्रका पूरे विश्वासके साथ

---

१ भाग १, अध्या० २। २ अध्या० १, २०३–४। ३ वही, ३१४। ४ रघु०, १.१७, ४.७, १४.६७। ५ शाकु०, ५.२५। ६ माल०, पृ० ११। ७ राजनीतिं चतुर्विधाम् रघु०, १७.६८। ८ पूर्व उदाहृत।

अनुसरण करता है। मनुके विचारोंवाले कहते हैं, तीन ही शास्त्र हैं— वेदत्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति। ये आन्वीक्षिकीको वेदका अंग मानते हैं।[१] बृहस्पति केवल वार्त्ता और दण्डनीतिको विद्या स्वीकार करता है और वेद-त्रयको लौकिक कार्यो (लोकयात्राविदः)[२] में अनुभवी मनुष्य के लिए संवरण-मात्र मानता है। उशनके लिए केवल एक ही शास्त्र है, शासनका, क्योंकि उसका विचार है कि सभी दूसरे शास्त्रोंका अथ तथा इति दण्डनीति[३] में ही है। किन्तु कौटिल्य, जिसके पीछे-पीछे कालिदास[४] चल रहे हैं, मनु, बृहस्पति तथा उशनके विचारोंका विरोध करते हुए चार विद्याओंके होनेके पक्षका समर्थन करता है। उसके मतमें "चार, और चार ही शास्त्र हैं; क्योंकि इन्हीं शास्त्रोंसे सभी बातें जिनका संबंध धर्म और अर्थसे है जानी जाती हैं, इसीलिए वे ऐसा कहलाते हैं।"[५]

आगे चलकर कौटिल्य व्याख्या करते हुए कहता है कि आन्वीक्षिकीमें सांख्य, योग और लोकायतके दर्शन समाविष्ट हैं। वेद-त्रयसे धर्म और अधर्म (धर्माधर्मौ) का परिज्ञान होता है, वार्ता से अर्थ और अनर्थ, उचित और अनुचित (नयानयौ), और बल तथा अबल (बलाबले) का परिचायक राजनीति-शास्त्र ही है।[६] यहाँ कालिदासने कौटिल्यको प्रमाण माना है जिसका उल्लेख रघुवंशके सर्ग १८, श्लोक ५० की व्याख्या करते समय टीकाकार मल्लिनाथने किया है। गुप्त-काल के शिला-लेखोंसे विदित होगा कि काव्य और संगीत राजाके अध्ययनके पाठ-क्रममें वैकल्पिक विषय थे। समुद्रगुप्तको उसके बहुतसे विशिष्ट पद्योंके[७] कारण काव्य-लोकका शासक (कविराज) कहा जाता है[८] और

---

१ अर्थशास्त्र, भाग १ अध्या० २। २ वही। ३ वही। ४ रघु०, ३.३०। ५ अर्थशास्त्र, आर० शाम शास्त्री का अनुवाद, भाग १, अध्या० २। ६ वही। ७ वही। ८ अनेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य एना० पि० इ० स्फुटबहुकविताकीर्तिराज्यं भुनक्ति, वही, ५.३।

संगीतपर अपने अधिकार होनेसे उसने तुम्बरु और नारदको लज्जित[1] किया था। सभी राजा समुद्रगुप्तके सदृश संगीत अथवा काव्यमें प्रवीण नहीं हो सकते परन्तु सभी इन विषयोंके अध्ययन करनेवाले प्रतीत होते हैं। पश्चात्के एक राजा हर्षके कुछ काव्य प्रचलित हैं। स्वयं स्कन्दगुप्त भी नाद-विद्याके भेदोंका[2] ज्ञाता कहा गया है। उसने सदाचार, शक्ति और नम्र व्यवहारके[3] द्वारा अपने उद्देशकी सिद्धि की थी।

ब्रह्मचर्य और विद्याभ्यासके कालकी समाप्तिपर, और पूर्वमें ही चर्म[4] धारण कर अस्त्र-शस्त्र[5] संचालनकी क्रियामें शिक्षित राजकुमारका गोदान-संस्कार[6] होता और वह वैवाहित होता था। ऐसा तब होता था जब पूर्ण यौवन[7] प्राप्तकर राजकुमार वयस्क हो जाता। क्षत्रियके लिए गोदानका समय मनु बाईस वर्षकी[8] आयु निश्चित करता है जबकि कौटिल्य के अनुसार वह सोलहवाँ साल ही है। वह कहता है : "सोलहवाँ वर्ष समाप्त करने तक वह ब्रह्मचर्यका पालन करेगा। उसके बाद वह गोदान कर विवाह करेगा।"[9] यह एक अनोखी बात है कि कौटिल्य चाहता है कि गोदान-संस्कारके[10] उपरान्त राजकुमार लिपि और अंकगणितकी शिक्षा ले, जो उसके विवाहके बाद अर्थात् सोलहवें वर्षके अन्तमें पड़ता है। यह स्पष्ट है कि गोदानके[11] उपरान्त विवाहके संबंधमें कालिदास कौटिल्यके साथ सहमत हैं और वे गोदान और विवाहका प्रचलन विद्याभ्यासके[12] बाद रखते हैं। कालिदास जिस प्रचलनका उल्लेख करते हैं उसके साथ कौटिल्यकी आज्ञाका मेल निभ सकता है, यह समझकर कि

---

१ निशित-विदग्धमतिगन्धर्वलालितैर्व्रीड़ितत्रिदशपतिगुरुतुम्बरु-नारदादेः वही। २ भीतरी स्टे० पि० इ०, ५.२। ३ वही, ५.३। ४ रघु०, ३.३१। त्वचं स मेध्यां परिधाय रौरवीम्। ५ वही। ६ वही, ३३। ७ वही, ३२। ८ बाईसवें वर्षमें क्षत्रियका गोदान-संस्कार होनेके प्रमाणमें टीकाकार मनुका प्रमाण (रघु०, ३.३३) देता है। ९ अर्थशास्त्र, भाग १, अ० ५। १० वही। ११ रघु०, ३.३३। १२ वही, ३०—३३।

कौटिल्यने जो मुण्डनको दो बार[1] रखा है, एक विद्यारम्भके पूर्व और दूसरा विद्याध्ययनके अन्तमें उनमें पहलेको यदि चूड़ाकरण और दूसरेको गोदान (प्रथम क्षौर) मान लिया जाय। कालिदास ऐसा ही करते[2] हैं।

राजाका ज्येष्ठ पुत्र युवराज[3] होता था जो उसके राजपदपर आरूढ़[4] किया जाता और राज्य-संचालनके कार्यमें भाग लेता था। यौवराज-पदपर उसको बिठानेका अभिप्राय यह था कि राजाके वृद्ध होनेपर वह उसके राज्यके[5] दायित्वोंके गुरुतर बोझको हल्का कर सके।

युवराज

इस प्रकार युवराज-पद राजाको एक सहायक देकर जो देशमें उसके प्रजा-पालनमें उसकी सहायता करता और विदेशमें[6] सामरिक आयोजनोंका सारा भार अपने ऊपर ले लेता राजाके वार्द्धक्यकी निर्बल अवस्थामें राज्यको निर्बल होनेसे बचाता था। युवराजकी नियुक्तिके कारण ही उत्तराधिकारके लिए लड़े जानेवाला युद्ध रुक जाता था।

राजाके राज्याभिषेकके समान ही युवराजका अभिषेक होता था। राजाके राज्यारोहणके समयके संस्कारके लिए जिस प्रकार राज्याभिषेक हमें मिलता है उसी प्रकार युवराजके यौवराज्य-पदपर प्रतिष्ठित होनेको यौवराज्याभिषेक[7] कहा गया है। तत्सम्बन्धी उचित धार्मिक कृत्यों तथा संस्कारोंके[8] बाद यौवराज्य-पद नियमपूर्वक राजकुमारको

यौवराज्याभिषेक

---

१ अर्थशास्त्र, भाग १, अ० ५। २ रघु०, ३.२८, ३३। ३ वही, ३.३५, ३६, १८, १८; शाकु०, पृ० ८२। ४ रघु०, ३.३५; विक्र० पृ० १३६, १३८। ५ ततः प्रजानां चिरमात्मना धृतां नितान्तगुर्वीं लघयिष्यता धुरम्। रघु०, ३.३५; कामन्दक लिखता है :

"विनयोपग्रहान्भूत्यै कुर्वीत नृपतिः सुतान्।
अविनीतकुमारं हि कुलमाशु विशीर्यते॥
विनीतमौरसं पुत्रं यौवराज्येऽभिषेचयेत्॥"

६ रघु०, ३.३८; माल०, पृ० १०२। ७ विक्र०, पृ० १३६, १३८; रघु०, ३.३५। ८ विक्र०, पृ० १३६, १३८, नीतिशास्त्र (मल्लिनाथ-द्वारा उद्धरित)

दिया जाता था जिसके अनुसार राज्य-संचालककी क़ानूनी स्थिति उसको प्राप्त होती थी। यौवराज्य-पद और राज-पदके मध्य अब केवल एक डगका अन्तर रह जाता, जो राजाके बाद योग्य संस्कारोंके साथ उसको अर्पित किया जाता था। जब तक राजकुमारको युवराज नहीं बनाया जाता वह केवल कुमार[1] कहलाता था, किन्तु ज्योंही वह यौवराज्यके अभिषेकसे अलंकृत होता वह युवराजकी[2] अभिधासे सम्बोधित होने लगता था। युवराजके अभिषेक-संस्कार का उदाहरण विक्रमोर्वशीयके पाँचवें अङ्कमें वर्णित पुरूरवाके पुत्र आयुसके युवराज बनाये जानेके समय मिलता है। वहाँ नारद प्रधान पुरोहितका काम करते हैं। अभिषेककी सामग्रियाँ[3] लाई जाती हैं और राजकुमार एक मंगलासनपर[4] बैठाया जाता है। तब नारद पवित्र अभिमंत्रित जलसे सिंचन कर संस्कारका मुख्य कार्य समाप्त करते हैं जो केवल उत्तम ब्राह्मणके हाथ ही सम्पन्न किया जा सकता था। संस्कारके[5] दूसरे कृत्य न्यून स्थितिके लोगोंने ही सम्पादित किया। इसके बाद युवराजने अपने माता-पिताका अभिवादन[6] किया। फिर भाट और चारण उसके पूर्वजोंका काव्यमय गुणानुवाद करने लगे और 'विजयतां युवराजः' कहकर उन्होंने अपने आशीर्वचनका[7] निम्न प्रकार पाठ आरम्भ किया—

"जिस प्रकार अत्रिऋषि ब्रह्माके समान थे, चन्द्रमा अत्रिके समान, बुध शीत-रश्मि चन्द्रमाके समान और महाराज बुधके समान, उसी प्रकार आप अपने प्रजा-प्रियताके गुणोंके साथ अपने पिताके सदृश होवें। आपके प्रतापी वंशमें सभी आशीर्वाद यथार्थमें पूर्ण हुए हैं।"[8]

"जिस प्रकार गंगा हिमाद्रि और महासागरके बीच अपनी धाराओंके विभक्त होनेसे अधिक सौंदर्यवती होती है उसी प्रकार अब राज्य-श्री

---

१ विक्र०, पृ० १३८-१३९। २ वही, पृ० १३९। ३ अभिषेकसंभार विक्र०, पृ० १३९; रघु०, १२.४। ४ विक्र०, पृ० १३९। ५ वही। ६ वही। ७ वही। ८ वही, ५.२१।

महाराजाधिराज आपके पिता और कर्त्तव्यपरायण तथा साहसी आपके मध्य विभक्त हो अधिक शोभा-सम्पन्न हो रही है।"[१]

यौवराज्याभिषेक-संस्कारके समाप्त होनेपर युवराज अपने पिताके राज्य-शासनके कार्यमें हाथ बँटानेके योग्य पदपर पहुँच गया। राज्य-पद मानो उसके पिता और उसके बीच बँट गया और अब कहा जाने लगा कि उसने यौवराज्यश्री[२] प्राप्त की है, यानी राजाकी राज्यश्रीके समान ही उसे युवराजका शासनाधिकार मिला। राज्याधिकार[३] अंशतः युवराज को[४] हस्तान्तरित हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रकला पूर्ण चन्द्रकी ओर अग्रसर होती है उसी प्रकार वह इसके बाद पूर्ण राजत्व-प्राप्तिकी ओर बढ़ता है। इसमें अवश्य ही कविका समसामयिक और उसके पूर्वका भी प्रचलन प्रकट होता है।

समसामयिक ऐतिहासिक इतिवृत्तमें भी युवराजके चुनावकी एक सामान्य प्रथा प्रतीत होती है। जैसा एलाहाबाद स्तम्भ-लेखसे विदित होता है—चन्द्रगुप्त प्रथमने समुद्रगुप्तको अपना युवराज चुना था।[५] अर्थ-शास्त्र[६] एवं शुक्रनीति[७] दोनों ही युवराजको राज्य-संचालनका अंग मानते हैं। कौटिल्य उसको तीर्थों[८]में स्थान देता है। जायसवालके[९] विचारसे युवराज यद्यपि मंत्रिमंडलमें नहीं था फिर भी उसका 'मंत्री होना निश्चित है।' रामायण[१०] और शुक्रनीतिमें[११] कालिदासके वर्णनके सदृश ही युवराज के यौवराज्याभिषेकका विस्तृत व्योरा मिलता है। "युवराजकी अपनी मुद्रा (मुहर) थी और वह एक निश्चित विधिसे अपना हस्ताक्षर करता

---

१ वही, २२। २ वही, ५.२३, पृ० १४०। ३ अंशेन रघु०, ३.३६। ४ रेखाभावादुपारूढ़ः सामग्र्यमिव चन्द्रमा वही, १७.३०। ५ पद्य ४, उद्धृत पूर्व। ६ भाग ५, अ० ६। ७ अ०, २। ८ हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० १३३, अर्थशास्त्र भाग १, अ० १२। ८ (पृ० २०–२१); भाग, ५, अ० २, ९१ (पृ० २४५)। ९ हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० १२४। १० भाग, २, अ० १४, वही, ३। ११ अ० २. १५।

था।"[1] दिव्यावदान[2] हमें सूचित करता है कि अशोक अपने पौत्र सम्प्रतिको युवराज बनाना चाहता था। राजकुमार भी राजाके राज्य-कार्यमें उसके प्रान्तीय शासकके रूपमें हाथ बँटाते थे। दिव्यावदानके[3] अनुसार कुणाल अशोकका ऐसा ही एक प्रान्तीय शासक था जो तक्षशिलामें रखा गया था। अशोकके[4] शिला-लेखोंसे स्पष्ट है कि अक्सर राजकुमारों को अपने प्रान्तोंके शासनमें सहायताके लिए अमात्य-सभा रखनी होती थी। समसामयिक गुप्त-कालमें कुमारामात्य कोई अपरिचित शब्द नहीं था।

कालिदासके अनुसार यौवराज्याभिषेकके समय युवराजकी अवस्था ऐसी होनी चाहिए कि वह वर्म-कवच धारण कर सके (वर्महरः, कवचार्हः)।[5] राजाके परिच्छदके सदृश उसके भी स्तुति-पाठके लिए चारण-कुमार[6] और उसको परामर्श देने एवं उसकी अंग-रक्षाके लिए मंत्री-पुत्र[7] और अधीनस्थ राजाओंके[8] राजकुमार होते थे।

समय पाकर पिताकी मृत्युके बाद, या उसके जीवन-कालमें ही जब राज्यसिंहासन उसके लिए रिक्त होता था, युवराज राजा बनाया जाता था, किन्तु इसके लिए उसका विधि-पूर्वक अभिषिंचन आवश्यक था जिसको राज्याभिषेक[9] कहते थे। यदि राजाके जीवन-कालमें[10] युवराज का राज-तिलक होता तो राजाके आदेशके अनुसार अमात्य-मण्डल राज्याभिषेक-संस्कारके संभरणको आयोजित करता। तब सुवर्णमय घटोंमें

राज्याभिषेक

---

१ हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० १२५। २ कोवेल और नेल द्वारा सम्पादित, पृ० ४३०। ३ वही। ४ जागध और धौली सेपरेट राक एडिक्ट, और सिद्धपुर इन्सक्रिप्सन। ५ रघु०, ८.९४; विक्र० पृ० १३१। ६ रघु०, ५.६५, ७५। ७ वही, ३.२८। ८ वही, ३८; माल०, पृ० १०२। ९ विक्र०, पृ० १३६; रघु०, ८.३.१४.७। १० विक्र०, पृ० १३६ शाकु०, ४.१९; रघु०, ३.७०, ८.१०, १७.८।

तीर्थों, सरिताओं, समुद्रों और सरसियोंसे[1] लाये गये जलसे वयोवृद्ध अमात्यों[2]-द्वारा राज्याभिषेकका कार्य पूरा होता था। यह बहुत प्राचीन प्रथा थी और वैदिक तथा वेदोत्तर[3] कालमें भी राज्याभिषेकके समय व्यवहारमें आती थी। जल लाते समय तैत्तिरीय संहिता और शतपथ ब्राह्मणसे मंत्रोंका पाठ किया जाता था।[4] कालिदासके समयमें इस प्रथा का प्रचलन प्रतीत होता है।

युवराज-पदके अधिकारी ज्येष्ठ पुत्रको अन्य पुत्रोंसे विशेषता दी जाती, किन्तु राज्याधिकारके निर्णयके लिए केवल जन्म ही पर्याप्त नहीं था। जन्म और गुण मिलकर किसीको राज्य-जैसे रत्नविशेषके भोगकी योग्यता प्रदान करते थे।

राज्याभिषेक तथा राज-लिंग-धारण निम्न विधिसे किये जाते थे:—

मंत्रियोंकी आज्ञासे चार स्तम्भोंवाला एक विशिष्ट छत्र (चन्दोवा) निपुण शिल्पियों[5]-द्वारा बनाया जाता था। उस छत्रके नीचे एक शुचिता-सम्पन्न वेदी बनाई जाती। इसके बाद एक मंगलासनपर राजा होनेवाले को आसीन कराकर पुण्य तीर्थोंसे लाये गये पानीके घड़ोंको[6] उसपर उँडेल स्नान कराते थे और बाहर[7] मधुर वाद्य बजते होते। फिर वह मंत्रियोंसे दूर्वा, यवांकुर, प्लक्षकी छाल और मधूक-पुष्प[8]-जैसे मांगलिक द्रव्य ग्रहण करता। इसी प्रकार सभी अन्न, सभी रस, सभी बीज, सभी पुष्प और सभी पवित्र तृणोंका उपहार उसे दिया जाता।

इस विधिके समाप्त होनेपर विप्रवर[9] अथर्व वेदके उन मंत्रोंका पाठ करने जो उसको अपने शत्रुओंपर विजयी होनेकी शक्ति रखनेवाले समझे जाते थे। स्तोत्र-पाठके समय पानी गिराया जाता। ठीक उसी समय चारण-गण उपस्थित होते और उसकी वंश[10]-महिमाके प्रशंसक गीत गाये

---

१ रघु०, १४.७। २ वही, ८। ३ हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० २३—२४। ४ वही। ५ रघु०, १७.९। ६ वही, १४.७, १६.५६। ७ वही, १७.११। ८ वही, १२। ९ वही, १३। १० वही, १५।

जाते। अभिषेकोपरान्त[1] अपनी पवित्रतासे देदीप्यमान वह स्नातकोंको[2] दक्षिणाओंसे प्रसन्न करता था। यह स्पष्ट है कि ये दक्षिणाएँ पहले विवाहित ब्राह्मणों (स्नातकों) को दी जाती थीं जिसमें वे उनको यज्ञ-याग करनेमें लगा सकें जिसको विद्यार्थी अवस्थामें कोई ब्राह्मण नहीं कर सकता था।

इसके बाद सभी बन्दियों, और प्राणदण्ड पानेवाले अपराधियोंको भी मुक्त करनेकी घोषणा राजा करता था। कुछ दिनोंके लिए जोते जाने वाले बलिवर्द और अश्वों जैसे पशुओंको विश्राम देनेके लिए उन्हें शकट और रथोंसे मुक्ति दे दी जाती थी और बछड़ोंके[3] लिए गौ-दोहन बन्द कर दिया जाता। पिंजड़ोंसे[4] पक्षियोंको बाहर निकालकर इस घोषणाको आदर्श रूपसे पूर्णता दी जाती और इस ढंगसे हर जगह स्वतंत्रता घोषित होती। कौटिल्यने[5] भी अपने राजाको राज्य-तिलकके अवसरपर लोगोंको बन्धन मुक्त करनेका आदेश दिया है।

तदुपरि राजाका प्रवेश अन्य आगारमें कराया जाता। वहाँ वह हस्तिदन्त निर्मित शुभासनपर आसीन होता और परिधान एवं अलकार[6] उसे दिये जाते। चन्दन, अंगराग, कस्तूरी और गोरोचनसे सुगंधित होने पर उसके ललाटपर[7] राज-तिलक अंकित किया जाता। वह रेशमी राजकीय परिधान धारण करता जिसमें हंसोंके[8] चित्र कढ़े होते। पश्चात् दर्पणके सामने खड़ा हो अपना प्रतिबिम्ब[9] देखता था। उसके राज्याभरण रत्न-जटित होते। उसके आस पास खड़े लोग तब उसके हाथोंमें राज-परिच्छद देते जिसको वह अपने शरीरपर धारण करता। अब वह सभाभवनमें[10] आता और राजछत्रके[11] नीचे अपने पूर्वजोंके रत्न-खचित सिंहासनपर विराजमान होता। इस समारोहके अवसरके[12] उपयुक्त मांगलिक द्रव्योंसे अलंकृत सभा-भवनमें सिंहासन प्रतिष्ठित होता था

---

१ वही, १७। २ वही, १६। ३ वही, १९। ४ वही, २०। ५ अर्थशास्त्र, भाग २, अ० ३६। ६ रघु०, १७.२१। ७ वही, २४। ८ वही, २५। ९ वही, २६। १० वही, २७। ११ वही, २८। १२ वही, २९।

विधिपूर्वक राज्याभिषेककी सम्पन्नताके बाद राज-पदपर आसीन होने और राज-दंडके साथ शासनकी बागडोर अपने हाथोंमें लेनेपर वह गजारूढ़[1] हो राजनगरकी सड़कोंपर निकलता। शुक्रनीति भी राजाको आदेश करती है कि 'उसे प्रजाको[2] प्रसन्न करनेके लिए हाथीपर सवार हो नगरमें घूमना चाहिए।' इस क्रमसे युवराज यौवराज्य-पदसे पूर्णाधिकार-प्राप्त राज्यासनपर[3] पहुँचता था।

यह स्मरण रखा जा सकता है कि गर्भ-धारण करनेकी अवस्थामें साम्राज्ञीका भी राज-तिलक होता था। राजाको यदि जन्म-क्रमसे साम्राज्याधिकार प्राप्त होता तो वह सम्राट्के पदपर अभिषिक्त होता था।

कालिदासने राजतिलकके लिए किसी वयसका उल्लेख नहीं किया है। पूर्वकालमें सम्राट् खारवेलका[4] राजतिलक उसके चौबीसवें वर्षके अन्तमें हुआ था। स्वयं अशोकको भी अपने राज्याभिषेकके लिए उसी उम्र तक प्रतीक्षा करनी पड़ी थी। विक्रम[5]ने पच्चीसवें सालमें राज्यारोहण किया था। बृहस्पति-सूत्र इसको पच्चीस[6] वर्षकी अवस्था मानता है।

राज्याभिषेक स्वभावतः राज्यभरमें एक बड़े महत्त्वकी राजनीतिक घटना समझा जाता था और इस अवसरपर लोगोंमें अपूर्व उत्साह एवं उल्लास दृष्टिगोचर होता था। राजनगरके राज-पथ बड़ी उमंगसे सजाये[7] जाते।

राजाके मनोरंजनमें थे—मृगया,[8] जलक्रीड़ा,[9] दोला,[10] संगीत,[11]

---

१ वही, ३२। २ अ० १, ७४४। ३ रघु०, १७.३०। ४ हथीगुम्फ लेख। ५ हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० ५२। ६ वही, १.८९। ७ रघु०, १४.१०। ८ मृगया शा० पृ० ५४, ५५, ५६, ५७, ६१, ६३, ६४; रघु०, ९.७; ४९—७४; १८.३५। ९ रघु०, १६.६४; मे० पू०, ३३। १० रघु०, ११.४६, १९.४४; मा० पृ० ३९, ४१, ४७, ४८, ४९। ११ माल०, अंक १ और २; रघु०, १९।

और नाट्याभिनय[1]। कालिदास राजाओंके पारम्परिक और साधारण चार आचार-दोषोंमें आखेट, द्यूत, मद्यपान और स्त्री-संसर्गको[2] स्थान देते हैं। कौटिल्य ने[3] भी इन चारोंका उल्लेख किया है। कवि

राजाका मनोरंजन

रघुवंशके उन्नीसवें सर्गमें अग्निवर्णके कार्योंका अतिरंजित चित्रण करता हुआ इन दोषोंके परिणामोंकी ओर संकेत करता है और एक दूसरे स्थलपर उसने उस राजाकी प्रशंसा की है जिसने अपनेको इन दोषोंसे अछूता रखा[4] है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि कालिदास और कौटिल्य दोनों ने ही मृगयाकी स्वीकृति दी है और वे उसके लाभका भी वर्णन करते हैं।[5] इसको कालिदास व्यायाम कहते हैं जिसकी विशेषता है कफ, पित्त, मेद और स्वेदका निराकरण, स्थिर एवं गतिमान् लक्ष्योंके वेधनमें निपुणता प्राप्त करना, उत्तेजित हो अपने छिपनेका स्थान छोड़ निकलनेवाले पशुओंके प्रकट होनेकी जगह और उनके भय, क्रोध और कभी-कभी भ्रमण-प्रदेशको लक्षित करना।"[6] एक स्थानमें[7] शुक्रनीति मृगया, द्यूत-क्रीड़ा और मद्यपानकी निन्दा करती है और आखेटको व्यायामके रूपमें स्वीकार करनेका आदेश करती हुई उसके गुणोंको गिनाती भी है। वह कहती है—"लक्ष्य-वेधकी योग्यताका विकास, निर्भयता और अस्त्र-शस्त्र संचालनकी निपुणता आखेटके लाभ हैं, किन्तु क्रूरता इसका महान् दोष है।"[8] अतः कालिदास, कौटिल्य और शुक्र इस विषयपर एक-मत हैं।

राजाओंके व्यायाममें मृगयाको रखनेकी पुष्टिमें कालिदास 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'में ठीक उन्हीं शब्दोंका प्रयोग करते हैं जिनका तदुद्देश्यसे कौटिल्य जैसा कि आर. शाम शास्त्रीने अर्थशास्त्र के अपने अनुवादकी भूमिकामें

---

१ माल० पृ० २। २ रघु०, ९.७। ३ अर्थशास्त्र भाग ८, अ० ३। ४ रघु०, ९.७। ५ शाकु०, २.४.५; अर्थ०, ८.३। ६ शा०, २.५; रघु०, ९.४९। ७ अ० १, २८३–८४। ८ वही, ६६७–६९। ९ पृ० १६।

संकेत किया है। हमें शिकारीके पोशाक मृगयावेशका[1] उल्लेख मिलता है। कवि महाराज दशरथके आखेटका विस्तारसे चित्रण करता हुआ कहता है:—"मन्त्रियोंकी सम्मतिसे राजा मृगयाको निकला।"[2] वन्य लता-तन्तुओंसे उसने अपने केश बाँधे और वृक्ष पल्लवोंसे उसने उसी रंगका राजकीय परिवेश बनाया (तरुपलाशसवर्णतनुच्छदः)।[3] तदुपरान्त राजाने एक अरण्यमें प्रवेश किया जिसमें पहलेसे ही कुत्तोंके झुण्ड और जालके साथ लोग विद्यमान थे और जो दावानल एवं लुटेरोंसे मुक्त था और जिसमें जलाशय, हिरन, पक्षी तथा चमरी गायोंकी[4] भरमार थी। वहाँ राजा ने हिरन, शूकर, वन्य महिष, गैंडे, व्याघ्र, सिंह और चमरियोंका शिकार किया।[5] ध्यान रखनेकी बात है, कवि यहाँ बतलाता है कि अरण्यके हस्ती का शिकार करना पारम्परिक रूपसे मना[6] (प्रतिनिषिद्ध) था। पुष्प-हारसे[7] अलंकृत अंगवाली स्त्रियोंके बीच जिनके हाथोंमें धनुष थे राजा मृगयाके लिए जंगलमें गया। प्रातःकाल व्याधों और दूसरे अनुचरों[8] की अरण्य-प्रवेशकी तय्यारियोंकी चहल-पहलसे वह प्रदेश कोलाहलमय हो गया था।

अपनी अंगरक्षिकाओं और अन्तःपुरकी दूसरी स्त्रियोंसे घिरे हुए स्नानका आनन्द लेना राजाका दूसरा मनोविनोद था। रघुवंशके सोलहवें सर्गमें कविका दिया इसका एक सुन्दर वर्णन हमें पढ़नेको मिलता है। वहाँ राजा अपने हर्म्यकी स्त्रियोंके साथ सरयूके पानीमें प्रविष्ट होता है और जल-विहार[9] करता है। वह अंगरक्षिका किरातीके साथ नौका खेता हुआ विचरता है।[10] नदीके जलपर अपनी थपकियोंसे संगीतका सृजन

---

१ रघु०, ९.५०, मृगयावेशम् शा० पृ० ६८। २ अनुमतः सचिवैः रघु०, ९.४९। ३ वही, ५०। ४ वही, ५३। ५ वही, ५४, ५५, ५७, ५९—६६। ६ वही, ९.७४। नृपतेः अवध्यो वन्यः करीति ५.५०। ७ शा० पृ० ५७। ८ वही, पृ० ५६। ९ रघु०, १६.५५—७५। १० वही, ५७।

करनेवाली महिलाओंपर वह एक सुनहली पिचकारीसे[1] रंगीन पानी फेंकता है।[2] इस विनोदको जल-विहार[3] अथवा वारिविहार[4] कहते हैं।

जन-साधारणके समान राजाका तीसरा विनोदका विषय था, दोलन (झूलना) जिसका वर्णन सामाजिक जीवनके अध्यायमें लोक-मनोरंजनके प्रसंगमें दिया गया है।

संगीत भी एक सामान्य मनोरंजन था जिसमें अधिक लीन होनेपर राजा राज्यके प्रति अपने कर्त्तव्य-पालनमें अनवधान हो जाता था। राजा का अन्तःपुर रात-दिन संगीत-लहरियोंमें आप्लावित होता जिससे सारा राजप्रासाद प्रतिध्वनित होता रहता जैसा कि रामके एक वंशज अग्निवर्ण के संबंधमें रघुवंशके उन्नीसवें सर्गमें उसके स्वेच्छाचारका वर्णन करते हुए कहा गया है। नाटकीय अभिनय भी राजाके मनोविनोदका और एक विषय था। मालविकाग्निमित्रके द्वितीय अंकमें इस प्रकारके अभिनय का उल्लेख है।

जैसा प्रमाणों-द्वारा बतलाया गया है इनमेंसे कुछ मनोरंजन रूढ़िगत भी थे। वे कविके समसामयिक मनबहलाव भी हो सकते हैं क्योंकि उनमें से अनेकों मालविकाग्निमित्रमें बादके युगके एक राजाके विषयमें प्रयुक्त हुए हैं।

प्रत्येक राज्यारोहणके अवसरपर कालिदास पौरों तथा जानपदोंके प्रतिनिधित्वका उल्लेख नहीं करते क्योंकि वे प्रत्येक राजाके राज्याभिषेक का वर्णन नहीं करते, किन्तु उनके प्रसंगमें जब कभी राज्याभिषेकका विवरण आता है अधिकांशमें वे पौरोंके साथ प्रकृति-मुख्योंका नामोल्लेख करते हैं। राज्याभिषेक देखनेके लिए प्रकृतिमुख्योंको बुलानेकी बात राजाके उत्तराधिकारी निश्चित करनेमें उनके वैधानिक मर्यादाकी ओर संकेत करती है और वे फलतः मंत्रि-परिषद्के साथ राजाकी स्वेच्छाचारिता की योजनाओंपर अतिरिक्त रोक-थाम रखनेका काम कर सकते थे। यह

---

१ वही, ७०। २ वही, ६४। ३ वही, ५४। ४ वही, ६१.६७।

स्मरण रखने योग्य है कि प्रजाके प्रतिनिधियों तथा मंत्रियोंकी अनुमतिसे गर्भवती रानीका राज्याभिषेक होता था और केवल तभी वह सुवर्ण-सिंहासनपर बैठ और राज्यका शासन निर्द्वन्द्व चला सकती थी। दूसरा प्रयोग भी उसी दिशाकी ओर निर्देश करता है"----उस दिवंगत राजाके मंत्रि-समूहने स्वामीके बिना प्रजावर्गकी शोचनीय दशा देखी और नियमके अनुसार उसको राजा बनाया जो उस वंशका एक-मात्र सूत्र था।"

कालिदास लिखते हैं कि जब कोई राजा मर जाता तो यह मंत्रियोंका कर्त्तव्य था कि वे देखें कि उस संक्रान्ति-कालमें, जब उत्तराधिकारीके हाथोंमें अधिकार स्थानान्तरित होनेवाला होता था, उच्छृङ्खलता और अराजकता उत्पन्न हो राज्यको नष्ट न करने पावे।

मनु राजासे मंत्रियोंके साथ पहले अलग-अलग परामर्श कराता है और फिर सबसे एक साथ, अर्थात् मंत्रिसभामें। अर्थशास्त्रने इस विचार को पूराका पूरा स्वीकार किया है। यह ध्यान देने योग्य है कि मालविकाग्निमित्रमें मंत्री विदर्भके संबंधमें निश्चित निर्णयका विवरण राजापर प्रकट नहीं करता, किन्तु वह उस विषयमें मंत्रि-परिषद्के प्रतिनिधिके रूपमें परिषद्की जिज्ञासा-पूर्तिके लिए उसका केवल विचार जानना चाहता है। मंत्रियोंके निर्णयपर राजाका विचार जाननेकी प्रार्थना इसको नहीं कह सकते, क्योंकि उस निर्णयसे वह बिलकुल अनजान है। केवल उसकी राय (अभिप्रेतम्) उससे माँगी गई है। विचारणीय विषयपर राजा जब अपनी राय दे देता है तो अमात्य मंत्रिपरिषद्को राजाका विचार (प्रधान मंत्रीके द्वारा) सूचित करनेके लिए चला जाता है, जो संयोगवश मंत्रियोंके निर्णयसे बिलकुल मिल जाता है। जब हम अमात्यके इस कथनको पढ़ते हैं कि---"देव, अमात्य विनयपूर्वक निवेदन करता है। आपका विचार कल्याणकारी है। ऐसा ही विचार (दर्शनम्) मंत्रियोंका भी है।" तब यह विचार-बिन्दु पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। 'दर्शनम्' शब्दका प्रयोग महत्त्वका है।

:o:

अध्याय ५

राजनीतिक विचार

कालिदासने बहुतसे स्थलोंमें राज-तंत्रके लाक्षणिक शब्दोंका व्यवहार किया है और अप्रत्यक्ष रूपसे राजनीतिकी पुस्तकोंकी ओर संकेत भी।

राजनीतिक विचार

कवि-द्वारा उनका हवाला अवश्य पारम्परिक था। इस अध्यायमें इन शब्दोंपर विचार किया जा सकता है। 'मालविकाग्निमित्र' के प्रथम अंकमें 'व्यावहारिक या लाभकारक शास्त्रके आविष्कारक'के अर्थमें वह तंत्रकार[1] शब्दका प्रयोग करता है। अग्नि-मित्रके विचारको मान्यता देता उसका मंत्री कहता है—"महाराज शास्त्र-सम्मत ही कहते हैं" इत्यादि। मंत्रीने राजनीति-शास्त्रके जिन पद्यमय वाक्योंका उद्धरण प्रमाणमें उपस्थित किया वे किसी राजनीति-पुस्तकसे लिये गये प्रतीत होते हैं। उन पुस्तकोंका पता लगाना इस समय कठिन है, परन्तु कालिदासके समयमें उनसे सभी परिचित थे अथवा राजनीति के कुछ सूत्रोंका पद्यमय अनुवाद होना भी सम्भव है। पालकाप्य के हस्त्यायुर्वेदमें[2] ऐसे ही तंत्रकार शब्दका प्रयोग हमें मिलता है। जिस अर्थमें तंत्र शब्दका पंचतंत्रमें प्रयोग हुआ है उसी अर्थमें इस नाटकमें भी। परन्तु कविने लोकतंत्रका प्रयोग केवल शास्त्रीय अर्थमें किया है, यानी शासनके व्यावहारिक शास्त्रके अर्थमें। इसलिए तंत्रका यदि प्रसंगानुसार अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ राजनीतिके निबंधके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता।

---

१ माल०, पृ० ११। २ एतद्राज्ञोदितं तस्य तंत्रकारं महामुनिः।
तं मुनिं कर्म संधास्य पप्रच्छुर्निश्चितास्तदा ॥३६॥

कालिदास हिन्दू राजनीति-शास्त्रके प्रकृति,[१] प्रकृतिमंडल,[२] प्रकृत्य-मित्र,[३] अरिमण्डल,[४] मण्डलनाभि,[५] लोकतंत्र,[६] दण्डचक्र,[७] चतुर्विधां, राजनीतिम्[८], चतुर्भिरुपक्रमैः,[९] त्रिसाधनाशक्तिः,[१०] षड्गुणाः,[११] ककुद्,[१२] मध्यम शक्तिः,[१३] धर्मोत्तर,[१४] पणबन्ध,[१५] रन्ध्र,[१६] उपायसंघात,[१७] परातिसंधान,[१८] वैतसीं वृत्तिम्,[१९] दण्डनीति,[२०] तीर्थ[२१] और षड्विधं बलम्[२२] आदि, पारम्परिक शास्त्रीय पदोंका उल्लेख करते हैं।

प्रकृति प्रजाजन हैं। इस शास्त्रीय पदकी व्याख्या करते हुए मल्लि-नाथ कौटिल्यका प्रमाण देते हैं। अर्थशास्त्रके अपने अनुवादकी भूमिका में श्री आर० शाम शास्त्रीने निम्नलिखित विचार प्रकट किये हैं, जो प्रकृति शब्दके भावपर प्रकाश डालनेके लिए पूरा उद्धृत किया जाता है:—

"उनमेंसे कुछ शब्द तो स्पष्ट ही राजनीति-शास्त्रकी पुस्तकोंसे लिये गये हैं और लेखकने पुस्तकके अन्तिम अध्यायमें स्वयं लिखा है कि राज्यके एक तत्त्वके अर्थमें प्रकृति शब्दका प्रयोग उसका अपना है। छठें अध्याय में और भी कहा है कि प्रत्येक पूर्णाधिकार-प्राप्त राज्यके सात अंग होने चाहिए, यानी राजा, मंत्री, देश, दुर्ग, कोष, सैन्य और मित्र, और इनमें

---

१ रघु०, ४.१२, ८.१०, १८, १२.१२, १३.६८, ७९, १८.५०; शाकु०, ६.५। २ रघु०, ९.२। ३ माल०, पृ० ११। ४ रघु०, ४.४। ५ वही, ९.१५, नाभिर्नृपमण्डलस्य १८.२०। ६ शाकु०, पृ० १५४। ७ माल०, पृ० ११। ८ रघु०, १७.६८, ११.५५। ९ वही, १८.१५। १० वही, ३.१३, ९.१८, १७.६३। ११ वही, १७.६७, ८.२१। १२ वही, ६.७०। १३ वही, १७.५८, धर्मोत्तरं मध्यमम् १३.७। १४ वही, १३.७ धर्मविजयी ४.४३। १५ वही, १०.८६, ८.२१। १६ वही, १२.११, १५.१७, १७.६१। १७ वही, १४.११। १८ शाकु०, ५.२५, पराभिसंधान रघु०, १७.७६। १९ रघु०, ४.३५। २० वही, १८.४६। २१ वही, १७.६८। २२ वही, १, ५.२६, १७.६७।

शत्रुको मिलाकर आठ तत्वों (प्रकृतियों) की गिनती होती है। अमर-सिंह उनको सात अंग (राज्यांगानि) अथवा तत्त्व (प्रकृति) कहते हैं, (२, ८, १७) और शत्रु अथवा शत्रुओंके लिए प्रकृतिकी उपाधि नहीं दी है। इसलिए राज्यके एक तत्त्वके नामकरण और उसके व्यक्तिबोधमें शत्रुओं को भी अन्तर्भूत करनेके लिए प्रकृति शब्दके निर्माण करनेका श्रेय कौटिल्य को दिया जा सकता है। उसके कथनानुसार ही पहले शत्रु-तत्त्वको "प्रथमा-प्रकृति", दूसरे शत्रु-तत्त्वको "द्वितीया प्रकृति", तीसरे शत्रु-तत्त्वको "तृतीया प्रकृति" इत्यादि अभिधाओंसे सम्बोधित किया गया है। उसी प्रकार कामन्दक उनको अंग कहकर पुकारता है (१,१६,१७) और इन सात अंगों तथा शत्रुओंको भी (८,४,२०,२५) प्रकृतिका नाम देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्यके पूर्वके राजनीतिशास्त्रकार राजनीतिके सात भागोंमेंसे किसीके लिए अंग शब्दका प्रयोग सामान्य अर्थमें करते थे और इन सात अंगों तथा शत्रु-तत्वोंकी एक साथ अभिव्यक्तिके लिए उनके पास 'प्रकृति'-तत्त्व-जैसा कोई सामान्यार्थसूचक पद नहीं था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वाधिकार प्राप्त राज्यके एक तत्त्वके रूपमें जिसमें उसके शत्रु भी शामिल हों "प्रकृति" शब्दका उल्लेख प्रमाणित करता है कि जिस लेखकने इस शब्दका अपने लेखमें प्रयोग किया उसका काल कौटिल्यके बादका है। आज भी प्रचलित मनुस्मृतिकी प्रतिमें प्रकृति शब्दका कौटिल्यके समान ही साधारण अर्थमें उल्लेख हुआ है (७,१५६) और इस हेतु यह कौटिल्यके पश्चात्की समझी जा सकती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि उपर्युक्त राजनीतिके शब्दोंके लिए कालिदास कौटिल्यके अर्थ-शास्त्रके अवश्य ऋणी हैं और उनकी व्याख्याके लिए मल्लिनाथसूरि कौटिल्यके अर्थ-शास्त्रके सिवा अन्य कोई राजनीतिक पुस्तक नहीं पा सके। सुतरां, कालिदासने राज्यके तत्त्वके बोध करानेके लिए 'प्रकृति' तथा 'अंग'[२] दोनों पदोंका व्यवहार किया है।

१ आर० शाम शास्त्रीका अर्थ० का अनुवाद; भूमिका, पृ० १६।
२ रघु०, १.६०।

प्रजा-वर्गके अर्थमें 'प्रकृतिमण्डल' का व्यवहार हुआ है जो 'गोबलीवर्दन्याय'से नगरके[1] बाहरके निवासियोंका बोधक है।

जो राज्य राजाके राज्यों[2]की सीमापर अवस्थित होकर उसका समसीमान्त होता है उसका स्वाभाविक शत्रु, 'प्रकृत्यमित्र' है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष, यानी स्वाभाविक शत्रुओं और मित्रोंके शत्रुओं को मिलाकर शत्रुओंके समूहको 'अरिमण्डल' कहा गया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि किसी महान् राजाकी मृत्युपर नये राजापर आक्रमण करनेके उद्देश्य[3]से शत्रुओंका कम संगठन नहीं होता था। विशेषतः स्वाभाविक शत्रु राज्यके एक छिद्र और दुर्बलताको खोज निकालनेमें बड़ी बुद्धिमत्तासे तत्पर रहते जिससे वे पहला अवसर पाते ही उसपर चढ़ बैठें और अपने आक्रमणका उसे शिकार[4] बना लें।

मण्डलनाभिसे वह सम्राट् समझा जाता है जो राजाओंकी परिधिका केन्द्र होता है। उन छोटे-छोटे राजाओंके वृत्तको मण्डल कहते हैं जिनके राज्य साम्राज्यकी सीमाओंपर लगे होते हैं। कामन्दक, जिसका उद्धरण मल्लिनाथ[5] ने दिया है, इस प्रकारके राजाओंके बारह वर्ग करता है अर्थात् (१) अरि या शत्रु-राजा जिसको परास्त करना है (२) मित्र (३) अरेर्मित्र,

---

१ मल्लिनाथ : सनगरं नगरजन-सहितं प्रकृतिमण्डलम्। अत्र प्रकृतिशब्देन प्रजामात्रवाचिना नगरशब्द-योगाद्गोबलीवर्दन्यायेन जनपदमात्रमुच्यते। तत्पौरजनपदमंडलं तस्मिन्नतीवासक्तमभूदित्यर्थः। रघु० पर टीका, ९.२। २ माल०, पृ० ११। ३ रघु०, ४.२—४। ४ वही, १२.११, १५.१७। ५ अरिर्मित्रमरेर्मित्रमतःपरम्। तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरःसराः। पार्ष्णि-ग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम्। आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः। अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः। अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे। मण्डलाद् बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः। अनुग्रहे संहतानां व्यस्तानां च बोधे प्रभुः॥ रघु० पर टीका; ९.१५।

शत्रुका मित्र (४) मित्रमित्र, मित्रका मित्र (५) अरिमित्रमित्र या शत्रुके मित्रका मित्र, जिसका राज्य पृष्ठ-प्रदेशमें हो, यानी (६) पार्ष्णिग्राह, जिसका राज्य प्रधान राजाके राज्यसे लगा हो (७) आक्रन्द, जिसका राज्य पार्ष्णि का आसन्न हो और जो एक मित्रको दूसरेकी सहायता करनेसे रोक सकने की क्षमता रखता हो; (८) पार्ष्णिग्राहसार और (९) आक्रन्दसार जिनके राज्योंको पहलेवाले बीचमें आकर एक दूसरेसे भिन्न करते हैं; (१०) मध्यम या मध्यस्थ जिसका राज्य विजेता और शत्रुके बीचमें हो और (११) उदासीन अर्थात् वह जो किसी पक्षका न हो, तटस्थ (न मित्र हो, न शत्रु), जिसका राज्य ऊपर कथित राजाओं के जनपदोंसे अलग हो— जो अपनी सैन्य-शक्तिसे शक्तिशाली हो और यदि वह दूसरोंके साथ मिल जाय तो युद्धका भाग्य पलट दे और अन्तमें (१२) स्वयं सम्राट्, अन्तिम दोनों प्रकारके राजाओंसे अधिक शक्तिशाली। राजाओंके वृत्त और उसके केन्द्रका एक विस्तृत वर्णन कौटिल्य[1] देता है।

लोकतन्त्र शासनकी कला है, राज्य-संचालनका व्यावहारिक विज्ञान; दण्डचक्र (दण्ड—सैन्य, चक्र—वृत्त) एक पूरी चतुरंगिणी[2] सेनाका द्योतक है। 'चतुर्विधां राजनीतिम्' और 'चतुर्भिरुपक्रमैः' ऐसे वाक्यांश हैं, जो चार प्रकारकी नीतिकी ओर संकेत करते हैं, जिनको टीकाकार साम, दानविधि, भेद और विग्रह[3] का नाम देता है। शान्त करना, धन देकर प्रसन्न करना, गृह-कलह उत्पन्न कराना और दण्ड देना (युद्ध), ये चार क्रमशः राजनीतिकी पारम्परिक चालें थीं। इनको शुक्रनीतिमें साम (शान्ति), दान (क्रय), भेद (अलग करना) और दण्ड (प्रति फल) (अध्याय ४ पाठ १, ५२-८२) कहा गया है। कालिदास स्पष्ट लिखते हैं कि पौरुष-रहित कूटनीतिज्ञता कायरता-मात्र है, राजनीतिके बिना

१ कामन्दक कौटिल्यका अनुसरण करता है—मिलाकर अर्थशास्त्र।
२ एम० आर० काले : मालविकाग्निमित्र, टिप्पणी, पृ० १९। ३ रघु० पर टीका, ११.५५।

शूरता पशुओंके कार्यके सदृश है; इसलिए इन चार नीतियोंके साथ शत्रुके मर्मस्थलपर[1] आघात करके सफलताकी इच्छा की जाती है। इस विचारसे स्वभावतः ही तीन प्रकारकी शक्तियों अर्थात् राजाकी मर्यादा (प्रभाव) मंत्रि-सभाके साथ मंत्रणा (मंत्र) तथा विश्वास, साहस और अदम्य उमंग[2] (उत्साह) से उत्पन्न होनेवाली त्रिसाधना-शक्तिका महत्त्व प्रदर्शित होता है। अच्छे कोश एवं सुशासनके फलस्वरूप ('कोश-दण्डजं तेजसः) राजाके राजपद और उसकी आज्ञाके वशवर्ती साधनोंसे उत्पन्न शक्ति, प्रभाव या प्रभुशक्ति है। राजाके व्यक्तिगत विक्रम, बल तथा उत्साह (विक्रमबलमुत्साहशक्तिः) से प्रकट होनेवाली शक्तिका नाम उत्साहशक्ति है। यह तीनों शक्तियोंमें सबसे अधिक आवश्यक है जो राजाके लिए अनिवार्य है। सन्मंत्रणासे उत्पन्न होनेवाली मंत्रशक्ति भी मुख्य है। सफलताके छः साधनोंको षड्गुण कहा गया है। ये छः गुण जिनको अग्रगामित्व, शक्ति-प्रसार (प्रसर)[5] के लिए राजा प्रयोगमें लाता था कौटिल्यके[6] मतानुसार निम्नलिखित थे, जो कहता है:—

"राज्य-मण्डल षड्धा नीतिका उद्गम था। मेरे आचार्यका वचन है कि सन्धि, विग्रह, तटस्थता (आसन), यान, सन्धि (संश्रय) और एकके साथ सन्धि तथा दूसरेके साथ विग्रह करना (द्वैधीभाव) राज्य-नीति के छः रूप हैं।"

"इनमें प्रतिज्ञाबद्ध होना सन्धि, विरोधक सैन्य-संचालन युद्ध, अन्य-मनस्कता तटस्थता, तत्पर होना आक्रमण, अन्यका आश्रय लेना मित्रता और एकके साथ सन्धि तथा दूसरेके साथ युद्ध दुधारी नीति (द्वैधीभाव) है। ये ही उक्त छः रूप हैं।"

---

१ रघु०, १७.४७। २ वही, १४.११। ३ वही, १७.६१। ४ मल्लिनाथ अमरकोषका उदाहरण रखता है: शक्तयस्तिस्त्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः रघु०, ३.१३। ५ रघु०, ८.२३। ६ खण्ड, ७, अध्याय १, मिलाकर भी अमरकोष मल्लिनाथका रघु० पर उल्लेख, ८.२१—संधिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः षड्गुणाः।

इन्हीं छः साधनोंका शुक्रनीति[1] में भी उल्लेख हुआ है। कालिदास लिखते हैं, ये साधन शत्रुओंकी[2] योजनाओंके परिणामोंको आमूल असफल करनेवाले हैं और विरोधियोंकी आँखोंमें धूल डालनेमें इनका स्थान मुख्य है।

'ककुद' जिसका शाब्दिक अर्थ है वृषका कूब, राजनीतिमें उच्चतम स्थान रखता है। यह बहुसंख्यक सामन्तों तथा राजप्रधानोंके साथ सर्व शक्ति-सम्पन्न सत्ताका द्योतक है। 'मध्यमशक्ति' या 'मध्यम-लोकपाल' मध्यस्थ तटस्थ राजा था, जिसका राज्य विजेता तथा उसके शत्रुके राज्योंके मध्य स्थित होता था। विजेता-द्वारा पराजित[4] शत्रु मध्यस्थकी रक्षा और शरणमें जाता था। 'धर्मोत्तर' या 'धर्मविजयी नृप' वह विजेता था जो केवल अपना प्रभुत्व स्वीकार करवानेके लिए किसी राज्यपर विजय प्राप्त करता था और विजित राज-परिवारका मूलोच्छेद किये बिना विजित नृपतिको पुनः राज्यासन पर आसीन करता था (उत्खातप्रतिरोपिताः)। 'पणबन्ध' ईप्सित लक्ष्य, राजनीतिकी विविध कूटनीतियोंके प्रयोगके पश्चात्, प्राप्त की गयी सफलता है। 'रंध्र' राज्यका छिद्र-स्थल या आघात करने योग्य बिन्दु है। शत्रु सदा अपने विरोधीके राज्यके आघात करने योग्य स्थलका पता लगानेकी ताकमें बैठा रहता था जहाँ वह शत्रु पर चोट[6] कर सकता था। 'उपायसंघात' राजनीतिके सभी उपायोंके प्रयोगोंका संघात है।[7] 'परातिसंधान' कूटनीति, शत्रुपर[8] विजय प्राप्त करनेके लिए छल-छद्मका प्रयोग है। 'वैतसी वृत्ति' निर्बलोंका साधन है। प्रचण्ड तूफ़ानके सामने वेंतका नम्र हो झुक जाना वैतसी वृत्ति है। एक निर्बल राजाको अपने शक्तिशाली शत्रुको अपना सिर झुका लेना पड़ता है और जब वह चला जाता है तो वह फिर उठकर खड़ा हो

१ अध्याय ४, विभाग ७, ४६४—७३। २ रघु०, ८.२०। ३ वहीं, १७.७६। ४ वहीं, १३.७, १७.५८। ५ वहीं, ४.३७, ४३, १७.४२। ६ रघु०, १७.६१, १५.१७। ७ साक्षादुपायानां संघातः समष्टिः—रघु० पर मल्लिनाथ, १४.११। ८ रघु०, १७.७६; शाकु०, ५.२५।

जाता है। इस वाक्यांशकी व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ कौटिल्यका प्रमाण देता है।[1] कौटिल्य इस नीतिको निर्बलके लिए योग्य समझता है और उसके लिए ऐसा करनेका परामर्श करता है।

'दण्डनीति' राजनीति-विषयक उपदेश है। यह राजनीति-शास्त्र है। हेमाद्रि और चरित्रवर्धन कामन्दकसे प्रमाण देते हैं; "दम दण्ड कहा जाता है और इसीलिए राजा ही दण्ड है। इसके नियम और प्रयोगको दण्डनीति या शासन कहते हैं।"[2]

'तीर्थ' शब्द, भाष्यकारकी[3] व्याख्याके अनुसार, राज्यके अष्टादश-विभागाधिपतियोंका संकेत करता है। चरित्रवर्धन इसका अर्थ अष्टादश विभाग-प्रधानोंका करता है जिनमें मंत्री, पुरोहित, सेनापति[4] आदि सम्मिलित हैं। तथापि वल्लभ-भाष्यके अनुसार इसका अर्थ है—'प्राकृतिक प्रवृत्ति तथा उसका व्यावहारिक प्रयोग।'[5] किन्तु यह भाष्य स्पष्टतः ग़लत और स्वीकार करनेके अयोग्य है, क्योंकि इस वाक्यांशका प्रयोग सैद्धान्तिक अर्थमें हुआ है, जिस अर्थमें यह राजनीति-विषयक समस्त निबन्धोंमें व्यवहृत होता आया है। कौटिल्यका अर्थशास्त्र इन अष्टादश तीर्थों अथवा विभाग-प्रधानोंका[6] विस्तारसे संकेत करता है। 'षड्विधं बलम्' राज्यकी छः प्रकारकी शक्ति[7], यानी (१) मंत्री, (२) अंगरक्षक, (३) मित्र, (४) संघ, (५) शत्रुके शत्रु और (६) अरण्यवासी।

---

१ बलीयसाभियुक्तो दुर्बलः सर्वत्रानुप्रणतो वेतसधर्ममातिष्ठेत्, रघु० पर ४.३५। २ दमो दण्ड इति प्रोक्तस्तत्स्माद्दण्डो महीपतिः। तस्य नीतिस्तथा वृत्तिर्दण्डनीतिर्विरुच्यते ॥ जी० आर० नन्दर्जिकरका रघुवंश, तीर्थ १७.६८ पर टीका। ३ आतीर्थस्मिन्न्याद्यष्टादशात्मतीर्थपर्यन्तम्। ४ दण्डनीतेः फलमातीर्थास्तीर्थं मंत्रिपुरोहितसेनापत्याद्यष्टादशकम्, आदि जी० आर० नन्दर्जिकरका रघुवंश, १७.६८ पर टीका। ५ वही। ६ मंत्रिपुरोहितसेनापतिराजदौवारिकान्तर्वासिकप्रसास्तृसमाहन्तृसंनिधातृपार्षदाध्यापकदण्डकारकदुर्गपालास्तीर्थम्, अर्थशास्त्र, खण्ड २। ७ मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्। अमरकोष।

कालिदासको अपने राजाओंको कुछ आदेश करना है । वे कहते हैं: नवाभिषिक्त राजाको अपनी शक्ति सुदृढ़ बनाने पर लक्ष्य रखना चाहिए । उसका मूलोत्पाटन सरलतासे सम्भव है । अतः नये आरोपित वृक्षके सदृश, नित्यप्रति उसे अपनी प्रजाके हृदयमें अपनी नीतिकी जड़ गहरी जमाकर अपनी शक्तिको सुदृढ़ करना चाहिए

राजाकी गृह तथा पर-राष्ट्रनीति

जिसमें उसके लिए उनमें सद्भावनाकी उत्पत्ति हो और इस प्रकार वह अजेय हो जायगा ।[1] परिपक्व निर्णयोंसे युक्त हो अनिष्टोंके दूर करने वाले उसके कार्य उन्नतिकी ओर लक्षित हों और उनसे उसी प्रकार अलक्षित फलकी प्राप्ति होगी जिस प्रकार दूरवर्ती क्षेत्रोंमें[2] शालिधान । बलशाली होनेपर भी उसे कभी अनुचित[3] मार्गका आश्रय नहीं लेना चाहिए और प्रजावर्गमें उत्पन्न किसी प्रकारके राज-विद्वेषको तुरंत कुचलनेकी शक्ति रखते हुए भी उसे कभी ऐसा अवसर नहीं आने देना चाहिए जिसके लिए उसे ऐसा करना पड़े ।[4] उसे धन और कामनाकी प्रेरणासे अपने कर्त्तव्य-पथसे विचलित नहीं होना चाहिए । उसके लिए केवल अपने कर्त्तव्यपालनके लिए धन और कामनाका त्याग भी करना उचित नहीं; क्योंकि उसे संसार की इन तीन वस्तुओं[5] यानी अर्थ, कार्य और कर्त्तव्यके साथ यथोचित व्यवहार करना है । मित्रको यदि निम्न पद पर रखा जाय तो वे उपकार का बदला नहीं दे सकते और यदि उनको उच्च पद दिया जाय तो वे द्वेष करने लग जाते हैं; अतएव उसे अपने मित्रोंको मध्यके[6] स्थानमें रखना चाहिए । शुक्रनीतिके विचारसे 'राजाओंके कोई मित्र नहीं और न वे किसीके मित्र हो सकते हैं ।'[7] तथापि अपने सौहार्दपूर्ण गुणोंके सम्मिश्रण से अपने आश्रितोंकी दृष्टिमें उसे उसी प्रकार दुर्गम और सुलभ जँचना

---

१ रघु० १७.४४; मिलाकर माल०, १.८ । २ रघु०, १७.५३ । ३ वही, ४४ । ४ वही, ५५ । ५ वही, ५७, १४.२१ । ६ वही, १७.५८ । ७ राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा । अध्याय ४.१८ ।

चाहिए, जिस प्रकार सागर अपने भयानक नक्रों तथा आकर्षक रत्नोंके[1] कारण लगता है। शुक्रनीति भी अपने राजाको सम्मति देती है, 'उसे अपनी प्रजाको बाहरसे क्रूर[2] किन्तु भीतरसे कोमल हो दण्ड देना चाहिये।' उसे मध्यका मार्ग ग्रहण करना चाहिये जो न तो बहुत कठोर हो और न बहुत कोमल[3] और उसे सबके साथ पूर्ण समता[4] बरतना चाहिये। अपने तथा अपने शत्रुके सैन्य-बल, परिस्थिति, समय और दूसरे साधनोंका ठीक अनुमान कर लेनेके पश्चात् यदि वह अपने शत्रुसे अपनेको अधिक बलशाली समझे, तो उसपर आक्रमण करे, अन्यथा उसे चुप[5] लगा जाना चाहिये। अपने शत्रुओंके प्रयत्नोंका संहार करते हुए उसे अपने आक्रमणोंपर दृढ़ रहना चाहिये और शत्रुओंकी निर्बलताओं पर आघात करते हुए उसे अपने दोषोंको चेष्टापूर्वक[6] छिपाना चाहिये। अपने प्रति विरोध-भावनासे किये गये लोगोंके कार्योंको जानते हुए भी उसे अपने मुखसे कभी ऐसा वचन नहीं निकालना चाहिये जो उनको कष्टदायक हो, किन्तु चुपचाप उनके उद्देश्य[7]को निरस्त करनेके लिए सतत उपाय करना चाहिये।

जिस राजाकी शासन-नीति गुप्त है और जिसके व्यवहार और भाव समान-रूपसे अज्ञात हैं उसकी राजनीतिक योजनाओं या कूटनीतिक प्रयोगों का पता उनके निष्कर्षोंसे ही लग सकता है।[8] शक्ति-सम्पन्न होनेपर भी

---

१ रघु०, १.१६। २ अध्याय ४; विभाग १.१३०—१३१। ३ न खरो न च भूयसा मृदुः रघु०, ८.६ कामन्दक, मल्लिनाथ-द्वारा उल्लेख—

"मृदुश्चेदवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः।
तीक्ष्णश्चैव मृदुश्चैव प्रजानां स च संमतः॥"

नातिशीतोष्णो रघु०, ४.८ भी कामन्दक, मल्लिनाथ-द्वारा उल्लेख—

"उद्वेजयति तीक्ष्णेन मृदुना परिभूयते।
दण्डेन नृपतिस्तस्माद्युक्तदण्डः प्रशस्यते॥"

४ रघु०, १.२८। ५ वही, १७.५६। ६ वही, ६१। ७ वही, १.२२ (एम० आर० कालेकी टिप्पणी)। ८ वही, २०।

उसका आक्रमण केवल उनके ऊपर ही होना चाहिये जो उसकी शक्तिकी[1] पहुँचमें हैं। उसे लालचसे नहीं, प्रत्युत अपनी प्रजाके हितके लिए अपने कोषमें धनसंग्रह करना चाहिये। अठारह 'तीर्थों' के योग्य कर्मों तक एक राजाके लिए आवश्यक शासनके चतुर्धा संचालनको कार्यरूप देते हुए उसे उसके परिणामके[3] लिए प्रयत्नशील होना चाहिये। छल-छद्मकी कला और कूटनीतिक युद्धमें निपुण होनेपर भी उसे सदा धर्म-युद्ध[4] करना चाहिये। उसके प्रशंसनीय कार्योंकी जब यथोचित प्रशंसा की जाय, तो उसे सलज्ज[5] अनुभव करना चाहिये। अपनी शूरता और प्रभावमें दीप्ति-पूर्ण होनेपर भी उसे अपनी प्रजाके अयोग्य कर्मोंका उसी प्रकार नाश करना चाहिये जिस प्रकार सूर्य अन्धकारका[6] नाश करता है। अर्थियोंकी कामना पूरी किये बिना उन्हें नहीं लौटाना[7] चाहिये। जिस समृद्धिकी अवस्थामें उसने प्रजावर्गको पूर्व राजासे पाया है उसमें प्रभूत वृद्धि लानेके लिए उसे सतत प्रयत्नपरायण रहना चाहिये और इस प्रकार उसे राज्यको ऐश्वर्य तथा सम्पन्नतासे[8] भर देना चाहिये (**भयसीं वृद्धिम्**)। ईर्ष्यालु, शत्रुओंको पराजित करना उतना कठिन नहीं, आन्तरिक शत्रु ही भयानक होते हैं, अतएव सर्वप्रथम उसे अपने घरके शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनी चाहिए और फिर अन्य[9]-देशीय अरियोंपर आक्रमणके लिए सोचना उचित है।

गुप्तचर-रूपी आँखोंवाले राजा[10]के लिए कुछ भी अदृश्य नहीं रहना चाहिए। स्वयं यथासमय शयन करते हुए अपने शत्रुओं एवं मित्रोंके[11] बीच अपने ऐसे गुप्तचर भेजकर, जो एक दूसरेके कार्यसे बिलकुल अभिज्ञ हों, उसे सारा भेद ज्ञात कर लेना चाहिए। राजनीति-शास्त्रोंमें राजा[12]के लिए जिन दैनिक कार्यक्रमोंका विधान है उनका पालन उसे पूर्ण आस्था

१ वही, १६.५६। २ वही, ६०। ३ वही, ६८। ४ वही, ६९। ५ वही, ७३। ६ वही ७४८। ७ ११.२, १७.७२। ८ वही, १७.४१। ९४५। १० वही, ४८। ११ वही, ५१। १२ रात्रिदिवंविभागेषु यथादिष्टं महीक्षिताम्। वही, ४९।

एवं विश्वासके साथ करना चाहिए। उसे प्रतिदिन अपने मंत्रियोंके साथ अपने राज्यके मामलोंपर विचार-विमर्श करना आवश्यक है। इसपर भी उसका चोकन्नापन इतना सुदृढ़ हो कि कहींसे कोई भी रहस्य न खुल सके।[१] शुक्रनीति कहती है, "जो राजा अपनी भलाई और बुराईकी मंत्रियोंकी बातोंपर ध्यान नहीं देता, वह शासकके रूपमें चोर है, प्रजाकी समृद्धिका शोषक है[२]। उसे दुर्ग निर्माण कर उनमें शक्तिशाली सैन्य स्थापित करना चाहिए जिसमें वे सफलतापूर्वक शत्रुको ललकार[३] सकें और उसके आक्रमणको विफल बना सकें। अश्वमेध यज्ञके अवसरपर धार्मिक उद्देश्यकी[४] सिद्धिके लिए उसे वंचन-शैलीका भी प्रयोग करना पड़ता है (पराभिसन्धान)। वह भले व्यक्तियोंका साथ करे यद्यपि वे उसके शत्रु भी हों और दुष्टोंके संसर्गसे बचता रहे चाहे वे उसके मित्र[५] ही क्यों न हों। उसे राजनीतिमें दक्ष[६] व्यक्तियोंपर विश्वास करना चाहिए और जो कुछ उसने अधिकृत[७] किया हो उसकी सुदृढ़ताके लिए प्रचुर यत्नशील रहना चाहिए। एक दयालु शासन[८] संचालित करनेके लिए उसे अपनी सारी शक्ति लगा देनी चाहिए। प्रजावर्गके प्रति उसका ऐसा बुद्धिमत्ताका व्यवहार होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें यह धारणा बैठ जाय कि राजाका[९] विशिष्ट स्नेह उसपर ही है। जिस शासन की बागडोरका वह स्वयं एक बार परित्याग कर दे उसको वह पुनरपि न धारण करे[१०]। उसे समय एवं स्थानकी अनुकूलताके साथ राजनीतिके उपायोंका प्रयोग करना चाहिए[११] क्योंकि ऐसे प्रयोगसे ही उनका फल प्राप्त होता है। वह सदा मधुरभाषी हो और विश्वास-उत्पादनके लिए उसके वार्त्तालापके साथ उसके मुखमण्डलपर मधुर मुस्कान खेलती रहे।[१२]

---

१ वही, ५०। २ अध्याय, २.५१५—१६। ३ रघु०, १७.५१। ४ वही, ७६। ५ वही, १.२८। ६ वही, ४.१०। ७ लब्धप्रशमन-स्वस्थमथैनं समुपस्थिता वही, १४। ८ वही, ८.७। ९ वही, ८। १० वही, १३। ११ वही, १२.६९। १२ वही, १७.३१।

उसे सहज चातुर्यसे[1] अपने लोगोंको कार्यमें लगाना चाहिए। वह नयज्ञ[2] हो और प्रतिष्ठित विधानकी[3] मर्यादाका उल्लंघन न करे और वह अपने रूप-यौवन तथा महत्त्वाकांक्षाओंको अपने वशमें रखे, क्योंकि ये व्यक्तिगत होनेपर भी भ्रष्टता तथा निरंकुशताको[4] उत्पन्न करनेवाले हैं। इस प्रकार राजनीति-शास्त्र[5] के प्रणेताओंके विवक्षित मार्गपर अग्रसर होता हुआ राजा (**शास्त्रनिर्दिष्टवर्त्मना**) कार्यशील हो—यही एक शासकके आदर्श आचारकी परम्परा थी और कविके समसामयिक नृपके आदर्श भी कही जा सकती हैं। गुप्तकालीन जूनागढ़-शिलालेखका स्तुतिपाठक भी ठीक इसी प्रकारका विचार रखता है।

---

१ वही, ४०। २ वही, १८.२५। ३ वही, ३.२७। ४ वही, १७.४३। ५ वही, ७७। उल्लेख कौटिल्य अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामन्दक नीतिसार और राजनीतिशास्त्रके अन्य सन्धियोंपर है।

अध्याय ६

राज-सत्ता, सामन्त और दिग्विजय

कालिदासकी रचनाओंके अध्ययनसे यह अभ्रान्त धारणा प्रकट होती है कि राज-सत्ता[1] राजामें[2] पूर्णरूपेण निहित थी। वह उसका मौलिक

राजश्री

उद्गम (मूलायतन) था। उसके अधिकार में किसी प्रकारका हस्तक्षेप नहीं हो सकता था (अव्याहताज्ञा) और सारी शक्ति उसके व्यक्तित्वसे प्रकट होती थी। यह सच है कि शासनके कार्योंमें जैसा कि आगे दिखाया गया है, ये मन्त्री ही थे जो राज्यकी शासन-व्यवस्था करते थे और उन्हींके द्वारा राज्यकी सामान्य नीति निर्धारित होती थी, किन्तु विधानतः राज्यके स्वामी होनेकी विशेषताके कारण उसके पद और अधिकार पर जो एक प्रकार उसके जन्म-सिद्ध थे, कोई उंगली नहीं उठा सकता[3] था। (अव्याहताज्ञा) 'अव्याहताज्ञा' पद, जिसका प्रयोग कवि करता है, एक राज्यनीति शब्द है और इसका उल्लेख 'शुक्रनीति' में हुआ है जो कहती है; "उस महाधनी राजासे वह सामान्य राजा बढ़कर है जिसका राज्य छोटा होने पर भी जिसके शासनमें कोई बाधा नहीं है और जो शक्तिशाली है। वह (उपर्युक्त) योग्यताओंके साथ ऐसा हो सकता है।"[4] यहाँ यह संकेत किया जा सकता है कि कालिदास शुक्रसे ऐकमत्य नहीं रखते क्योंकि शुक्रका विचार है जैसा कि उनके शब्दोंसे प्रकट होता है—"वह उन योग्यताओंके साथ ऐसा बन सकता है"—कि योग्यताओंके द्वारा निर्विवाद अधिकार प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु कालिदासका विचार ऐसा नहीं

---

१ श्रीः रघु०, ३.३६। पार्थिवश्रीः ४.१४, ४३। प्रतापः १५, ३०, ३९, १७.३७। २ नरेन्द्रमूलायतनम्, वही, ३.३६। ३ अव्याहताज्ञा वही, १९.५७। ४ खण्ड १.३५३–५५।

है। शुक्रनीतिके विद्वान् अनुवादक प्रो० विनयकुमार सरकार इसी अंश पर टीका करते हुए लिखते हैं; "किन्तु (जैसा अव्याहताज्ञासे सूचित होता है) अनुशासन, उत्कृष्ट व्यवस्था तथा सैन्य सुव्यवस्था ही राज्यकी महत्ताके कारण हैं।" यहाँ यह स्वीकार किया जा सकता है कि अव्याहताज्ञा पदका जो अर्थ किया जाता है वह इनमें नहीं पाया जाता। उस स्थानमें जहाँ अनुशासन और योग्य व्यवस्थाका अभाव हो वहाँ भी अव्याहत अधिकार पाया जा सकता है क्योंकि यह राज्यसत्ताका मौलिक अंग है। इसमें निर्विवाद आदेश सन्निहित है और यह ऐसे अधिकारको व्यक्त करता है जिससे हिन्दू राजनीति-शास्त्री अपने राजाको विभूषित करते हैं। यह 'अनुशासन और योग्य व्यवस्था' अथवा 'सैनिक सुव्यवस्था' से प्राप्य नहीं हैं किन्तु राजामें जो जन्मसिद्ध ईश्वरीय गुण हैं उनके द्वारा, जो मनुके **'महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'** से स्पष्ट है, जिसको कालिदास स्वीकार करते हैं और जो राजाकी अनुशासनहीनता, कुप्रबन्ध तथा सैन्य-अयोग्यताकी विद्यमानतामें भी अपना अस्तित्व रख सकता है। राजाका शरीर दैवी शक्तियोंका प्रतिनिधित्व[1] करता था और वह एक अलौकिक प्राणी[2] था। उसे बाह्य शक्तियोंकी किसी प्रकारकी सहायताकी अपेक्षा नहीं थी और जहाँ तक आत्मगत शक्तिका सम्बन्ध था वह स्वतः पूर्ण था। राजपदपर उसका ईश्वर-प्रदत्त अधिकार था। यदि कोई, उदाहरणके लिए युवराज, उससे अलग राजकीय अधिकारका प्रयोग करता था, तो वास्तवमें वह अधिकार उसको उससे ही प्राप्त होता था या वही[3] उसको सौंपता था। जब कभी वह अपने राजपदका परित्याग करता तो वही और एकमात्र वही अपने उत्तराधिकारीका निश्चय करता और इस प्रकार राजसत्ता उसकी इच्छाके[4] अनुकूल ही किसीको प्राप्त होती। राजपद वंशागत होनेके

---

१ रघु०, २.७५, ३.११, १६.७८। २ वही, १.१४, २९, ३.१४, १५, ६.२१, ३८। ३ "बभौ भूयः कुमारत्वादधिराज्यमवाप्य सः। रेखाभावादुपारूढः सामग्र्यमिव चन्द्रमाः॥ वही, १७.३० मिलाकर"; अंशेन वही, ३.३६। ४ राज्यं गुरुणा दत्तं वही, ४.१, मिलाकर ३.७०, १८.३३।

कारण राज-सत्ता मानो पितासे पुत्रकी ओर प्रवाहित थी। वह समस्त काल तथा प्रवाहका प्रवर्तक और कारण था[1]। उस पारिश्रमिकके[2] बदलेमें उससे प्रजा-पालनकी आशा की जाती थी, जो साधारणतः एक सट्टासा लगता है जो सामाजिक सट्टाके विचारसे बहुत कुछ सादृश्य रखता है, किन्तु यह विचार सत्यसे जितनी दूर है उससे अधिक कोई दूसरा नहीं हो सकता। यह भी सत्य है कि राजसत्तासे विधानोंकी उत्पत्ति नहीं होती थी और उसे शासनकी बागडोर अपने हाथोंमें लेनेके बहुत पूर्व मन्वादि[3] ऋषियों-द्वारा विधानीकृत और प्रस्तुत विधानोंको कार्यरूप देना पड़ता था और अपनी प्रजा के सम्बन्धमें सामाजिक तथा राजनीतिक कार्योंके रथके[4] संचालनके लिए उसे एक दक्ष सारथीका भी काम करना था। ऐसी वस्तु-स्थिति यथार्थमें राजाको प्रचलित व्यवस्थाके उल्लंघनके लिए दण्डविधान करनेवाला नाम-मात्रका प्रधान बना देती है और इससे उसे मौलिक कार्य करनेका अवसर नहीं प्राप्त होता, तथापि यह मानना ही पड़ेगा कि राज्यपर उसका अधिकार अव्याहत[5] था। परन्तु दैनिक शासन-कार्यमें उसकी स्वेच्छाचारिता निरंकुश नहीं रह सकती थी और वह एकाधिक मंत्रियोंकी विद्यमानताके कारण तथा अनेक अन्य शक्तियोंके प्रभावसे, जो एक उच्च व्यवस्थित मंत्रिमंडल, पूर्णतः सुशिक्षित कर्मचारी समुदाय और अधिकारियोंके एक क्रमबद्ध समूहके, जिसकी स्थितिका कालिदास उल्लेख करते हैं जिसको हम यथाप्रसंग देखेंगे, कामोंका आवश्यक परिणाम है, निन्दित हो जाती। कविके साहित्यके अवलोकनसे उसके राजाके संविधानिक तथा वैधानिक स्थितिके सम्बन्धमें हम किसी भ्रममें नहीं रह जाते। वह उसमें ईश्वरीय गुणों तथा नामोंका निरूपण करता है और इस प्रकार उसको एक ऐसा स्वरूप देता है जो अलौकिक और उसके शासनमें रहनेवाले लोगोंसे भिन्न

---

१ राजा कालस्य कारणम् विक्र०, पृ० ९३। २ षष्ठांशवृत्तेः शाकु०, ५.४। ३ मनुना प्रणीतः इत्यादि रघु०, १४.६७, १.१७, ४.७.१३। ४ वही, १.१७। ५ अव्याहताज्ञा वही, १९.५७।

है। वह कभी सामान्य लोगोंके[1] समान नहीं है, केवल उसकी शिक्षा तथा 'द्विज' होनेके 'संस्कारों' में उसकी लोक-समानता कही जा सकती है।

राजसत्तात्मक अधिकार तथा राजकीय मर्यादा

राजसत्ता राजाको शासनाधिकारसे सुशोभित करती थी। अधिकार तथा शक्तिका प्रयोग करनेके लिए राजाका वयस्क होना आवश्यक नहीं था। राज्यसत्ताधिकारी होनेकी विशेषताओंसे ही एक अल्पवय राजा भी राजपदपर प्रभावक हो सकता था।[2] छोटी-वयसवाले राजकुमार में स्वभाव-सिद्ध यह राज-सत्ता, छोटे-बड़े अन्य हाथियों पर विजय करनेवाले ऐरावत हाथीके बच्चेके मदकी तीव्र गन्ध और सबको उसके शरीरसे अलग रखनेवाले सर्पोंके मारक विषके समान उसको अपनी प्रजापर शासन करनेके योग्य बनाती है।[3] एक अप्रसूत राजा भी, जो अभी अपनी माँके गर्भमें है, (अपने सम्पर्क एवं स्पर्शके कारण) अपनी माँ रानीको ऐसा अधिकार देता था जिसका कोई उल्लंघन नहीं कर सकता (अव्याहताज्ञा[4]) और उसके शरीर को बहुत पवित्रताकी उपलब्धि होती थी। वह अपने गर्भमें राजकीय शक्ति धारण करनेके कारण राज्याभिषेकके योग्य भी हो सकती थी।

राजा बड़े धूमधामसे[5] निकलता। जब वह नगरमें प्रवेश करता और हाथीपर अपने राजनगरकी सड़कोंसे होकर आगे बढ़ता तो वह ऐसा बाजेगाजे[6]के साथ करता। नगर और उसके राजपथ उसके स्वागतके[7] लिए ध्वजा-पताकाओं और कृत्रिम तोरणोंसे सजाये जाते। अपनी राजधानीमें पदार्पण करते ही वह जय-घोषोंसे अभिनन्दित होता और राजपथ

---

१ तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना वही, १, २९। अनन्य-साधारण वही, ६.३८। २ षड्वर्ष वही, १८.३९, अर्भकोऽपि १८.४२, विक्र०, ५.१८। ३ विक्र०, ५.१८। ४ रघु०, १९.५७। ५ वही। ६ वही, ४.१५, ३०, ३६, १७.३७। ७ ऋतु०, २.१। ८ वही, रघु०, २.७४, ११.५, १५.३८।

के दोनों पार्श्वोंपर लोग दौड़-दौड़कर 'महाराजकी जय हो !' 'वे यहाँ आ रहे हैं !'[1] की घोषणाके साथ उसका स्वागत करते। इस प्रकारकी घोषणाका लाक्षणिक नाम 'आलोकशब्द'[2] की घोषणा है। वाक्यांशोंके इस सूत्रका उच्चारण राजाके निकट आनेपर प्रत्येक व्यक्तिके लिए आवश्यक था। अतएव 'आलोकशब्द' का अर्थ था, अंगरक्षकोंकी प्रशंसात्मक जयध्वनि जिसका उच्चारण राजाके पथमें गमन करनेपर मार्ग-घोषणा के लिए वे करते थे। जब राजा राजनगरके राजपथसे होकर निकलता तो परदोंकी ओटमें कुमारियाँ तथा वयस्का स्त्रियाँ उसपर लाजा[3] या धानके लावे फेंकती थीं और इस प्रकार उसके लिए अपनी मंगल-कामनाएँ प्रकट करती थीं। इस बीच उसके राजवंशकी महिमाके गीत गाये जाते[4] और राज्य-चिह्नके रूपमें उसपर चामर डुलाये[5] जाते। राजागमन राजा-द्वारा उसकी प्रजाके हितके लिए किसी-न-किसी दयाके कार्यसे[6] चिह्नित होता। जब वह किसी स्थानका निरीक्षण करता तो उसके अधिकारी पूर्व ही उसकी देख-भाल[7] कर लेते। जब वह परोक्षके किसी व्यक्तिको कोई बात कहलवाता तो वह अंगरक्षकको प्रभावोत्पादक शब्दोंमें आदेश करता—'मेरे वचनोंके साथ (अमुकको) कहो।'[8] जिसका यह अभिप्राय होता कि राजाके वचन कभी व्यर्थ नहीं जाते और उनकी योग्यता-अयोग्यता के सम्बन्धमें कोई प्रश्न नहीं हो सकता। केवल अवसर विशेष[9] पर ही राजासे मिला जा सकता था।

साम्राज्यका शासक सर्वसत्तासम्पन्न सम्राट् था। 'एक राजछत्र' और एक राजाकी धारणा[10] थी। कविके अनुसार वह 'एक छत्रके नीचे

---

१ जयतु जयतु देवः शाकु०, पृ० १५६। २ रघु०, २.९। ३ आचार-लाजैः वही, २.१०, ४.२७। ४ यशः उद्गीयमानं वही, २.१२। ५ वही, १८.४३। ६ वही, २.१४। ७ प्रत्यवेक्षिता शाकु०, पृ० १९८। ८ मद्वचनात् वही, पृ० १५६। ९ अवसर्पणीयाः राजानः वही, पृ० १८५। १० रघु०, २.४७, ५.२३, ८.४; विक्र०, ३.१९।

सारे जगत्'[1] का शासन करता था। जो राजा इस आदर्शको कार्यरूप दे सकता था वह 'दिशाओंके अन्ततक रथ ले जाता था जिसका मार्ग कोई रोक नहीं सकता (**अप्रतिरथः**)।'[2] अपने कालके हिन्दु-जगत्के विजेता समुद्रगुप्तके एलाहाबाद स्तम्भ-लेखका[3] वाक्यांश '**अप्रतिरथः**' कालिदास के वाक्यांश '**अप्रतिरथः**'[4] में अपनी पुनरुक्ति और उनके उसी प्रकारके दूसरे वाक्यांशों '**दिगन्तविश्रान्तरथः**'[5], **आनाकरथवर्त्मनाम्**'[6] 'और **जयति वसुधामप्रतिरथः**'[7] में अपनी प्रतिध्वनि पाता है। इनमेंसे कईका समीकरण गुप्त राजाओंकी[8] मुद्राओंपर अंकित आख्यानोंसे भी किया जा सकता है।

एक सम्राट्के साम्राज्यकी सीमाओंका एक आदर्श वर्णन कालिदास करते हैं। वे प्राकृतिक सीमाओंका समर्थन करते हैं और ऐसे एक सम्राट् के महत्त्वोंका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें करते नहीं थकते जो शासक है एक राज्यका,'जो सागरों तक विस्तृत है।'[9] एक चक्रवर्ती अपने समस्त साम्राज्य पर एक नगरके समान शासन करता था,'जो समुद्रतक विस्तृत था और सारी पृथ्वीपर शासन करनेमें भी उसके अधिकारमें भाग लेनेवाली कोई विरोधी शक्ति नहीं थी।'[10] समुद्रगुप्तके एलाहाबाद स्तम्भ-लेख[11] और

---

१ रघु०, २.४७। २ वही, दिगन्तविश्रान्तरथः ३.४; शाकु०, ७.३३, पृ० २५८। ३ चन्द्रगुप्तका मथुरा शिलालेख २, कुमारगुप्तका बिलसर शिलास्तम्भ-लेख, स्कन्दगुप्तका बिहार शिला स्तम्भ-लेख, इत्यादि, मिलाकर अप्रतिवार्य्यवीर्य्यः समुद्रगुप्तका ईरान शिला-लेखसे श्लोक ४। ४ शाकु०,७.३३, पृ० २५८। ५ रघु०, २.४७। ७ वही, १.५। ८ शाकु० ७.३३। ९ शाकु०, २.१५, ३.१७, रघु०, १.१५, १६.१, १८.४, २३। १० "स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम्। अनन्यशासनामुर्वीं शशासैकपुरीमिव ॥" रघु०, १.३०। ११ चतुरुदधि-सलिलास्वादितयशसो; बिलसर शिला में भी, स्तम्भ-लेख। बिहार शिला-लेख २ अध्याय। भीतरी शिला स्तम्भ-लेख।

कुमारगुप्त तथा बन्धुवर्माके मन्दसर-शिला-लेखकी[1] एतादृश वाक्य-रचना के समानान्तर भी यह संकेत उपस्थित है। एक राजाका एक नगरके समान साम्राज्यका शासन करना, संघशासनकी धारणाके विरुद्ध, एक सम्पूर्ण राजतंत्रका भाव प्रकट करता है और इस विषयमें कविके ग्रन्थों-द्वारा दिये गये सामान्य प्रमाणोंका खण्डन करनेको तत्पर है।

इस सम्बन्धमें हम कुछ शब्दोंका विचार भी कर सकते हैं। वे हैं— अंक,[2] शासन[3], शासनांक,[4] नाम-मुद्रा[5] और घोषणा[6]। सामान्यत: अंकका अर्थ गोद, अंकवार, राज्य-मुद्राका चिह्न है। कालिदास-द्वारा उल्लिखित 'अंकागत सत्त्ववृत्ति'[7] प्रकारान्तरसे राजाका अपने राज्यमें राज्याधिकारका संकेत कर सकता है। उपर्युक्त कथनानुसार 'अंक' का अर्थ है, एक छाप, एक चिह्न। यह राज-मुद्रा था। रघुवंशमें एक स्थलपर पाठ है:—'अत्याचार किये विना उस भूमिपर शासन करते हुए जिसपर उसके राज्यादेशोंके चिह्न अंकित थे'[8] इत्यादि। समुद्रगुप्तके एलाहाबाद स्तम्भ-लेखमें गरुड़ाकृति उत्कीर्ण एक मुद्राके अर्थमें हमें उसी प्रकारका एक वाक्यांश' **गरुत्मदंक**' मिलता है। तदनसार यह कहा जा सकता है कि सम्राट्के आदेशोंपर, जिनमें साम्राज्यकी सत्ताके अधीनस्थ शासन करनेके नये अधिकारके आदेश भी शामिल थे, राज्यकार्यालयकी ओरसे राजमुद्रा, जो 'अंक' कहलाती थी, लगायी जाती थी। शासनका अर्थ है आज्ञा, अधिकारीका

राजसत्ता सम्बन्धी शब्द

---

१ चतुस्समुद्रान्तविलोलमेखलां सुमेरुकैलासबृहत्पयोधराम्।
वनान्तवान्तस्फुटपुष्पहासिनीं कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति ॥२३।
मिलाकर स्कन्दगुप्तका जूनागढ़ चट्टान-लेखका चतुरुदधिजलान्तां स्फीत-पर्यन्तदेशाम् भी, श्लोक ३। २ रघु०, २.३८। ३ वही, १७.७६; शाकु०, पृ० १८५–२२०। ४ रघु०, १८.२६। ५ शाकु०, पृ० २०५; माल०, पृ० ८७। ६ शाकु०, ६.२३। ७ रघु०, २.३८। ८ रघु०, १८.२६।

आदेश । 'विक्रमोर्वशीय' के एक मुख्य प्रकरणमें इस शब्दका उल्लेख है जिसमें सम्राट् कहता है, एकान्त राजछत्र तथा अधीनस्थ राजप्रधानोंकी मुकुट-मणियोंसे रंजित[1] अपने राजादेशोंसे चिह्नित परम राजसत्ताकी प्राप्तिमे वह अपनेको उतना धन्य नहीं मानता। इस उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा 'शासनों' या लेखबद्ध आज्ञाओं या शासनके आदेशों को निकाला करता था जिनकी राज्यभरमें घोषणा कर दी जाती थी। इस उद्धरणका समर्थन 'शाकुन्तल' का एक उद्धरण करता है जहाँ यथार्थतः एक घोषणा (**इति घुष्यताम्**) की गई है ।[2] एक सम्राट्के अधीन कई सामन्त—उक्त उद्धरणका 'सामन्तमौलि'—होते थे। सामन्त सम्राट् को अपने राज्यकी मर्यादाके अनुकूल कर देते थे और उसके बदलेमें उनको सम्राट्की ओरसे वैधानिक अधिकार-पत्र प्राप्त होते जिनके प्रति सम्मान प्रदर्शन करनेके लिए वे उन्हें अपने मुकुट धारण किये हुए सिरसे लगा लेते थे। उनके मुकुट-जटित रत्नोंकी किरणें उन अधिकार-पत्रोंपर पड़तीं और वे चमक उठते। साहित्य तथा लेखोंके अन्य संकेतोंसे इसका समर्थन हो सकता। उपर्युक्त कथनानुसार ये 'शासन' सामन्त राजाओंके लिए उनको अपने राज्योंपर शासन करनेके अधिकारकी राज्य-कार्यालयकी नयी स्वीकृतियाँ हो सकते हैं। विजयके कारण सामन्तशाही राज्योंके सारे स्वत्व उनके विजेता सम्राट्के हाथोंमें चले जाते थे, किन्तु क्योंकि उनके राज्य उनको फिर लौटा दिये जाते थे, इसलिए उनका राज्याधिकार सम्राट्के आदेश, इच्छा तथा प्रसन्नतासे प्राप्त होता माना जा सकता है। यह ध्यान देने योग्य है कि इस प्रकारकी प्रथा वस्तुतः साम्राज्यवादी गुप्तों की शासन-पद्धतिमें समाविष्ट थी।

शासनका वर्णन करता हुआ कौटिल्य कहता है—"(अध्यापक) कहते हैं कि (शब्द) 'शासन, आदेश, (केवल प्रयोगमें आता है) (शासन) राजाज्ञाओंके लिए आता है।'[3] कौटिल्यके समान शुक्रने भी 'शासन'

---

१ विक्र०, ३.१६ । २ शाकु०, ६.२३ । ३ अर्थशास्त्र, पुस्तक २, खण्ड० १० ।

का उल्लेख किया है । इस पक्षमें वह कहीं अधिक फलप्रद है और उसकी पुस्तक 'शुक्रनीति' राज्यादेशोंके 'शासन' के भेदोंकी एक लम्बी सूची बनाती है ।[१] उसके अनुसार एक 'शासनपत्र' था सर्वसाधारणके लिए सूचना और व्यवस्थाका पत्र वह है जिसपर राजाका हस्ताक्षर तिथिके साथ हो और जिसका आरम्भ इस प्रकार हो—"सभी सुनें, या सूचना दी जाती है कि, आदि, ऐसी-ऐसी बातें आपको अवश्य करनी हैं, इत्यादि ।"[२] वह दूसरे एक उपयोगी 'आज्ञापत्र' या आदेशक पत्रका उल्लेख करता है और उसका भाष्य करता कहता है कि 'यह वह पत्र है जिसके द्वारा करद राज्यों के प्रधानों, अधिकारियों या प्रदेशोंके शासकोंको कार्यव्यवस्था सौंपी जाती थी ।'[३] कालिदासके उल्लेखोंमें आये दो प्रकारके 'शासनों' का भेद हमें यहाँ स्पष्ट कर लेना है । वहाँ लिखित आदेशक साधारण 'शासन' था जिसका नीचे उल्लेख किया गया है और वे 'शासन' भी थे जो राजाके द्वारा उसके अधिकारियोंको सम्बोधित किये गये थे । ये अधिकारियोंके सम्बन्धित 'शासन' 'शुक्रनीति' के आज्ञापत्र थे । इसी प्रकारके एक 'शासन' का संकेत अभिज्ञानशाकुन्तलके[४] वाक्यांश' पत्रहस्तो राजशासनम्' में हुआ है । राजाज्ञाके लिखित होने पर शुक्रनीति अधिक बल देती है । वह व्यवस्था देती है, "राजाके लिखित आदेश पाये विना अधिकारी या कर्मचारी को कुछ भी करना नहीं है । राजाको भी केवल लेखबद्ध आज्ञा ही देनी चाहिए ।"[५] लेखबद्ध आदेशपर वह इससे भी अधिक बल देती है, "राजा, जो विना लिखे आदेश करता है और अधिकारी जो लेखबद्ध आदेशके विना कोई काम करता है, दोनों चोर हैं ।"[६] वह यह भी घोषणा करती है:—"राजमुद्रासे अंकित लिखित पत्र ही वास्तविक राजा है । 'राजा, राजा नहीं है ।"[७] अतएव 'शासन' या 'राजशासन'[८] लिखित राजादेश[९] था ।

---

१ खण्ड २ । २ वही, ६०७—६०८ । ३ वही, ६०३—६०४ । ४ पृ० १८६ । ५ खण्ड २, ५८२—८३ । ६ वही, ५८५—५८६ । ७ वही, ५८७ । ८ शाकु०, पृ० १८६ । ९ शासनार्पितास् आज्ञां रघु० १७.७९ ।

'शासन' पर कदापि कोई प्रश्न नहीं हो सकता था, क्योंकि वह राजसत्ताधिकारी राजाके द्वारा निकाला जाता था जिसके 'शासन'का कभी विरोध नहीं हो सकता था, किन्तु सदा सम्मानित होता था, जिसका उल्लेख कालिदासने 'महनीयशासनः'[1] द्वारा किया है। जैसा कि 'शासनहारिणः'[2] शब्दसे प्रकट होता है, ऐसे संवादवाहक भी थे भी इतस्ततः इन 'शासनों' का वहन करते थे। शासनांक, जैसा ऊपर कहा गया है, राजकीय मुहर था जो राजकीय घोषित आदेशोंपर लगाया जाता होगा।

पुनः, मुद्रा एक चिह्न और मुहर थी और 'नाममुद्रा' एक ऐसी मुहर थी जिसपर नाम खुदा होता था। 'घोषणा' शासनकी ओरसे जनसाधारण के लिए किसी आज्ञा या सूचनाको प्रकाशित करना था। हम 'शाकुन्तल' में पढ़ते हैं, दुष्यन्त एक घोषणाके प्रकाशनकी आज्ञा दे रहा है।[3] यह ध्यानमें लाया जा सकता है कि महान् बौद्ध शासक, अशोक चट्टान तथा स्तम्भ लेखों द्वारा अपने सम्पूर्ण साम्राज्यमें अपने आदेशोंको अपनी प्रजाके लिए घोषित कराते थे।

कालिदासकी रचनाओंसे राज्योंके अनेक नामोंका संग्रह किया जा सकता है जो 'अर्थशास्त्र' तथा 'कामन्दकीय नीतिशास्त्र' के सदृश राजनीतिक ग्रन्थोंमें राज्योंके प्रकारोंका संकेत करते हुए लाक्षणिक राजनीतिक शब्दोंके रूपमें वर्णित हैं। वे हैं:—'राज्य',[4] 'माहाराज्य', 'आधिराज्य',[5] 'द्वैराज्य',[6] 'साम्राज्य',[7] और 'सार्वभौम' या 'चक्रवर्ती'[8]— राज्य। किन्तु यह स्पष्ट है कि केवल द्वैराज्य शब्दको छोड़कर कालिदास उनका प्रयोग राज्योंके विभिन्न प्रकारके जैसा नहीं करते। वास्तवमें

राज्योंके प्रकार

१ वही, ३.६९। २ वही, ३.६८। ३ शाकु०, ६.२३। ४ रघु०, २.५०, ४.१, १४.८५, इत्यादि। ५ वही, १७.३०। ६ तत्र भवतोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमिदानीमवस्थापयितुकामोऽस्मि। माल०, पृ० १००। ७ रघु०, २.५, ४.५, ८८। ८ कुमा०, ७.५२, शाकु०, १.११, पृ० २१, १७६, २४२, २६१।

वे उलझा देते हैं, जो काव्य तथा छन्दोंकी आकस्मिक आवश्यकताओं और उनकी राजनीतिक विशेषताके कारण सम्भव है, और कभी-कभी इन शब्दोंमें से कईको, पर्यायों की तरह, एक ही प्रकारके राज्यका संकेत करनेके लिए, करते हैं। अतः इन वाक्यांशोंको लाक्षणिक अर्थोंमें प्रयुक्त स्वीकार करनेकी गुंजायश नहीं है। तथापि 'द्वैराज्य', 'साम्राज्य' और 'सार्वभौम' या 'चक्रवर्ती' राज्योंका उल्लेख किया जा सकता है।

'द्वैराज्य' ऐसा राज्य था जिसके दो भाग थे और प्रत्येक भागपर एक राजा शासन करता था। वास्तवमें इस प्रकारका राज्य दो भागों—दो आधे राज्यों (अर्द्धराज्य[1]) से बना होता था। अग्निमित्र-द्वारा स्थापित द्वैराज्य एक ऐसा राज्य था जो दो भ्राता-राजाओंमें विभक्त था और प्रत्यक्ष ही अधिक महत्त्वकी शक्ति के प्रभावमें[2] था। 'मालविकाग्नि-मित्र' तो बिल्कुल इसकी परिभाषा ही दे देता है : "अपने मध्य (समान भागोंमें) विभाजित राजपदके अधिकारी और एक-दूसरेके नियंत्रणमें रहनेके कारण किसी प्रकारके उपद्रव नहीं करनेवाले दोनों राजे आपके उसी प्रकार आज्ञानुवर्त्ती रहेंगे जिस प्रकार (समभागमें) विभाजित रथकी जोतके भारको वहन करनेवाले निरीह एवं एक-दूसरेपर नियंत्रण रखनेवाले दो अश्व सारथीके इच्छानुसार काम करते हैं।"[3] अतएव यह स्पष्ट है कि 'द्वैराज्य' कोई राज्य-विशेष नहीं था। वह किसी परम सत्ताके नियंत्रण तथा अधिकारके अधीन रहता था। यह ध्यान देने योग्य है कि 'अर्थशास्त्र' ने 'वैराज्य' के सम्बन्धमें 'द्वैराज्य' के संविधानपर विवेचन किया है। डा० जायसवालके विचार हैं—"वह (कौटिल्य) द्वैराज्य, 'दोके राज्य' को अन्तिम नाशकी ओर ले जानेवाला द्वेष तथा पारस्परिक द्रोहका संविधान कहता है।"[4] यह ध्यानमें रखने योग्य है कि 'आचारांग-सूत्र' भी इस संविधानकी ओर संकेत करता है और इसको गणतंत्रसे भिन्न

---

१ माल०, पृ० १०० । २ वही, । ३ माल०, ५.१४ ।
४ द्वैराज्यवैराज्ययोः द्वैराज्यमन्योन्य-पक्षद्वेषानुरागाभ्यां परस्परसंघर्षेण वा विनश्यति । अर्थशास्त्र पृ० ३२३ ।

बतलाता है । 'दोका राज्य' न तो राजतंत्र था और न उच्चवंशीय तंत्र । यह संविधान भारतीय इतिहासकी विशेषता है । हमारे साहित्य तथा लेखोंको इस संविधानके ऐतिहासिक उदाहरण ज्ञात हैं । हिन्दू-इतिहासके किसी कालमें अवन्ती इसी संविधानसे शासित थी क्योंकि 'महाभारत' में कथा आती है कि अवन्ती, विन्दा और अनुविन्दा एक साथ राज्य करनेवाले दो राजाओंके[1] अधीन थीं । ...ई० सं० की छठी तथा ७वीं सदियोंमें नेपाल इसी प्रकारके संविधानसे शासित था । काठमाण्डुमें[2] लिच्छवी वंश तथा थकुरी वंशके राजाओंके सम्मिलित उत्कीर्ण लेख पाये जाते हैं । एक ही राजधानीके दो स्थानोंसे निकाले गये ये आदेश हैं, और तिथियोंसे यह प्रकटित होता है कि दोनों राजवंश एक साथ ही शासन कर रहे थे । ...*परीक्षण किये बिना विचारनेपर इस प्रकारका संविधान कल्पनातीत* और अव्यवहार्य है । भारतवर्षमें इसकी क्रियाशीलता एक विचित्र संविधानिक परीक्षण तथा सफलताका निर्देश करती है । नेपालका संविधान प्रभूत कालतक चलता रहा ।"[3] तथापि यह स्मरण रखने योग्य है कि 'मालविकाग्निमित्र'का 'द्वैराज्य'-सम्मिलित शासन तथा दायित्वके प्रकारका संकेत करता नहीं प्रतीत होता । यह एक ऐसा दो भागोंमें खण्डित राज्य प्रतीत होता है जिसका प्रत्येक खण्ड एक राजाके शासनाधीन था ।

कवि-द्वारा उल्लिखित 'साम्राज्य' अपने शासकोंसे, जहाँतक उनके आन्तरिक शासनका सम्बन्ध था, स्वतंत्र रूपेण शासित अधीनस्थ राज्यों की संघगत इकाइयोंसे संघटित स्पष्ट ही एक विशाल राज्य था । तथापि

---

१ सभापर्व, अध्याय ३१, उद० पृ० १६५, इत्यादि । २ फ्लीट, गुप्त लेख....४ । ३ हिन्दु पोलिटी, भाग २, पृ० ९६–९७ । यहाँ यह संकेत किया जा सकता है कि डा० जायसवालके इस कथनका कि ऐसा संविधान भारतकी विशेषता रहा है और यह 'कल्पनातीत तथा अव्यावहारिक' है, सरलतासे प्रतिवाद किया जा सकता है, क्योंकि हम जानते हैं कि रोमके दो स्थानीय शासक थे जिनके अविभक्त समान अधिकार थे और शासन-कार्य शान्तिपूर्वक संचालित होता था ।

अपने-अपने राज्योंपर शासन करनेके अधिकार सामन्तोंको, सम्राट-द्वारा ही नये किये जाते थे।

राज-सभामें सामन्त-प्रधानोंके आचरणका उल्लेख किया जा चुका है। 'साम्राज्य'के समान ही 'सार्वभौम' या 'चक्रवर्ती' राज्य भी एक राज्य-प्रकार था जिसमें एक साम्राज्यतंत्रकी सत्ता लक्षित थी। किन्तु जिस राजसत्ताको कालिदास 'सार्वभौम' राज-तंत्रके नामसे वर्णन करते हैं वह, यथार्थमें, एक संघ है या कदाचित् संघीय व्यवस्थाके लाक्षणिक 'अधिराज्य'-प्रकार तथा एक राजाके अधीन संघटित साम्राज्यसत्ता, 'सार्वभौम'के मध्य एक मेल है। जबतक हम इस प्रकार निष्कर्ष नहीं निकालते, हमें एक उलझनपूर्ण वर्णनका सामना करना पड़ेगा जिससे हम किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सकते क्योंकि कवि एक राजछत्रकी[1] छायामें शासन-संचालन करते चक्रवर्ती सम्राटोंमें बहुसंख्यक राजाओंका उल्लेख करता है

सम्राट्[2] या चक्रवर्ती[3] अपने अधीन राजाओं तथा सामन्तोंसे[4] अनुसरण किया जाता महीयसी मर्यादाके साथ गमन करता था। मधु तथा प्रणत राजाओंके[5] पुष्प-मालसे झरे परागसे रघुके पादोंकी उँगलियाँ पीत हुई कही गयी हैं। कहौम-प्रस्तर-स्तम्भ-लेखमें इस चित्रणकी एक आकर्षक समानान्तरता दीख पड़ती है जिसमें कहा जाता है कि महान् गुप्त सम्राट्को उसकी राज-सभाके सामनेके प्रांगणमें[6] उसके शतशः सामन्त राजाओंके सिर झुकानेसे पवन वेगसे बहने लगता था। इसका

---

१ रघु०, ४.८७, ६.१३, १७.२८। २ वही, २.५, ४.५, ८८। ३ कुमा०, ७.५२; शाकु०, १.११, पृ० २१, १७६, २४२, २६१। ४ रघु०, ४.८७, ६.३३, ६.१३, १४, १३.६६, १७.२८; विक्र०, ३.१६। ५ प्रस्थानप्रणतिभिरंगुलीषु चक्रुर्मौलिस्रक्च्युतमकरन्दरेणुगौरम्।" रघु०, ४.८८। ६ "यस्योपस्थानभूमिर्नृ[illegible] गुप्तानां वंशजस्य प्रविसृतयशसस्तस्य सर्वो[illegible] क्षितिपशतपतेः स्कन्दगुप्तस्य शान्ते—५.१।

यह अर्थ है कि एक बहुत बड़ी संख्यामें राजे अपने सम्राट्के चरणोंमें, उससे मिलते या विदा[1] लेते समय, साष्टांगपात करते थे। स्वभावतः सम्राट् उन राजाओंकी राजसत्ता (श्री) को अपने साम्राज्यान्तर्गत कर लेता था जिनके राज्योंपर वह विजय प्राप्त करता, किन्तु फिर जिनको राज्यासनपर बैठा देता था। वह उनकी राज्यश्री ले लेता था, उनका राज्य नहीं।[2] सामन्त-गण अपने सिर झुकाकर, जिनपरसे राजछत्र पृथक् कर दिये गये होते थे[3], उसके आज्ञा-पत्रोंको स्वीकार करते थे। क्योंकि परमसत्ताधारी राजा एकछत्र सम्राट् (एकातपत्र[4]) था और उसक अपने साम्राज्यपर एकमात्र अधिकार था, दूसरा कोई भागीदार[5] नहीं था, इसलिए विधानतः वे राजछत्र[6] नहीं रख सकते थे। इस सर्वशक्तिमान् सम्राट्के प्रस्थान-कालमें ही अश्वोंके सेनामुखसे उठी हुई धूलिसे उन करद राजाओंके मुकुटखचित रत्नोंके किरण-जाल म्लान हो जाते थे, जो समुदाय में उसका अनुगमन[7] करते थे। वह मानो उस वृषभका ककुद (नृपति-ककुद)[8] था जिसके अंग थे, सामन्तगण और जो लाक्षणिक शब्दोंमें राजाओंसे बने वृत्तका केन्द्र कहा जाता था (**नाभिर्नृपमण्डलस्य**)[9] तथा ग्रन्थ-पाठका 'सामन्त-मौलि'[10] था। कालिदास-कालमें सम्राट्की राज-सभामें सामन्तोंकी उपस्थिति एक विशेषता थी, कारण, उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें इसका बहुधा[11] उल्लेख किया है। साम्राज्यवादी गुप्तोंकी राज-सभाओंकी भी यह एक विशेष उल्लेखनीय बात थी जैसा कि शिला-लेखोंसे, विशेषकर समुद्रगुप्तके एलाहाबाद स्तम्भ-लेख तथा स्कन्द-

१ प्रस्थानप्रणतिभिः—रघु०, ४.८८। २ श्रियं जहार न तु मेदिनीम् वही, ४.४३। ३ दूरापवर्जितच्छत्रैस्तस्याज्ञां शासनार्पिताम्—रघु०, १७.७९। ४ एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वम्—वही, २.४७, १८.४; विक्र०, ३.१९। ५ अनन्यशासनामुर्वीम् रघु०, १.३० जगदेकनाथः ६.२३। ६ वही, ४.८५, १७.७९। ७ वही, ६.३३। ८ वही, ७०, ३.७०। ९ वही, ९.१५, १८.२०। १० विक्र०, ३.१९। ११ रघु०, ४.८७, ६.३३, ९.१३, १४ १३.६६, १७.२८; विक्र०, ३.१९।

गुप्तके कहौम-प्रस्तर-स्तम्भ-लेखमें उदाहृत लेखोंसे स्पष्ट होता है। विजयों या यज्ञों-जैसे मुख्य अवसरोंपर ये सामन्त राज-सभामें उपस्थित होते थे या वे उत्तर-कालीन मुगल दरबारके राजाओंकी तरह सम्राट्की प्रसन्नता एवं राजकीय पदोंके लिए एक-दूसरेसे स्पर्धा करते हुए वहाँ स्थायी रूपसे रहते थे।[1] प्रभूततर प्रमाण उपस्थित करनेके उद्देश्यसे सामन्तोंका कुछ वर्णन यहाँ देना समयोचित होगा। निम्नलिखित, कविका दिया हुआ एक सार्वभौम सम्राट और सामन्तमण्डलके बीच उसकी उपस्थितिका वर्णन है:—

सामन्तगण सम्राट्के हाथों अपने उत्थान तथा पतन दोनोंका अनुभव करते थे, क्योंकि जो उसके आदेशोंका उल्लंघन नहीं करते उनके लिए उसका हृदय दयार्द्र, किन्तु उल्लंघकोंके लिए लौहके[2] सदृश कठोर था। शतशः सामन्त, उसके पद-नखोंके लोहित रागसे चमक उठनेवाली अपने मुकुटोंके हीरोंसे छिटकती किरणोंसे उसका चरण-स्पर्श करते थे।[3] अपने शत्रुओंकी उन पत्नियोंपर दया करके, जो केश-विन्याससे रहित थीं और जिन्होंने क्षमा-प्रार्थनाके चिह्न-स्वरूप[4] अपने मंत्रियोंसे उसके सामने अपने शिशु पुत्रोंके हाथ जोड़नेका निवेदन किया था, सम्राट् महासागरके तटोंसे राजधानीमें प्रत्यावृत्त हुआ। द्वादश राजाओंके मण्डलके प्रधान-पदपर प्रतिष्ठित होने पर भी वह सार्वभौम सम्राट् जिसका व्यक्तिगत प्रकाश अग्नि तथा चन्द्रमाके सदृश था और जिसके धवल राजछत्रके पार्श्वमें पृथ्वीपर कोई दूसरा (धवल) छत्र नहीं ऊँचा किया जा सकता था, यह विचारते हुए कि सार्वभौम नृपकी महानता अविजिततर[5] विजय प्राप्त करना है, सदा चौकन्ना रहता था।

सम्राट् सुवर्ण-वितानके नीचे आसीन होता और उसकी परिचर्यामें चामरधारिणियाँ और चारण खड़े होते और वणिक्-जन वाणिज्योद्योग-

१ सम्राजश्चरणयुगं प्रसादलभ्यं—रघु०, ४.८८। २ वही, ६.६। ३ वही, १०। ४ वही, १४। ५ वही, ६.१५।

द्वारा उसके साम्राज्यको धनसे परिपूर्ण करते ।[1] एक राजछत्रकी विद्यमानता और सामन्तोंके मुकुट-रत्नों (सामन्तमौलि-मणिरंजित)[2] से रंजित उसके आदेश-पत्रों (शासनांक) में वह अपनी सार्वभौम-सत्तामें देख पड़ता था। सामन्त (सीमान्त, शाब्दिक अर्थमें, सीमाका राजा कतिपय ग्रामोंका शासक एक साधारण मुखिया—'कतिपयग्रामपतिः') सम्राट्के अधीन शासन करता था। शुक्रनीति सामन्तकी परिभाषा लिखती कहती है कि 'सामन्त वह है, जिसके राज्यमें प्रजाजनको बिना सताये, एक लक्षसे तीन लक्ष 'कर्षों' की वार्षिक राजस्व-प्राप्ति नियमतः हो सकती है ।'[3] वह आगे कहती है कि राजकीय कर्मचारी भी 'सामन्तोंके समकक्ष'[4] नियुक्त किये जा सकते थे ।

सामन्त-राज्य साम्राज्यकी इकाइयाँ थे जो सामन्त-संघीय साम्राज्य हुआ प्रतीत होता है । यद्यपि कालिदास एक सम्राट्के अधीन एक साम्राज्य का उल्लेख करते हैं तथापि गणतंत्रीय राज्यके अस्तित्वपर स्पष्ट ही सन्देह किया जा सकता है । यथार्थमें ये इकाइयाँ अपनी आन्तरिक शासन-व्यवस्थामें स्वतंत्र थीं और सामन्त राजाओंको केवल सम्राट्की सत्ताको स्वीकार करना, उसको कर देना और समय-समयपर शासनाधिकारके पुराने अधिकारपत्रोंके स्थानमें नवीन अधिकार-पत्र प्राप्त करते रहना था। वे उसके अधिकारसे और उसकी प्रसन्नताके कालमें ही अपने राज्यों पर अधिकार रखते थे। वे अपने-अपने राज्योंके शासनाधिकारके

---

१ विद्युल्लेखाकनकरुचिरं श्रीवितानं ममाभ्रं
व्याधूयन्ते निचुलतरुभिर्मञ्जरीचामराणि ।
घर्मच्छेदात्पटुतरगिरो वन्दिनो नीलकण्ठा
धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुमन्तः ॥ विक्र०, ४.१३ ।

२ सामन्तमौलिमणिरंजितशासनांक-
मेकातपत्रमवनेर्न तथा प्रभुत्वम् । वही, ३.१९ ।

३ खण्ड, १.३६५–३६७ । ४ वही, ३७७–७८ ।

नये आदेश-पत्रके लिए सम्राट्के सामने उपस्थित होते थे। समुद्रगुप्तके इलाहाबाद स्तम्भ-लेखमें सुरक्षित ज्ञापक चित्रणसे यह बहुत स्पष्ट हो जाता है जिसमें उसके सामन्तोंको सम्राट्को प्रणाम करने, उसकी आज्ञा मानने[1] और अपने-अपने राज्योंपर शासनाधिकारके लिए गुप्त-सम्राट्की गरुड़ाकृति[2] मुद्राके साथ नये अधिकार-पत्र प्राप्त करनेके लिए उपस्थित होते कहा गया है।

सबपर विजय प्राप्त कर सम्राट् 'विश्वजित्'[3] यज्ञ करता था, जो सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ और केवल विश्वविजेता-द्वारा अनुष्ठेय था। यह एक प्रकारका यज्ञ था जिसमें यजमान अपनी सारी सम्पत्ति यज्ञ करानेवाले पुरोहितोंको दक्षिणा-स्वरूप दान कर देता था। सम्राट्के हाथ तथा पैरके तलवोंका ध्वजा, कुलिश और छत्रके चिह्नोंसे चिह्नित होना[4] माना जाता था।

दिग्विजय और अश्वमेध

एक महत्त्वाकांक्षी राजा सिंहासनपर बैठनेके पश्चात् शीघ्र ही दिग्विजय के[5] लिए प्रस्थान करता था जिसकी एकमात्र सफलताके बाद ही अश्वमेध या राजसूय यज्ञ किया जा सकता था और भारतीय राजाकी महत्त्वाकांक्षा पूरी हो सकती थी। दिग्विजयकी दो पद्धतियाँ थीं जिनमेंसे किसी एकका अनुसरण करता था—या तो राजा 'मालविकाग्निमित्र'[6] के पुष्यमित्र शुंगके सदृश अश्वमेधके लिए छोड़े गये अश्वकी रक्षाके लिए नियुक्त रक्षक, अपने विजयी युवराजके प्रत्यागमनकी राह घरपर रहकर ही देखता था

१ सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमन—रघु०, १७.७९; वि० ३.१९। २ आत्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदंकस्वविषयभुक्तिशासनयाचन—मिलाकर स्कन्दगुप्तके कहौम-शिला-स्तम्भ-लेखके प्रथम श्लोक भी। ३ रघु०, ४.८६, ५.१। ४ ते रेखाध्वजकुलिशातपत्रचिह्नं—वही, ४.८८, ६.१८। ५ दिग्जिगीषया वही, ४.२६। ६ पृ० ८८।

या रघुके समान स्वयं अपने सैन्यका संचालन करता और एक-के-बाद दूसरे प्रान्त तथा देशपर[1] विजयवैजयन्ती फहराता दिग्विजय करता था।

विजयके[2] लिए सबसे उपयुक्त काल था शरद् ऋतुका, जब वर्षा समाप्त हो जाती थी और निर्बल राजाओंका हृदय प्रतिक्षण विजय-यात्रा[3] की आशंकासे दोलित होता रहता था। शरद् विजेताके समक्ष युद्ध-संचालनके लिए विचित्र-विचित्र सुविधाएँ ला उपस्थित करता है और इस प्रकार उसको अभियान प्रारम्भ करनेको प्रोत्साहित करता है। शरद्में भारवाही पशु (विशेषतया वृषभ) पूरे उमंगमें होते हैं, इन दिनों मद चूनेके कारण सैन्य-गज युद्धके लिए सर्वथा उपयुक्त हो जाते हैं, नदियाँ हेलकर पार करने-योग्य हो जाती हैं और मार्ग शुष्क हो जानेसे विजेताकी सेना सरलतासे प्रयाण करती है।[4] इस विषयमें जिस प्रमाणका कालिदासने अनुगमन किया है वह कौटिल्यका प्रतीत होता है। अर्थशास्त्र शत्रु-विशेषके लिए विशिष्ट समयका निर्देश करता है। वह कहता है कि यदि विजेता अपने शत्रुकी शारदीय फसल तथा वासन्ती खलिहानोंको नष्ट करना चाहता है तो उसे चैत्र मास (मार्च) में आक्रमण करना चाहिए।[5]

विजय का समय

अपनी तथा शत्रुकी सैन्य-शक्ति, स्थितियाँ तथा समय आदिका ठीक अनुमान कर लेनेके बाद विजेता अपने शत्रुपर आक्रमण करे, यदि वह अपनेको उससे अधिक शक्तिशाली समझता हो; अन्यथा, वह चुप हो बैठे[6]। राजा यदि विजय पानेका निश्चय कर लेता तो सर्व प्रथम राजधानी (मूल) तथा सीमाके (प्रत्यन्त) दुर्गोंकी[7] रक्षा और उनको सेनासे सज्जित करनेका प्रबन्ध करता और राज्य छोड़नेसे पूर्व

अभियान

---

१ रघु०, ४। २ वही, २६। ३ वही, २१। ४ यात्रायै चोदया-मास तं शक्तेः प्रथमं शरत् वही, ४.२४, २२, २३। ५ पुस्तक ६। खण्ड १। ६ रघु०, १७.५६। ७ गुप्तमूलप्रत्यन्तः वही, ४.२६।

वह सभी छः प्रकारके बलों[1] से अपनेको आश्वस्त कर लेता था। राजधानी और सीमा-दुर्गोंकी सुरक्षाका प्रबन्ध करते समय राजा अपने पृष्ठ-देश[2] (शुद्धपार्ष्णि) की रक्षाकी भी उचित व्यवस्था करता था। यह स्मरण रखना चाहिए कि कालिदासका यह विचार अर्थशास्त्रके प्रमाणों-द्वारा पूर्णतया पुष्ट होता है। अर्थशास्त्र विजेताको सावधान करता कहता है कि अपने पीछे पड़े शत्रुओंसे अपने पृष्ठ-भागकी रक्षाका उपाय कर लेनेके उपरान्त उसे शत्रुपर आक्रमण करना चाहिए।[3] राजधानीकी महिलाएँ उसपर लाजाकी वर्षा कर जब उसको एक गौरवपूर्ण विदा दे देतीं[3] तो विजेता अपनी राजधानीसे प्रस्थान करता था। युद्धमें प्रस्थानके एक दिन पूर्व राजा उपवास करता तथा रथमें[4] शस्त्रास्त्रोंके साथ पड़ा रहता। अर्थशास्त्रमें कौटिल्यने भी विजेताको एतादृश आदेश किया है।

विजय-यात्रामें विजेता देशोंको अधीन[5] करता और विजय-स्तम्भ[6] स्थापित करता अग्रसर होता। वह जंगलोंको[7] साफ़ करता और नदियोंपर हाथियोंके[8] पुल बाँध देता। कालिदास युद्ध-यात्राका विस्तारसे वर्णन करते हैं जिसका उल्लेख असंगत नहीं होगा:—"अनेक सैन्य-दलोंमें विभक्त उस सेनाने विन्ध्य पर्वतकी उपत्यकाकी तराइयोंके मध्यसे मार्ग खोज निकालते समय गर्जनपरायणा रेवाके समान गुफा-द्वारोंको प्रतिध्वनियों से भर दिया। अभियानके शब्दोंके साथ तुरहीके शब्द मिल गये।[11] उसने प्रचण्डतासे[12] अवरोधकोंका मूलोत्पाटन किया, उनको बन्दी बनाया, मुक्त

---

१ षड्विधं बलं वही, मिलाकर अमरकोष: 'मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकं बलम्।' २ शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः रघु०, ४.२६। ३ रघु०, ४.२७। ४ वही, ५.२८। ५ रघु०, ४ ६। निचखान जयस्तम्भान् वही, ३६, कीर्तिस्तम्भ वही, १५.१०३। ७ विपिनानि प्रकाशानि चकार वही, ४.३१। ८ द्विरदसेतुभिः वही, ३८, गजसेतुबन्धात् वही, १६.३३। ९ वही, १६.३१–३२। १२ उत्खात वही, ४.३३। अनम्राणां समुद्धर्त्तुं ३५ उत्खाय तरसा ३६।

किया[1] और जिन राजाओंने उसको धर्मात्मा विजेता मानकर उसकी गुरुताके सम्मुख सिर झुकाये उनको उसने फिर राजसिंहासनपर बिठाया। भयभीत शत्रु धर्मात्मा तटस्थ राजाकी[2] शरणमें जा पड़े। उसके शत्रुओंके देशोंसे होकर जानेवाला उस विजेताका मार्ग सम्पूर्ण था और वह उनमें राजाओंपर आधिपत्य जमाता और जिन्होंने सामना करनेका साहस किया उनको निर्मूल करता चला जाता था।[3] इस प्रकार पराजित, सिंहासन-च्युत और पुनः राज्याधिकार-प्राप्त राजे विजेताकी महाप्राणतापर मुग्ध हो जाते और कृतज्ञतासे प्रेरित होकर उसके पास आते और उसके सम्मुख प्रणत हो अपनी भेंट[4] अर्पित करते थे। अभियानमें सेनाका शिविरोंमें पड़ाव होता, जहाँ क्रीड़ा तथा दूसरे मनोरंजनके साधन प्रस्तुत[5] होते। यह प्राचीन यूनानी सेनाके अभियान-सा लग सकता है। विजित या विजय करने योग्य रूपमें जिन देशोंका उल्लेख कालिदासने किया है, वे मुख्यतः ऐसे हैं जो सीमा-स्थित हैं और भारतके प्राकृतिक सरहदका निर्माण करते हैं।[6]

कालिदास एक धर्मविजयीकी[7] विजयोंकी उत्साहपूर्वक प्रशंसा करते

---

१ गृहीतप्रतिमुक्तस्य वही, ४४ उत्खातप्रतिरोपिताः ३७। २ वही; १३.७ धर्मोत्तरं मध्यममाश्रयन्ते। ३ वही, ४.३५। ४ उपायनपाणिषु वही, ४.७९, ८३। ५ तस्योपकार्यारचितोपचाराः. . .विहारकल्पाः वही, ५.४१ मिलाकर भी। सेनानिवेशान् वही, ७.२। ६ पूर्वी समुद्री किनारेपर स्थित देश, वही, ४.३२, ३४, बंगाल ३६, ३८, कलिङ्ग, ४०, मलयउपत्यका, ४६, पाण्ड, ४९, ताम्रपर्णी, ५०, मलयदर्दुर, ५१, अपरान्त, ५३, केरल, ५४, त्रिकूट, ५९, पारसीक, ६०, उत्तर, ६६, वंक्षु, ६७, हूणों ६८, कम्बोज, ६९, गौरीगुरुम, शैलम, ७१, किरात, ७६, , ७७ उत्सवसंकेत, ७८, लौहित्य, आटवीक ८१, प्राग्ज्योतिष, ८१, कामरूप, ८३।, ७ गृहीतप्रतिमुक्तस्य सधर्मविजयी नृपः रघु०, ४.४३।

है। वे धर्मविजेता ऐसे व्यक्ति थे जो केवल आज्ञानुवर्त्तितासे ही सन्तुष्ट हो जाते थे और पराजितका राजपद ले लेते, किन्तु उसका देश नहीं[1]। कौटिल्य-द्वारा उनके 'अर्थशास्त्र' में उल्लिखित तीन प्रकारके आक्रमकोंमें न्यायी या धर्मात्मा विजेताका संकेत 'धर्मविजयी' से कवि करता प्रतीत होता है; दूसरे दो हैं, राक्षस तथा लोभी विजेता।

विश्वविजयका दूसरा रास्ता था अश्वमेध यज्ञका करना। कालिदास-

अश्वमेध

ने इस यज्ञका बहुधा उल्लेख किया है। 'मालविकाग्निमित्र' का अश्वमेध-यज्ञ-वर्णन स्पष्ट है। यज्ञके निम्नलिखित आरम्भिक कर्मकांडों का उल्लेख डौसन[2] करता है।

"कुछ संस्कारोंके द्वारा एक विशिष्ट रंगके घोड़ेको पवित्र किया जाता था और फिर उसको एक वर्षपर्यन्त भ्रमणके लिए छोड़ दिया जाता। राजा या उसका प्रतिनिधि घोड़ेका अनुसरण सैन्यके साथ करता था और इस पशुके किसी अन्य देशमें प्रवेश करनेपर उस देशके राजाको युद्ध या अधीनता स्वीकार करना पड़ता था। यदि घोड़ेका रक्षक उन समस्त देशोंको, जिनसे होकर घोड़ा जाता था, अपने अधीन होनेकी स्वीकृति स्वेच्छासे या उनको अपने अधीन होनेको लाचार करके प्राप्त कर लेता तो वह विजय-वैजयन्ती फहराता लौटता और उसके साथ विजित राजाओं का समूह होता; किन्तु यदि वह अपने प्रयासमें विफल होता, तो वह अपमानित होता और उसके इस विश्वविजयकी खिल्लियाँ उड़ाई जातीं। उसके सफल प्रत्यागमनपर महोत्सव मनाया जाता जिसमें घोड़ेका बलिदान होता।"

नीचे उद्धृत पुष्यमित्रके पत्रके अंशसे यह पता चलता है कि किस प्रकार घोड़ेका अनुसरण दूसरे देशोंमें किया जाता था।

---

१ श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् वही। २ क्लासिकल डिक्सनरी : एस० वी० अश्वमेध।

"राजसूय (अश्व) यज्ञके लिए अभिषिक्त अश्व, जिसको मैंने निर्बाध घूमनेके लिए छोड़ा था, जिसके रक्षक-पदपर एक सौ राजकुमारोंके साथ वसुमित्र नियुक्त किया गया था, और जिसको एक वर्षके उपरान्त लौटना था, जब सिन्धुके दक्षिण किनारेपर जा रहा था तो उसको 'यवनों' के एक अश्व-सैन्य-दलने पकड़ लिया। दोनों सेनाओंके बीच भयानक युद्ध छिड़ गया। इसके उपरान्त बलशाली धनुर्धर वसुमित्रने शत्रुओंको पराजित कर उस सुन्दर अश्वको छुड़ाया जो बलपूर्वक उनके द्वारा हरण किया जा रहा था।

तब, मैं, अपने पौत्रके द्वारा अपने यज्ञ-अश्वको लौटा हुआ पाकर, अब सगरके समान, जिनके अश्वको 'अंशुमत्' लौटा लाया था, यज्ञका अनुष्ठान करूँगा। अतएव यज्ञ देखनेके लिए तुमको अविलम्ब मेरी पुत्र-वधूके साथ विगतक्रोध हो आना चाहिए।"[1]

कालिदासके ग्रन्थोंमें अश्वमेधके पुनः-पुनः[2] संकेतोंसे उनके समयमें इसके प्रचारकी सूचना मिल सकती है जो वास्तवमें ब्राह्मणधर्मके महत्त्व तथा पुनरुद्धारका प्रचार था। इस यज्ञका सम्पादन करके यज्ञकर्ता अन्य राजाओंपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेता था। यदि यज्ञका बेलगाम घोड़ा[3] घूमकर लौट आता तो जिन-जिन देशोंसे होकर वह घूमता उनकी सारी भूमि उसके रक्षकके हाथमें आ जाती और उन देशोंके राजे उसके सामन्त हो जाते।

यज्ञीय अश्वकी रक्षामें उसका अनुगमन करना कोई साधारण बात नहीं थी। इस प्रकार घूमनेवाले अश्वका रक्षा-भार बड़ा दायित्वपूर्ण था जो राज्यके बहुत बड़े उत्तरदायी अधिकारियों, सामान्यतया, राजकुलके लोगोंको सौंपा जाता था। यज्ञीय अश्वके रक्षक-पदपर नियुक्ति एक बड़ा सम्मान समझी जाती थी जो उस उत्साहसे सिद्ध हो सकता है जिसको

---

१ माल०, ५; पृ० १०२। २ रघु०, ३.३८, ३९, ६.६१, १५.५८; माल०, पृ० ८८, १०२। ३ निरर्गलस्तुरंगो माल०, पृ० १०२, तुरंगमुत्सृष्टमनर्गलं, ३.३९।

वसुमित्रके माता-पिताने अपने पुत्रके अश्वको घर लौटा लानेका संदेश सुनकर दिखलाया था ।[1] वसुमित्रकी माता, धारिणी अपने विचारपूर्ण तथा गौरव-युक्त शब्दोंमें उक्त सूचनाका स्वागत करती है : "मेरे पुत्रको सेनापतिने सचमुच एक दायित्वपूर्ण पदपर (अधिकारे खलु) नियुक्त किया है ।"[2] उस सुखद समाचारके पानेके फलस्वरूप अग्निमित्र अपने राज्यके सारे बन्दियोंकी मुक्तिकी[3] घोषणा करता है और हर्म्यकी रानियोंको वसुमित्रकी विजयकी सूचना देनेवाली प्रतिहारी उनके बहुमूल्य पुरस्कारोंसे लद[4] जाती है । राजाका ऐसा उत्साह था और ऐसी प्रतिष्ठा तथा महती आकांक्षावाली उपाधि थी, कारण अश्व-रक्षककी व्यक्तिगत शूरतापर ही मुख्यतः इस यज्ञकी प्रसिद्धि और महत्त्व निर्भर करते थे ! युवराज, जो अश्वकी रक्षा करता था, अपने साथ अपनी सेनाके अतिरिक्त अपने पिताके सामन्तों[5] और मंत्रियोंके[6] पुत्रोंको भी रखता था ।

यह कहा गया है कि यज्ञका इतना महत्त्व था कि स्वयं भगवान् ईश्वर प्रारम्भिक संस्कारसे यज्ञकर्त्ताके संस्कृत शरीरका अधिपतित्व करता था जिसकी वाणी संयत थी, जिसके हाथोंमें मृगचर्म तथा दण्ड थे, कुशकी मेखला धारण किये था, मृग-शृङ्गसे युक्त था जिसको उसने अनुपम आभा से आभासित किया था ।[7] कालिदास-द्वारा प्रतिपादित अश्वमेधकी प्रवृत्ति बिलकुल राजनीतिक थी । कमसे कम इस प्रकरणमें इससे किसी धार्मिक परिणाम या योग्यताके प्रतिफलित होनेकी आशा नहीं की जाती थी । पुष्यमित्रने इसको दिग्विजयका एक साधन बनाया था ।

---

१ माल०, पृ० १०२–४ । २ अधिकारे खलु मे पुत्रकः सेनापतिना नियुक्तः वही, पृ० १०४, एम० आर० कले-द्वारा सम्पादित । ३ मौद्गल्य, यज्ञसेनशालमूरीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः माल०, पृ० १०३ । ४ पुत्रविजयनिमित्तेन परितोषेणान्तःपुराणामाभरणानां मंजूषास्मि संवृत्ता वही, पृ० १०४ । ५ रघु०, ३, ३८; माल०, पृ० १०२ । ६ रघु०, ३.२८ । ७ वही, ९.१७ ।

यज्ञकी समाप्तिपर प्रसन्न-चित्त यज्ञकर्त्ता (अपने मंत्रियोंके प्रति मित्रवत् भाव रखनेवाला) यज्ञ देखने आये सामन्त क्षत्रिय राजाओंको अपनी राजधानियोंमें लौट जानेकी आज्ञा देता था जिनका पराजयका सन्ताप उसके प्रभूत सम्मानसे दूर हो गया होता और जिनके हर्म्योंकी रानियाँ चिरवियोगके कारण उत्कण्ठासे उनकी प्रतीक्षा करती होती थीं।[1]

सफल अश्वमेधके पश्चात् साम्राज्यके विस्तारकी सीमा नहीं रहती थी। ऐसे ही साम्राज्योंका संकेत कालिदास अलंकारिताके साथ 'एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं'[2] 'आसमुद्रक्षितीशानां,[3] वेलावप्रवलयं परिखीकृतसागर,[4] अनन्यशासनामुर्वीम्,[5] आनाकरथवर्त्मनाम्,[6] दिगन्तविश्रान्तरथाः,[7] जयति वसुधामप्रतिरथः'[8] आदि अर्थपूर्ण वाक्यांशोंमें करते हैं। उक्त संकेत अनेक अंशोंमें पारम्परिक हैं। पारम्परिक ऐतिहासिक इतिवृत्तका वर्णन करते हुए कालिदास राजनीतिकी पारम्परिक घटनाओंसे अपनेको निर्लेप रखनेमें समर्थ नहीं हुए हैं, समर्थ हो भी नहीं सकते थे, किन्तु जहाँ कहीं उनके वर्णनने समसामयिकताके भू-पृष्ठका स्पर्श किया है, जिसके लिए वह विवश था, उनके अपने युगको प्रतिबिम्बित करनेके लिए समानान्तरताएँ ला उपस्थित की गई हैं।

---

१ वही, ४.८७। २ वही, २.४७। ३ वही, १.५। ४ वही, ३०। ५ वही। ६ वही, १.५। ७ वही, ३.४। ८ वही शाकु०, ७.३३।

अध्याय ७

अमात्य, राज्यकार्यागार और अधिकारीवर्ग

शासन-संचालनमें राजाका मंत्रिमण्डल उसकी सहायता करता था, जिसका लाक्षणिक नाम अमात्य-परिषद्[1] या मंत्री-परिषद्[2] था। यह अमात्य-परिषद् वास्तवमें बहुत प्राचीन संस्था थी। ये वैदिक राजकृत् (राजा बनाने वाले) से विकसित की गयी थी जो पीछे रत्निन्के रूपमें प्रकट हुए।

अर्थशास्त्र अमात्य-परिषद्का विस्तारसे उल्लेख करता है और शुक्रनीति[3] भी मंत्रियों तथा उनके कार्योंके सम्बन्धमें लिखते हुए इस परिषद्का उल्लेख करती है। जातक[4] अमात्य-परिषद्को

अमात्यपरिषद्

परिशाके नामसे पुकारता है। महावस्तु,[5] तथा अशोकके स्तम्भ-लेख भी उसको वही नाम देते हैं। कवि अमात्य-परिषद्को प्राचीन राजवंशके साथ सम्बन्धित करता है किन्तु यह बात उसके अपने युगके लिए भी उतनी ही सत्य थी।

कालिदास मंत्रियोंकी प्रधानताका वर्णन करते हैं। सारा शासन-कार्य उन्हींके हाथों संचालित होता था। जब कभी वह अपने राज्यसे बाहर जाता राजा शासनका सारा दायित्व

राजा तथा मंत्री

मंत्रियोंपर[6] छोड़ जाता। एक स्थानमें[7] राजा अपने मंत्रीको इस प्रकार सूचित करता है; "तुम केवल अपनी बुद्धिको प्रजाकी रक्षा कुछ समय तक करने दो।"

---

१ माल०, पृ० १०० । २ वही, पृ० १०१ । ३ खण्ड, २.७१– ७२ । ४ भाग ६, पृ० ४०५, ४३१ । ५ भाग, २. पृ० ४१६, ४४२ । ६ तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे—रघु०, २.३४, सचिवालम्बितधुरं ६.६६, १९.४; शाकु० ६.३२; अमच्चेसु णिहिदकज्जधुरं विक्र०, पृ० ८७ । ७. त्वन्मतिः केवला तावत्परिपालयतु प्रजाः शाकु०, ६.३२ ।

कभी-कभी राजवंशका कोई विशिष्ट व्यक्ति राजाके अनिवार्य कार्योंका कुछ वर्षों तक सम्पादन करता और फिर उनको मंत्रियोंके हवाले कर अपना अधिकांश समय युवतियोंके साथ बिताता।[1] इस प्रकार जिन दो बलोंसे राज्यका शासन चलता वे थे, राजाका हाथ (धनुष और मंत्रीका मस्तिष्क। जब पहला किसी दूसरे स्थानमें लगा (व्यापृत) होता तो दूसरा अकेला (केवल) राजधानीमें शासन-सूत्र पकड़नेके लिए उपस्थित रहता।[2] कविने राजाको (सचिवसख:)[3] कहा है, जिसका भाव यह है कि राजा और उसके मंत्री सदा पूर्णरूपेण एक मतमें काम करते थे। वह प्रतिदिन अपने मंत्रियोंसे परामर्श करता और उनके साथ राज्य के मामलों[4] पर विचार-विनिमय भी, किन्तु उसका उनमें इतना गहरा विश्वास था कि उनके वार्तालापका भेद तनिक भी कहीं प्रकट नहीं होता।[5] हिन्दू-राजनीतिके सभी लेखकोंने राजाको सदा अपने मंत्रियोंके परामर्शसे काम करनेका आदेश किया है। मनु,[6] याज्ञवल्क्य,[7] कात्यायन, कौटिल्य[8] और शुक्र[9] सभी इस विचारके साथ सहमत हैं। डा० जायसवाल कहते हैं; "यह एक विशिष्ट बात है कि राजाको मताधिकार तक नहीं प्राप्त है।"[10] शुक्रनीति कहती है कि जब किसी व्यक्तिके लिए एक साधारण कार्य भी करना कठिन होता है तो राजाके लिए एक राज्यका अकेला शासन चलाना कितना गुरुतर है। इसलिए, यद्यपि वह सभी विज्ञानमें निपुण हो और राज्य-संचालनके सभी पहलुओंमें पारंगत हो, तो भी उसे अपने मंत्रियोंकी सम्मतिके बिना काम नहीं करना चाहिये और उसे परिषद्के सदस्यों, कार्यसंचालकों, प्रजावर्ग और सभामें उपस्थित लोगोंके विचार-पूर्वक निश्चित निर्णयोंके अनुसार अपना कार्यक्रम बनाना चाहिये और

१ रघु०, १९.४। २ शाकु०, ६.३२। ३ रघु०, ४.८७। ४ मंत्र: प्रतिदिनं बभूव सह मंत्रिभि: ; वही, १७.५०। ५ स जातु सेव्यमानोऽपि गुप्तद्वारो न सच्यते वही। ६ मनुस्मृति, ७.३०—३१। ७ वीरमित्रोदय, ० १४। ८ अर्थशास्त्र....। ९ शुक्र-नीति, खण्ड २. ५—६। १० हिन्दु पोलिटी, भाग २. पृ० ११८।

कभी भी इस विषयमें स्वेच्छाचारिताको नहीं आने देना चाहिये। अपनी इच्छाके अनुसार काम कर वह आपत्तिका कारण हो जायेगा और शीघ्र ही उसे अपना राज्य-भार छोड़ना पड़ेगा और उसकी प्रजा उसका शत्रु बन जायेगी।[1] आगे चलकर वही कहता है कि जो राजा अपनी भलाई और बुराईकी बातोंके सम्बन्धमें मंत्रियोंकी सम्मति पर ध्यान नहीं देता वह शासकके रूपमें डाकू और जनताके धनका शोषक है।[2]

मंत्रियोंकी नियुक्ति

राज्यके मंत्री अधिकांशमें जन्मसिद्ध[3] मंत्रियोंके परिवारसे नियुक्त किये जाते थे। तथापि निपुण राजनीतिज्ञोंकी योग्यताओंकी कभी अवज्ञा नहीं होती थी और राजाका गुणज्ञतापूर्ण चुनाव अक्सर उनके पक्षमें ही होता था। कालिदास इस बातका समर्थन करते हैं कि दक्ष राजनीतिज्ञ राज्यके मंत्री-पदपर नियुक्त किये[4] जाते थे। ये नियुक्तियाँ राजाके द्वारा होती थीं और हमें जूनागढ़के चट्टान-लेखमें एक प्रान्तीय शासक (गोप्ता)[5] की नियुक्तिको लेकर राजाको जो चिन्ता करनी पड़ी उसका उपयुक्त प्रदर्शन मिलता है। अर्थ-शास्त्रमें कौटिल्यने जिन हिन्दू-राजनीति सिद्धान्त-शास्त्रियोंका हवाला दिया है, उनमेंसे कुछके विचार यहाँ उपस्थित करना असंगत नहीं होगा। कौणपदन्त[6] ऐसे जन्म-सिद्ध मंत्रियोंकी नियुक्तिके पक्षमें है 'जिनके पिता और पितामह पूर्वमें मंत्री रह चुके थे।' वह आगे लिखता है कि "ऐसे व्यक्ति भूत घटनाओं से परिचित होने तथा राजाके साथ पुराना संबंध रखनेके कारण क्रुद्ध होनेपर भी उसका साथ नहीं छोड़ेंगे।" कौणपदन्तके इस कथनका विरोध करता वातव्याधि[7] कहता है कि ऐसे व्यक्ति राजापर अपना पूर्ण आधिपत्य कर लेते हैं और स्वयं राजाके सदृश आचरण करने लगते हैं। वह लिखता

---

१ शुक्रनीति, खण्ड २. १—८। २ वही, ५१५—१६। ३ मौलैः रघु०, १२.१२.१६.५७। ४ मंत्रिभिः नीतिविशारदैः वही, ८.१७। ५ श्लोक, ८—१२। ६ अर्थशास्त्र, भाग १ अध्याय ८। ७ वही, भाग १, अध्याय ८।

है, "इसलिए वह ऐसे नये व्यक्तियोंको ही मंत्री-पदपर नियुक्त करेगा जो राजनीति-शास्त्रमें विचक्षण है। ऐसे नये व्यक्ति ही राजाको यथार्थ दण्डधर समझेंगे और उसके विरुद्ध आचरण करनेका साहस नहीं कर सकेंगे।" किन्तु बाहुदन्ती-पुत्रका[1] भिन्न विचार है। वह कहता है, "एक ऐसा व्यक्ति जिसको केवल शास्त्रीय ज्ञान है और व्यावहारिक राजनीतिका जिसको अनुभव नहीं है, वास्तविक कार्य-क्षेत्रमें जानेपर भयानक भूलें कर सकता है।" वह इसका प्रतिपादन इन शब्दोंके साथ करता है: "अत: वह ऐसे व्यक्तिको मंत्री नियुक्त करेगा जो उच्च वंशमें उत्पन्न हुआ है और जिसमें ज्ञान, विचारकी पवित्रता, शूरता और राजभक्तिके भावकी प्रचुर मात्रा है, क्योंकि राज-मंत्रीकी नियुक्ति केवल योग्यतापर निर्भर करती है।" कौटिल्य भी इस विचारको स्वीकृति देता कहता है: "यह समग्र दृष्टिसे सन्तोषजनक है। कारण, किसी व्यक्तिकी योग्यताका पता उसकी कार्यमें प्रकटित दक्षतासे ही चलता है और कार्य करनेकी क्षमताके पार्थक्यके अनुसार।"[2] शुक्रनीति[3] बल देती है, "केवल कार्य, आचरण और योग्यताकी प्रतिष्ठा होती है—जाति और वंशमेंसे एककी भी नहीं। न तो जातिसे और न वंशके द्वारा प्रधानता प्राप्त की जा सकती है।" कालिदास एक मध्यम मार्गका अवलम्बन करते प्रतीत होते हैं। वे ऐसी मंत्री-सभाका समर्थन करेंगे जिसका निर्माण जन्म-सिद्ध मंत्रियों (मौला:)[4] और राजनीतिमें निपुण व्यक्तियों (नीतिविशारदः)[5] दोनोंको मिला कर हुआ हो। यह ध्यान देनेकी बात है कि साम्राज्यवादी गुप्तोंने जन्म-सिद्ध वंशोंसे मंत्रियोंके चुनाव करनेके विचारका पक्ष लिया जो चन्द्रगुप्त द्वितीयके एक शिला-लेखमें[6] आये 'अन्वयप्राप्तसाचिव्य' वाक्यांशसे प्रमाणित होता है।

---

१ वही। २ अर्थशास्त्र भाग १, अध्याय ८। ३ अध्याय २, १११–११२। ४ रघु०, १२.१२, १९.५७। ५ वही, ८.१७। ६ चन्द्रगुप्तका उदय-गिरि गुफा—लेख २.५।

हमें एकाधिक मंत्रियोंके होनेके अनेक उल्लेख मिलते हैं ।[1] अमात्य-परिषद्[2] और मंत्री-परिषद्[3] पदोंसे ही उनका होना आवश्यक हो जाता है । कवि एक स्थलपर कहता है, 'यह दूसरा'[4] (अयं अपरः); जो एकसे अधिक मंत्रियोंका बोध करानेके लिए है । राज्यके अनेक विभागाधिपतियोंके अतिरिक्त जिनके कार्योंका यथा-प्रसंग वर्णन किया जायगा, कालिदास कमसे कम तीन मंत्रियों, यानी प्रधान-मंत्री, वैदेशिक मंत्री तथा अर्थ-नियम-न्याय मंत्रीके कार्योंका संकेत करते हैं । ये मंत्री युवराज और सम्भवतः दूसरोंके साथ मिलकर, जिनका उल्लेख कविने नहीं किया है शायद अमात्य-परिषद्का संगठन करते थे ।

अमात्यवर्ग

राज्यके महत्त्वके मामले मंत्रिमण्डलके सभी मंत्रियोंकी उपस्थितिमें निर्णीत होते थे और उनका निर्णय प्रधान-मंत्री इन शब्दोंमें राजाको पहुँचाता था : "अमात्य निवेदन करता है । विदर्भके संबंधमें हमें क्या करना चाहिए, हमने निश्चय (अवधारितम्) किया है । देवका क्या विचार है, हम जानना चाहते हैं ।"[5]—यह एक प्रकारकी शैली हो सकती है । विज्ञापक मंत्रीके लिए एक वचनका प्रयोग स्पष्ट ही राज्यके प्रधान मंत्रीके लिए है, जिसके द्वारा मंत्रिमण्डल तथा राजाके बीच का सारा विचार-विनिमय हुआ दीख पड़ता है; किन्तु ऐसा प्रतीत होता है

मंत्रिमंडलका कार्य

---

१ सचिवेषु रघु०, १.३४,—४९, मौलैः १०.१२, मंत्रिभिः ८.१७, मंत्रिवृद्धान् १२.७१, वृद्धैरमात्यैः १३.६६, अमात्यवर्गः १८.३६, अमात्यैः वही, ५३, १९, ४, ७, ५२, ५४, ५७; विक्र०, पृ० ८७ । २ माल०, पृ० १०० विक्र०, ५ । ३ माल०, पृ० १०१ । ४ वही, १ । ५ अमात्यो विज्ञापयति । विदर्भगतमनुष्ठेयमवधारितमस्माभिः । देवस्य तावदभिप्रेतं श्रोतुमिच्छामीति । माल०, ५, पृ० १०३, एम० आर० काले-द्वारा सम्पादित ।

कि राज्यकी नीति पूरे मंत्रिमण्डलसे निश्चित होती थी। मंत्रिमण्डल जिन निर्णयोंपर पहुँचता था वे राजाकी स्वीकृतिके लिए उसके पास भेज दिये जाते थे। यह उपर्युक्त प्रसंगमे स्पष्ट है कि जब मंत्रि-मण्डलने एक कार्य-पद्धतिका निश्चय कर लिया तो राजाकी सम्मति माँगी गई (विदर्भगत-मनुष्ठेयमवधारितमस्माभिः अर्थात् विदर्भके सम्बन्धमें जो करना चाहिए, हमने निश्चित कर लिया है।) यह स्मरण रखा जा सकता है कि राज्यकी सम्मति एक मंत्रीने माँगी है जैसा एकवचनके प्रयोगसे मालूम होता है—अमात्यो विज्ञापयति—किन्तु कार्यका निर्णय पूरे मंत्रिमण्डलने किया है, जो अपना व्यक्तिगत विचार दे चुके हैं। शुक्रनीति[1] इसपर बल देती है कि व्यक्तिगत रूपसे प्रत्येक मंत्री और राजा बिना एक दूसरेके विचारोंके जाने अपने विचार अलग-अलग प्रकट करें जिससे इस प्रकार प्राप्त विचारों पर कोई प्रभाव न पड़ने पावे और एक स्वतंत्र सम्मेलन संभव हो सके।

मनु राजाको पहले मंत्रियोंकी अलग-अलग सम्मति प्राप्त करने और पुनः सबकी सम्मिलित, यानी परिषद्की[2] राय लेनेका आदेश करता है। अर्थशास्त्र[3] इस विचारसे पूर्णरूपेण सहमत है। यह ध्यान देने योग्य है कि मालविकाग्निमित्रमें मंत्री विदर्भके संबंधमें निश्चित हुए कार्यक्रमके विवरणका प्रकाशन राजाके सामने नहीं करता, प्रत्युत वह केवल उस विषय पर उसका विचार जानना चाहता है क्योंकि अमात्य-परिषद्को, जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, उसकी अपेक्षा है। अमात्योंके निर्णयपर राजा का विचार जाननेका यह अनुरोध नहीं कहा जा सकता क्योंकि उससे वह

---

१ अध्याय १, ७३२-७३३। वह कहती है : "राजा प्रत्येकके लिखित अलग-अलग विचारोंको उनकी दलीलोंके साथ लेकर अपने विचार के साथ उनकी तुलना करे और फिर उसीको कार्यमें परिणत करे जो बहुमत को मान्य हो।" २. तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्। समस्तानां च कार्येषु विदध्याद्धितमात्मनः ॥ ७.५७। ३. तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च। पृ० ८।

बिल्कुल अनभिज्ञ है। उससे वे केवल उसका 'अभिप्रेत' ज्ञात करना चाहते हैं। विवक्षित विषयपर जब वह अपना मत प्रकाशित कर देता है तब विदूषक अमात्य-परिषद्को (प्रधान-मंत्रीके द्वारा) राजाका विचार बतलाने जाता है जो संयोगवश अमात्य-परिषद्के किये गये निर्णयसे बिल्कुल मिल[1] जाता है। यह बात स्पष्ट हो जाती है जब हम विदूषकको यह कहते पढ़ते हैं कि "महाराज, प्रधान मंत्री यह निवेदन करते हैं कि 'आपकी बुद्धि कल्याणकारिणी है; ठीक यही निर्णय (दर्शनम्) अमात्योंका भी है।' 'दर्शनम्' पदका प्रयोग विचारणीय है। इसका अर्थ है, एक ऐसा विधेयक जिस पर किसी सभाने विचार किया है और जो उसके द्वारा निश्चित हो चुका है। उपर्युक्त विचार-विमर्श निस्सन्देह यह बतलाता है कि मंत्रिपरिषद् राजाकी रायको अपनी स्वीकृति प्रदान करती थी और इस प्रकार उसकी स्वेच्छाचारितापर अपना नियंत्रण रखती थी। इस विषयपर शुक्रनीतिके लेखकसे कहीं अधिक सचेत कालिदास हैं, क्योंकि वे राजाको तब तक मंत्रियोंके निर्णयसे अपरिचित रखते हैं जबतक वह अपना विचार प्रकट नहीं कर देता जब कि शुक्रनीति मंत्रियोंसे अपने व्यक्तिगत विचार उसके निकट प्रकट कराती[3] है। मालविकाग्निमित्रसे लिये गये उदाहरणसे मंत्रि-मण्डलके कार्य पर्याप्त मात्रामें प्रदर्शित हुए हैं। शुक्रनीतिके प्रमाण-द्वारा इस विषयपर और प्रकाश डालना यहाँ असंगत नहीं होगा। उसमें भी इसी प्रकारके कार्य-क्रमका वर्णन है। वह कहती है कि एक ऐसे लेख-पत्रपर जो कार्यरूप देनेके लिए भेजा जा रहा है मंत्री, प्रधान न्यायाधीश, विद्वान् मंत्रीसचिव और राजदूतको क्रमशः इस प्रकार लिखना चाहिए, 'यह लेख-पत्र मेरी सहमतिसे लिखा गया है।' अमात्यको लिखना चाहिए कि 'यह अच्छी प्रकार लिखा गया है' और तब सुमंत्रको लिखना

---

१. माल०, पृ० २०३, एम० आर० काले-द्वारा सम्पादित। २. देव, अमात्यो विज्ञापयति। कल्याणी देवस्य बुद्धिः। मंत्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्। वही। ३ अध्याय १, ३३२-३३३।

चाहिए 'सुविचारित'। प्रधानको लिखना चाहिए 'सत्य'। प्रतिनिधिको लिखना है 'यह अब स्वीकृत किया जा सकता है।' युवराजको लिखना चाहिए 'यह अंगीकार किया जाना चाहिए।' पुरोहितको लिखना है, 'स्वीकृत'। अपने लिखनेके बाद उन्हें अपनी-अपनी मुद्रा अंकित कर देनी चाहिए। राजा लिखेगा, अंगीकृत[1] और अपना हस्ताक्षर कर देगा। उपर्युक्त विवेचनके अनुसार कविके दिये गये मंत्रियोंके कार्य-विवरण निस्सन्देह किसी हद तक प्रथा-निर्वाहिक थे, किन्तु जो विवरण वे कभी-कभी देते हैं, वे किसी प्रकार पारम्परिक नहीं है और साधारणतः उनके समयके कूटनीतिके कार्योंको प्रतिबिम्बित कर सकते हैं।

राजाकी अनुपस्थितिमें शासन-सूत्र सँभालने तथा उसकी उपस्थितिमें राज्यके आवश्यक कार्योंकी सम्पादन-पद्धति निश्चित करनेके अतिरिक्त मंत्रि-परिषद् कुछ विशिष्ट पारम्परिक *कार्योंको भी करती थी।*

मंत्रिमण्डलके बहुविध कर्त्तव्य

राज्याभिषेकके अवसरपर यह मंत्रि-परिषद् ही थी जो सिंहासन त्याग करनेवाले शासककी आज्ञाके अनुसार भावी राजाके अभिषेकका आयोजन करती थी।[2] मंत्री ही नये नृपतिको राज्य-लिंगसे[3] विभूषित करते और उसको पूर्ण राज्यसत्ता अर्पित करते थे। ये मंत्री ही थे जिन्होंने रामके वन जानेके बाद महाराज दशरथकी मृत्युके कारण कोसलका राज्य-सिंहासन रिक्त और प्रजाके राजा-विहीन[4] होनेपर भरतको बुलाकर राज्य-शक्ति उनके हाथोंमें दी थी। कोई उत्तराधिकारी न रहनेकी अवस्थामें मंत्रियोंकी सहायतासे गर्भवती रानी राज्याधिकार पाती थी, जो तुरंत ही प्रजावर्गमेंसे मुख्य नागरिकों (**प्रकृतिमुख्याः**) की एक सभा बुलाते थे।[5] किसी राजाके राज्याभिषेकके अवसरपर प्रजाका प्रतिनिधित्व जनताके मुख्य पुरुषों-

१ अध्याय २, ७३१–७४०। २ विक्र०, पृ० १३६. रघु०, ८. १–४। ३ रघु०, १७.२७। ४ वही, १२.१२। ५ वही, १९.५५

द्वारा होता था ।[1] यह एक विशिष्ट बात है कि इस सम्बन्धमें कालिदास 'पौरों तथा जानपदोंका उल्लेख करते हैं जिनको डा० के० पी० जायसवाल ने 'हिन्दू पोलिटी'[2] के एतत्सम्बन्धी अध्यायोंमें बड़ी योग्यतासे विवेचित किया है। उनको उन्होंने राजनीतिक संस्थाएँ माना है, जो क्रमशः नगर और ग्रामोंकी जनताका प्रतिनिधित्व करती थीं।

प्रत्येक राज्यारोहणपर पौरों तथा जानपदोंके प्रतिनिधियोंकी उपस्थिति का उल्लेख कालिदास नहीं करते क्योंकि वे प्रत्येक राजाके राज्याभिषेक का वर्णन नहीं देते; फिर भी जहाँ कही राज्याभिषेकका वर्णन उनके द्वारा होता है, अधिकतर वे पौरों तथा प्रकृतिमुख्योंका संकेत करते हैं। इसके सिवा उन्हें काव्य एवं छन्दगत संस्थानोंपर भी ध्यान रखना पड़ता है। राज्याभिषेकके समय उपस्थित रहनेके लिए प्रकृतिमुख्योंको बुलानेकी बातसे यह लक्षित हो सकता है कि राजाको राज्य-सिंहासनपर आसीन करनेमें उनका भी वैधानिक हाथ होता था और राजाकी स्वेच्छा-चारितापर अंकुश रखनेमे अमात्य-परिषद्के साथ उनका भी बल स्पष्ट था। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रजाके प्रतिनिधियों तथा अमात्योंकी सहमतिसे गर्भवती रानीका अभिषेक किया जाता था और अभिषिक्ता होनेपर ही वह सुवर्ण-सिंहासनपर बैठ और राज्यका शासन चला सकती थी और 'उसकी आज्ञा निर्विरोध मान्य थी।'[3] दूसरे प्रसंगका भी उसी ओर निर्देश है: "उस दिवंगत राजाके मंत्रिमण्डलने राजाहीन प्रजाकी दुर्दशा देखी और उन्होंने नियमानुसार[4] उस व्यक्तिको राज्यासनपर बिठलाया जो राजवंशका एकमात्र तन्तु बच रहा था।"

१ वही, १२.३, १९.५५, २.७४, १५.१०२, १६.९, ३७।
२ २७ और २८ मिलाकर रघु०, १२.३, १९.५५, २.७५, १५.१०२, १६.९, १६.३७।

३ "मौलैः सार्धं स्थविरसचिवैर्हेमसिंहासनस्था
राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्तुरव्याहताज्ञा" रघु०, १९.५७।

४ वही, १८.३६।

कालिदासके वर्णनमें आता है, जब कोई राजा मर जाता था तो संक्रान्ति-कालमें, जब अधिकार युवराजके[1] हाथोंमें स्थानान्तरित होनेवाला होता, मंत्रियोंका कर्त्तव्य इस बातपर दृष्टि रखना था कि कहीं अराजकता और अव्यवस्थासे राज्यका अहित न होने पावे। राज्यकी रक्षाका प्रबन्ध मंत्रियोंपर[2] सौंपकर जब कोई विषयी राजा अपनी वासनाओंकी तृप्तिके लिए राज्य-कार्यसे अवकाश ग्रहण करता और अपनेमें प्रजाका विश्वास खो देता था तो अराजकताका भय बलवान् हो उठता था; और यह अवस्था विशेषकर तब उपस्थित होती थी जब इस प्रकारके राजाकी मृत्यु हो जाती थी और उसके बाद उसकी गर्भवती रानीके सिवा उसका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था। तब, जैसा कि अग्निवर्णके साथ देखा जाता है, मंत्रियोंने राज-पुरोहितके साथ राज-प्रासादकी पुष्पवाटिकामें उसका गुप्त रूपसे दाह-संस्कार कर दिया और यह प्रकाशित कर जन-साधारणकी आँखोंमें उसे नहीं आने दिया कि रोगके[3] दोषको दूर करनेका अनुष्ठान किया गया है। अर्थशास्त्र इसको समर्थन करता हुआ कहता है : "मंत्री इस प्रकार राजा पर आनेवाली आपत्तिको दूर करेगा; राजा की मृत्युकी आशंका होनेके बहुत पूर्व वह अपने मित्रों तथा अनुचरोंके साथ राय करके राजासे मिलनेवालोंको यह कहकर कि राजा देशपर आनेवाली विपत्तियोंको दूर करने या शत्रु-नाशके लिए या दीर्घजीवनकी प्राप्तिके अर्थ या पुत्रकी उत्पत्तिके[4] लिए यज्ञ-याग करनेमें लगे हैं, एक अथवा दो मासमें उनको राजासे मिलने देगा (दूसरे अवसरोंपर उन्हें मिलनेका प्रसंग नहीं आने देगा, या "धीरे-धीरे शासनका भार युवराजके कन्धों पर रखकर मंत्री राजाकी मृत्युकी घोषणा प्रजाको[5] कर सकता है।"

अमात्य-परिषद्की बैठकोंके अध्यक्षका स्थान राजा नहीं ग्रहण करता था और वहाँकी कार्यवाहियाँ उसके द्वारा निर्देशित और नियंत्रित नहीं होती थीं। यह प्रधान मन्त्रीके उसको भेजे हुए संदेशसे स्पष्ट होता है

---

१ वही, १६.५२, ५४। २ वही, ४। ३ वही, १६.५४। ४ भाग, ५, अध्याय ६। ५ वही।

जैसा हमने ऊपर विवेचना की है जिसका उल्लेख मालविकाग्निमित्रमें हुआ है। इस सम्बन्धमें हिन्दू राजनीतिके अनेकों लेखकोंने कालिदास का हवाला दिया है। शुक्रनीतिके अनुसार परिषद्‌का अपना प्रधान[१] होता था। अर्थशास्त्र बिलकुल स्पष्ट नहीं है यद्यपि भाग १, अध्याय १५ से यह अर्थ निकलता है कि राजा परिषद्‌की बैठकोंमें उपस्थित होता था। मुद्रा और शिला-लेख कालिदासकी सहायता करते हैं। अशोक अपने एक चट्टान-आदेश-लेखमें[२] कहता है कि यदि मंत्रि-परिषद् (परिषद्) वाद-विवादके बाद उसके किसी भी आदेशको ताक़पर रख देता है तो उसकी सूचना उसे तुरंत मिलनी चाहिए। परिषद्‌में उसके लिए स्थान नहीं रहने पर ही वह ऐसा लिख सकता था।

उपरिलिखित विवेचनासे यह प्रत्यक्षत: स्पष्ट हो जायेगा कि मंत्री और प्रजाके प्रतिनिधि प्रजातंत्रीय तत्त्व थे और अपने राजाके स्वेच्छाचरण पर एक बड़ी रोक प्रमाणित होते थे। किन्तु यहाँ हमें कालिदास-द्वारा वर्णित स्थितिको स्वीकृत करनेमें सावधान रहना चाहिए, क्योंकि जो प्रभाव उपस्थित किये गये हैं वे पारम्परिक और अव्यावहारिक प्रकारके हैं और हमें यह मान्य नहीं हो सकता कि शक्तिशाली गुप्त शासन-कालमें मंत्रियों-द्वारा ऐसा नियंत्रण वास्तवमें सम्भव हो सकता था। इस बातके प्रमाणमें अग्निवर्णका उदाहरण दिया जा सकता है। हमें ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि यदि संयोगवश वे सहमत नहीं होते और एक सम्भव कार्यविरोध आ खड़ा होता तो राजा अथवा मंत्री किस मार्गका अनुसरण करते। शुक्रनीति हमारी सहायताके लिए आती है और कहती है कि राजा ऐसी अवस्थामें अक्षम था।[३] वह मंत्रियोंमेंसे एक प्रतिनिधि-संज्ञा-धारी मंत्रीसे परिषद्‌का संगठन करवाता है, 'और राजासे वह ऐसे कार्य कराता है जो अनिवार्य हैं चाहे वे अनुकूल हों अथवा प्रतिकूल।'[४] वह राजाका प्रतिनिधि नहीं होता और प्रो० विनयकुमार सरकारका

१ अध्याय २. १५०—१५५। २ आई० ए०, १९१३, पृ० २४२। ३ हिन्दू पोलिटी, भाग २, पृ० १३९। २ शुक्रनीति, खण्ड, २.१६८।

प्रतिनिधिका अंग्रेजी पर्याय 'वायसराय'[1] लिखना लक्ष्यान्तर हो जाता है।" "यदि राजा मंत्रियोंके संयमनसे भय खाता है तभी ही वे भले कहे जा सकते हैं।"[2]

मंत्रीका पद बहुत ऊँचा था जिसका योग्य सम्मान राजा करता था। जब अग्निमित्र अपने मंत्रीको विदर्भ-राज्यपर आक्रमण करनेके लिए वीरसेनको सूचित करनेका आदेश देता है, वह मंत्रीके लिए 'भवान्'[3] सर्वनाम का प्रयोग करता है जिससे एक विशिष्ट सम्मानका बोध होता है। यह वही सम्बोधन-शब्द है जिसका प्रयोग विदर्भ-राजने अग्निमित्रको[4] लिखते हुए अपने पत्रमें किया था।

मंत्रियों के पद और उपाधि

शाकुन्तलमें[5] राजा अपने मंत्रीके प्रति आर्य-जैसे सम्मानार्थी पदका प्रयोग करता है। परन्तु अग्निवर्ण यहाँ भी एक अपवाद ही है। विदर्भराज की मूर्खता और उद्दण्डतासे अतीव क्रुद्ध होकर जब अग्निमित्र उसके सर्वनाश के लिए वीरसेनके अधीन सैन्य-दलको आदेश भेजनेकी आज्ञा मंत्रीको देता है, वह सहसा रुककर मंत्रीसे पूछता है कि कहीं उसके विचार उससे भिन्न तो नहीं हैं। सुतरां, मंत्रीका कोई भिन्न विचार नहीं होता। वह तंत्रकारके वचनसे प्रमाण उपस्थित करता हुआ कहता है[6] कि जिस शत्रुने अभी थोड़े दिन पहले किसी राज्य पर अधिकार किया है अपनी प्रजाके हृदयोंमें स्थान न करनेके कारण वह उसी प्रकार सहजमें ही निर्मूल किया जा सकता है जिस प्रकार हालका लगाया हुआ होनेके कारण निर्बल पेड़।[7] इस प्रकार शासन-कार्यमें बहुत आवश्यक भागका उपभोग करनेवाले और पर्याप्त अधिकार तथा शक्तिको प्रयोगमें बरतने वाले मंत्रिगणके साथ राजा विशिष्ट सम्मानका व्यवहार करता था।

---

१ वही, १५०—१५५ अनुवाद। २ वही, १६३। ३ अथवा किं भवान्मन्यते, माल०, पृ० ११। ४ माल०, पृ० ११। ५ शाकु०, पृ० १६८। ६ शास्त्रदृष्टमाह देवः वही, तन्त्रकारवचनम्, वही। ७ वही, १.७।

कालिदास मंत्री, अमात्य और सचिव शब्दोंको पर्याय-वाचकके रूपमें और सामान्य अर्थमें[1] प्रयोग करते हैं। मनु[2] प्रधान मंत्रीको अमात्य कहता है, जबकि अर्थशास्त्र[3] तथा शुक्रनीति उसे मंत्री ही कहते हैं। कालिदास इस प्रकारका कोई भेद नहीं करते।

मंत्रि-परिषद् के सदस्य

अब हम मंत्रि-परिषद्के सम्भव सदस्योंके सम्बन्धमें विचार करेंगे यद्यपि इस विषयके उपलब्ध प्रमाण नगण्य-से हैं। हम देख चुके हैं कि युवराज एक पदाधिकारी और राज्यका संचालक था जिसने मानो अपने पिताकी राज्य-सत्ताको उसके और अपने बीच विभक्त[4] कर रखा था। कौटिल्य उसको मंत्रि-परिषद्के सदस्योंमें रखता है और प्रधान मंत्रीके बाद उसको चतुर्थ स्थान देता है।[5] कालिदास मंत्रि-परिषद्के सदस्योंकी संख्या नहीं लिखते, किन्तु वे उन अधिकारियोंके नामोंका उल्लेख करते हैं जो हिन्दू राजनीतिके तंत्र-ग्रन्थोंमें मंत्रि-परिषद्के सदस्यके रूपमें वर्णित हैं। अतएव हम इन विशेष अधिकारियोंको उन अधिकारियोंके समकक्ष रखनेकी चेष्टा करेंगे।

प्रधान मंत्री

विदर्भके मामलेमें 'मालविकाग्निमित्र'में[6] जिस मंत्रीने मंत्रि-परिषद्के निश्चयको राजाके पास पहुँचाया था और राजाकी राय गुप्त रखनेका भार जिसको दिया गया था, अवश्य ही विशेषाधिकार-प्राप्त मंत्री होगा, जो मंत्रि-परिषद् और राजाके विश्वासका पात्र था। यही वह व्यक्ति था जिसको सबसे पहले परिषद् तथा राजाके विचारोंकी एकता अथवा भिन्नताका ज्ञान प्राप्त होता था, अतएव वह राज्यके प्रधान मंत्री

---

१ मिलाकर, रघु०, १.३४, ८.१७, ९.४९, १२.१२, १३.६६, ७१, १८.३६, ५३, १९.४, ७.५२, ५४.५७; विक्र०, पृ० ८७, इत्यादि। २ मनुस्मृति, ७.६५। ३ खण्ड ११.१६८—७३। ४ विभक्ता विक्र०, ५.२२। ५ अर्थशास्त्र..। ६ एम० आर० काले द्वारा सम्पादित, ृ० १०३।

के समान ही कोई व्यक्ति था। 'अर्थशास्त्र' केवल उसको मंत्रीके नामसे पुकारता है और उसके विचारमें वह मंत्रियोंमें सर्व-श्रेष्ठ[1] है। मनु इस पदपर ब्राह्मणको नियुक्त करनेके पक्षमें है और उसपर सर्वभावेन विश्वास करनेको राजाको अनुमति देता है और सभी निश्चित प्रस्तावोंको कार्य-रूप देनेके लिए उसको सौंपना[2] है; फिर भी मनु उसको मंत्रीका अभिधान न देकर 'अमात्य'[3] कहता है। उसके शब्दोंमें समस्त दंड, यानी शासन[4] उसके अधिकारमें है। 'दिव्यावदान'[5] में प्रधानमंत्री राधगुप्त 'अमात्य' कहा गया है।

वैदेशिक मंत्री

'मालविकाग्निमित्र'के पंचम अंकमें, अमात्यकी घोषणासे जैसा स्पष्ट होता है, हम राजनीतिक पत्र-व्यवहारके अधिकारी मंत्रीके सम्बन्धमें पढ़ते हैं, जो अधीनस्थ राजाओंकी आई हुई राजनीतिक भेंट तथा पत्रोंको स्वीकार करता तथा राजदूतोंसे मिलता था (और दूसरे मित्र या शत्रु विदेशी शक्तियोंके भी); "देव', अमात्य विनय-पूर्वक कहता है—'विदर्भ देशसे जो भेंटें आयी हैं उनमें कलामें प्रवीण दो कुमारियाँ आप महाराजके पास नहीं भेजी गयीं, क्योंकि यात्राकी श्रान्तिके कारण समुचित वेश-विन्यास करनेमें वे असमर्थ समझी गयीं थीं। अब वे आप महाराजके दर्बारमें उपस्थित होनेके योग्य हो गयीं हैं, इसलिए देव उनके सम्बन्धमें आज्ञा देनेकी कृपा करें।"[6] यह मंत्री आज-कलके वैदेशिक मंत्री से मिलता-जुलता था। विदेशी-राज्योंसे आई हुई भेंटके सामानोंका एक विवरण वह राजाके पास उनके सम्बन्धमें उसकी आज्ञा जाननेके लिए भेज देता था। वह राजा और मंत्रि-परिषद्के[7] आदेशानुसार राजनीतिक संधिवार्ता भी चलाता था। गुप्त-शिला-लेखोंमें कथित 'सन्धि-विग्रहिक' के सदृश ही किसी कार्यभारका वह उत्तरदायी हो सकता है।[8]

---

१ वही। २ मनुस्मृति, ७.५८—५९, १२.१००। ३ वही, ७.६५। ४ वही। ५ अशोकावदान। ६ माल०, पृ० ९४। ७ वही, पृ० ११, वही, ९४। ८ एलाहाबादका स्तम्भ-लेख : अन्तिम पंक्तियाँ; चन्द्रगुप्तका उदयगिरि गुफा-लेख २, श्लोक ३।

राजस्व तथा नियम-न्याय[1] के दो कार्य-भारोंके अधिकारी एक मंत्री का उल्लेख कालिदास करते हैं। साधारणतः कोषका[2] अधिकारी राजा कहा गया है और यह सम्भव है कि राजा ही अपना अर्थ-मंत्री था। यह स्मरण रखा जा सकता है कि मनु, जिसका हवाला अक्सर कालिदास देते हैं, कोषका अधिकारी राजाको बताता है।[3] नहीं तो, 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का मंत्री पिशुन अपने दो कार्यभारों, राजस्व तथा नियम-न्यायके साथ अर्थको भी शामिल किये समझा जा सकता है। हमें इस मंत्रीके न्यायासनपर बैठने और मामलोंके सम्बन्धमें फैसला देनेके उल्लेख भी मिलते हैं।[4] यह भी सम्भव है कि राजस्व तथा नियम-न्यायके अलग-अलग दो मंत्री हों और इस अनिश्चयताका हल यह स्वीकार कर निकाला जा सकता है कि प्रत्येक मंत्री अपने विभागके मामलोंको राजाके सामने उपस्थित करता था। 'शाकुन्तल'में इस मामलेका संकेत हुआ है। यद्यपि उस मामले के साथ नियम और न्यायके उच्च तथा पेचीदे सिद्धान्त लगे हुए हैं, फिर भी शायद वह राजस्व-नियमसे सम्बन्धित था और ऐसा होनेके कारण उसका विचार राजस्व-मंत्री-द्वारा किया गया। राजस्व-मंत्री सारे राजस्व-शासनकी देखभालका उत्तरदायी था। वह सारे राजस्वका संग्रह करता, उनका परिगणन करता और उनको कोषमें[5] रखता था और अर्थविभागमें उत्पन्न होनेवाले सभी मामलोंको राजाके सामने उपस्थित करता था। वह

राजस्व-नियम तथा न्याय-मंत्री

---

१ अर्थजातस्य गणनाबहुलतयैवमेव पौरकार्यमवेक्षितम्। तद्देवः पत्रारूढं प्रत्यक्षीकरोत्विति। ...समुद्रव्यवहारी...शाकु०, पृ० २१९ मिलाकर मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनं ब्रूहि।...पौरकार्य वही, पृ० १९८।
२ रघु०, ५.१, २९, १७.६०, ८१। ३ नृपतौ कोषराष्ट्रे च, मनुस्मृति, ७.६५। ४ माल०, पृ० १९८, २१९। ५ अर्थजातस्य गणनाबहुलतया माल०, पृ० २१९।

अपने सारे वक्तव्यका एक लिखित पत्र प्रस्तुत करता था।[1] राजा जब अपने न्यायासन[2] (व्यवहारासन) पर बैठकर अभियोगोंको सुनता था तो नियम-न्याय मंत्री उसके साथ ही आसनासीन होते थे और इस प्रकार वे उस न्यायालयके निर्णयका एक लेखा तैयार करते थे। शुक्रनीति कहती है कि राजाको न्यायके मामलोंमें अकेला कोई भी निर्णय नहीं करना चाहिये और उसे अवश्य अपने मंत्रियोंके साथ प्रजा-द्वारा उपस्थित किये गये आवेदन तथा माँगें सुनना चाहिये।[3] यहाँ कालिदास बिलकुल परम्पराके साथ-साथ चल रहे हैं। जब राजा अपनी रुग्णताके कारण खुले न्यायालयमें बैठनेमें असमर्थ होता है, तो न्याय-मंत्री नागरिकोंके आवेदन-पत्रोंको प्राप्त करता और स्वयं उनका पहले निरीक्षण करनेके बाद राजाके परीक्षणके लिए अन्त:पुरमें भेज देता था। कालिदासके कथनानुसार यह सामान्य व्यवहार था जो राजाके इन शब्दोंसे प्रतिध्वनित होता है; "मेरे शब्दोंको मंत्री पिशुनको जा सुनाओ—अधिक समय तक जागते रहनेके कारण आज न्यायालयमें उपस्थित होना हमारे लिए सम्भव नहीं था। नागरिकोंके इन मामलोंका आर्यने अवलोकन किया है, उनको लेखबद्ध कर भेज देना चाहिये।"[4]

विषयकी स्पष्टताके लिए हम नियम-न्याय तथा राजस्व (अर्थ) को दो अलग-अलग विभागोंके रूपमें वर्णन करेंगे।

पुरोधा या पुरोहित[5], जिसका उल्लेख कालिदासकी पुस्तकोंमें प्रत्येक राजकीय समारोहमें मिलता है, राज्यसाधनसे अवश्य सम्बन्धित था।

पुरोधा

राजाके अभिषेकके समय तो वही सर्व-सर्वा है। पुरोहित और गुरुके प्रति राजा परम आदरके साथ व्यवहार करता है, यद्यपि कालिदास उसे मन्त्रि-परिषद्का सदस्य होनेका विशेष उल्लेख नहीं करते तथापि

---

१ पत्रारूढं वही, पृ० २१६, पत्रमारोप्य वही, पृ० १६८। २ मद्वचनात्... ब्रूहि। चिरप्रबोधनान्न सम्भावितमस्माभिरद्य धर्मासनमध्यासितुम्। यत्प्रत्यवेक्षितं पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति वही, पृ० १६८। ३ खण्ड १.६.६० । ४ शाकु०, पृ० १६८ (अन्ते उल्लिखित)। ५ पुरोहितपुरोगाः रघु०, १७.१३, पुरोधसा वही, १९.२४।

यह न्यायपूर्वक माना जा सकता है कि वह एक सदस्य था, क्योंकि "वह मनुस्मृतिमें लिखित सात या आठ मंत्रियोंमें सम्मिलित हो सकता है"[१] और 'कौटिल्य' उसे प्रधान मन्त्रीके बाद दूसरा स्थान देता है।[२] यह स्मरण रखने योग्य है कि कालिदास ऊपर लिखे दो शास्त्रकारोंका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपमें सम्मानपूर्वक अनुसरण करते हैं। 'शाकुन्तल'[३] का प्रमाण साफ-साफ बतलाता है कि पुरोहित, जिसकी सम्मति राजा तुरंत स्वीकार कर लेता है, न्यायालयमें उसके साथ बैठता और उसको परामर्श भी देता है। आपस्तम्ब[४] और जातक[५] उसके धर्मशास्त्र और तंत्रमें निपुण होनेकी आशा करते हैं। अर्थशास्त्र उसके बारेमें कहता है "ऐसे व्यक्तिको जिसका वंश तथा आचरण प्रशंसनीय हो, जो वेदों तथा षडंगोंका पूर्ण ज्ञाता हो, जो आधिभौतिक या आधिदैविक शकुनोंको जाननेमें निपुण हो, नीतिशास्त्र-विशारद हो और जो आज्ञाकारी हो और जो अथर्ववेदमें विहित शुभ कर्म-काण्डों और यज्ञोंको करके दैविक या मानसिक भावी आपत्तियोंको रोक सकता हो, राजा प्रधान पुरोहित बनावे। जिस प्रकार विद्यार्थी अपने अध्यापकका, पुत्र अपने पिताका और सेवक अपने प्रभुका अनुकरण करता है उसी प्रकार राजा उसका अनुकरण करे। इस बातमें शुक्रनीतिका आदेश और भी कड़ा है। वह पुरोहितकी नियुक्तिके लिए आदेश करती है; "वह जो मंत्रों तथा यज्ञोंका पूर्ण ज्ञाता है, त्रिविद्यामें निष्णात है, कार्य में प्रवीण है, जिसने इन्द्रियोंका निग्रह किया है, जिसने क्रोध पर विजय प्राप्त की है, जो काम और वासनाओंसे रहित है, जो षडंगों (वेदांगों)का जानकार है और धनुर्विद्यामें निपुण है, जो धर्म तथा नीतिके नियमोंको जानता है, जिसके कोपके भयसे राजाको भी धार्मिक जीवन बिताना पड़ता है, जो नीतिशास्त्रज्ञ है और जो युद्धके आयुधों तथा नीतिका पूर्ण ज्ञाता है, पुरोहित है"[६] इस मंत्रीका ऐसा महत्त्व था।

---

१ जायसवालः हिन्दु पोलिटी भाग २, पृ० १२६। २ अर्थशास्त्र...। ३ शाकु०, ५। ४ धर्मसूत्र २.५, १०, १३–१४। ५ भाग, १. पृ० ४३७, २ ृ० ३०। ६ खण्ड २, १५६–१६०।

यह सम्भव है कि सेनापति[1], जिसका कविने उल्लेख किया है, मंत्रि-परिषद्का सदस्य हो, किन्तु हम इस विषयमें कोई निश्चित विचार नहीं प्रकट कर सकते, क्योंकि इस सम्बन्धमें कालिदासकी पुस्तकोंमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। प्रत्युत इसके विरुद्ध प्रमाण हैं। जब विदिशाकी मंत्रि-परिषद् विदर्भराजपर आक्रमण करनेके लिए सेना भेजनेका निश्चय करती है, सेनापति वीरसेन मोर्चे पर है और उसके पास राजाका आदेश भेजना पड़ता है।[2] इसको विरुद्ध प्रमाणमें रखा जा सकता है। शुक्रनीति[3] वस्तुतः उसकी उपेक्षा कर जाती है, हालांकि कौटिल्य उसको प्रधान मंत्रीके बाद तीसरे स्थानमें होनेका उल्लेख करता है।

कालिदास यह नहीं बतलाते कि मंत्रि-परिषद् कितने मंत्रियोंसे संगठित होती थी और इस प्रसंगमें वे 'कौटिल्य' का अनुसरण करते हैं, जो उनकी कोई निश्चित संख्या नहीं रखना चाहता, किन्तु मनु[4] तो उनकी सात या आठकी संख्या रखना पसन्द ही करता है। यह ध्यान रखने योग्य है कि मंत्री-परिषद्के संगठनके लिए बृहस्पति सोलह सदस्य, मानव[5] बारह और उशन[6] बीस, आवश्यक मानते हैं। महाभारत[7] इस परिषद्को सैंतीस सदस्यों-द्वारा संगठित करके एक पर्याप्त बड़ा रूप दे देता है जिसके सदस्य जातिके प्रतिनिधित्वके आधारपर चुने जाते थे।

राज्य लोकतंत्रके[8] शास्त्रीय नामसे अभिहित होता था और उसका शासन एक पूर्ण संगठित राज्य-विभागके हाथों संचालित होता था जिसके कई विभाग होते थे और उन विभागोंके अलग-अलग प्रधान थे। कालिदास इस उद्धरणमें विभागोंके प्रधान (तीर्थों) का सामान्य उल्लेख करते हैं; "इस प्रकार राजाको राज्यका चतुर्विध शासन करना आवश्यक बतलाते हुए जहाँ तक अठारह तीर्थोंका

सचिवालय तथा राजकीय विभाग

१ शाकु०, पृ० ६३—माल०, पृ० ११। २ माल०, पृ० ११। ३ २.७१–७२। ४ जायसवाल हिन्दू पॉलिटी, भाग २ पृ० १२६। ५ वही। ६ वही। ७ कुम्भ-एड-शान्ति, खण्ड० ८५. ७–११। ८ शाकु०, पृ० १५४।

सम्बन्ध है उसने उसका फल प्राप्त किया ।"[१] तीर्थपद पूर्वमें अच्छी प्रकार समझाया जा चुका है और अठारह विभागोंके प्रधानोंका भाव विहित होना भी सिद्ध हो चुका है । कालिदास इस शब्दका उल्लेख करते हुए उन विभागोंके निश्चित नाम नहीं लिखते और न उनके प्रधानोंके । यहाँ उनके नाम दूसरे साधनोंसे प्राप्त हुए दिये जा सकते हैं ।

महाभारतके एक टीकाकार चतुर्धरने अठारह तीर्थोंके नाम दिये हैं । वे निम्नलिखित हैं; "मंत्री, पुरोहित, युवराज या भावी नृपति, राजा, द्वारपाल या राजप्रासादका अंगरक्षक, प्रधान अमात्य, कारागार-संरक्षक, राजस्वाधिकारी, राज्यादेशप्रयोजक, प्रवेष्टा, नगर-संरक्षक, व्यवहार-संचालक, धर्माधिकारी, सभाध्यक्ष, सैन्यसंस्थापक, अंतर्देशीय रक्षाधिकारी, राष्ट्रीय-सीमा-संरक्षक और जांगल-व्यवस्थाधिकारी ।"[२]

जैसा कि आगे के कथन से प्रतीत होता है यह अधिकांशमें कौटिल्य की दी हुई सूचीके आधारपर दिया गया है । कौटिल्य-द्वारा दी हुई तीर्थों की निम्नलिखित सूचीके साथ इनकी तुलना करनेपर यह स्पष्ट हो जायगा कि उपर्युक्त सूचीका आधार भी यही है, केवल कुछ अपवाद हुए हैं । कौटिल्य[३] आगे के अठारह तीर्थोंका उल्लेख करता है;

---

१ रघु०, १७.६८ ।

२ मंत्री पुरोहितश्चैव युवराजश्च भूपतिः ।
पंचमो द्वारपालश्च षष्ठोऽन्तर्वंशिकस्तथा ॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत्तथा ।
कृत्याकृत्येषु चार्थानां नवमो विनियोजकः ॥
प्रवेष्टा नगराध्यक्षः कार्यनिर्माणकृत्तथा ।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपालस्त्रिपंचकः ॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः ।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु ॥ रघुवंश जी०आर० नन्दर्गिकर-द्वारा सम्पादित, ऊपर की टिप्पणी । ३ अर्थशास्त्र, खण्ड १, अध्याय १२ ।

१. मंत्री
२. पुरोहित
३. सेनापति
४. युवराज
५. दौवारिक या राज्यप्रासादका अंगरक्षक
६. अन्तर्वंशिक या प्रधान अमात्य
७. प्रशासवत् या कारागार संरक्षक
८. समाहर्त्तृ या राजस्वमंत्री
९. सन्निधातृ या अर्थमंत्री
१०. प्रदेशष्टृ
११. नायक
१२. पौर या राजनगरका राज्यपाल
१३. व्यावहारिक या न्यायाध्यक्ष
१४. कर्मान्तिक या खान तथा निर्माणियोंका अधिकारी
१५. मंत्रीपरिषद्—अध्यक्ष या परिषद्का अध्यक्ष
१६. दंडपाल
१७. दुर्गपाल
१८. अन्तपाल [१]

'तीर्थ' पद पर टिप्पणी लिखते हुए टीकाकार चरित्रवर्धन 'कौटिल्य' का प्रमाण देता है।[२]

कालिदास विभागोंके इन अठारह प्रधानोंमेंसे किसी एकका भी उल्लेख नहीं करते, किन्तु अर्थशास्त्रकी दी हुई सूचीके प्रायः आधे नाम

---

१ हिन्दूपोलिटीमें जायसवाल-द्वारा अनूदित इस शब्दके पर्याय दिये गये हैं—खण्ड २, पृ० १३३–१३४। २ मंत्रिपुरोहितसेनापतिराजदौवारिकान्तर्वंशिकप्रशास्तृसमाहर्तृसन्निधातृप्रदेष्टारः दण्डकर्मान्तिकदुर्गपाला-स्तीर्थमिति कौटिल्य, भाग २, पृ० १३३–३४। एन० जी० नन्दर्गीकर द्वारा सम्पादित रघुवंशमें उल्लिखित, तीर्थ पर टिप्पणी १७.६८।

जो ऊपर दिये गये हैं कविके विशेष वर्णनोंमें आये हैं। वह उस सूचीके इन नामोंको लिखता है---(१) मंत्री (प्रधान मंत्री जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है), (२) पुरोहित (३) सेनापति (४) युवराज (५) दौवारिक[१] (६) अन्तर्वंशिक (कालिदासका कंचुकी जो संस्कृतके नाटकोंमें महा-प्रतिहारका काम करता है।) (७) पौर (कालिदासका नागरिक) (८) व्यावहारिक (नियम और न्यायका मंत्री जो ऊपर आ चुका है) और (९) अंतपाल।[२]

पिछले पृष्ठोंमें मंत्रि-परिषद्का उल्लेख हो चुका है। अब बड़े और छोटे दूसरे अधिकारियोंके कार्योंकी ओर संकेत किया जायगा। ऊपर जिनका विवेचन हो चुका है उनके सिवा कवि नीचे लिखे उच्च अधिकारियों का वर्णन करता है; "अंतपाल,[३] कंचुकी,[४] नागरिक,[५] राष्ट्रीय,[६] धर्मा-ध्यक्ष,[७] दूत[८] और दूसरे मुख्य राज्याधिकारी[९]। कम महत्त्वके अधिकारियों में कालिदास इनके नाम गिनाते हैं; चारण[१०] और वन्दी,[११] प्रवक्ता,[१२] पत्रकार और लेखक, दैवचिन्तक,[१३] शासन-हारिण,[१४] प्रत्यवेक्षक,[१५] कोष[१६] तथा अंतःपुरका[१७] संरक्षक, गुप्तचर,[१८] सारथी[१९] तथा

---

१ शाकु० पृ० ६२। २ माल०, पृ० १०, अन्तपालदुर्ग वही, पृ० ९। ३ वही। ४ शाकु०, पृ० १५४; विक्र०, पृ० ३। ५ शाकु० पृ० १८२। ६ वही, पृ० १९३—१९४। ७ राजा धर्माधिकारे नियुक्तः वही, पृ० ४०। ८ माल० पृ० ८८—८९; रघु० ५.६३। ९ शाकु० पृ० ४९ अधिकार-पुरुषाः रघु० ५.६३। १० रघु० ४.६, ५.६५, ७५, ६.८। ११ वैतालिकाः शाकु०, पृ० १५७, माल०, पृ० ३२, २.१२; विक्र०, १, २। १२ माल०, पृ० ८८। १३ वही, पृ० ७१। १४ शासनहारिणा रघु०, ३.६८। १५ शाकु०, पृ० १९८। १६ कोषगृहे नियुक्ताः रघु०, ५.२९। १७ अवरोधरक्षः वही, ७.१९। १८ प्रणिधि वही, १७.४८; कुमा०, ३.६, १७; अपसर्पः रघु०, १७.५१। १९ यन्तार, सारथि, इत्यादि रघु०, १.५४, ७४; ३.३७।

हस्तियंतार,[1] द्वारस्थ,[2] गृहपाल,[3] किराती[4] और यवनी।[5]

अंतपाल, रक्षाका अधिकारी पुरुष था, जो राज्यकी सीमाओंकी रक्षा करता था। अंतपालके सीधे अधिकारमें सेनाओंसे सज्जित[6] सीमाओं पर स्थित दुर्ग[7] थे। वीरसेन ऐसा ही एक अंतपाल था जो अग्निमित्र के राज्यकी दक्षिणी[8] सीमाओंकी रक्षाके लिए नियुक्त किया गया था। उस नाटकका कंचुकी वही है जो गुप्तशासनका प्रतिहार या महाप्रतिहार है जिसको अर्थशास्त्र अंतर्वंशिक कहता है। वह प्रधान अमात्य था जो व्यक्तित्वमें 'वयस्क' था जिसका राजा बड़ा सम्मान करता था और बड़े आदरके[9] साथ उससे वार्तालाप भी। वह राज्यप्रासादके अन्त:पुरकी व्यवस्थाका सर्वाधिकारी था और उसके अधीन सारे प्रासाद-रक्षकोंकी सेना तथा यवनियाँ थीं। अपना अधिकार जतलानेके लिए वह एक सुवर्णदण्ड (हेमवेत्र[10]) लिए चलता था। इस अधिकारीको राज्यकी सभी आवश्यक गुप्त बातोंके लिए विश्वास-पात्र समझा जाता था, क्योंकि वह मंत्रिपरिषद् और राजा[11] दोनों पक्षोंके विचारोंको प्रकट करता था। प्रतिहारी[12], जो गुप्त प्रतिहारके स्त्री-कक्षके अधीन काम करती थी और राजाके रनिवासकी रानियोंके साथ जिसका प्रत्यक्ष सम्पर्क था वह भी कंचुकीकी तरह अपने हाथमें एक दण्ड रखती थी जो बेंतका[13] होता था। नागरिक, 'अर्थशास्त्र'का नागरक[14] नगरका प्रधान अमात्य था और उसके हाथोंमें नगरका रक्षा-विभाग था। वह नगरके रात्रि-अपराधियोंपर पहरेका प्रबन्ध करता और उनके पकड़े जाने पर उनके दण्डकी व्यवस्था

१ आधोरण वही, ५.४८। २ द्वारस्थाः कुमा०, ६.४८। ३ कुशलं विरचितानुकूलवेशः रघु०, ५.७६। ४ वही, १६.५७। ५ शाकु०, पृ० ५७, २२४। ६ माल०, पृ० ९; रघु०, ४.२६। ७ रघु०, ४.२६। ८ वीरसेनो नाम स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः; माल०, पृ० ९। ९ शाकुन्तल और मालविकाग्निमित्र-द्वारा। १० कुमा०, ३.४१। ११ माल०, पृ० १०१। १२ रघु०, ६.२०, २६, ८२। १३ वेत्रग्रहणे वही, ६.२६, वेत्रभृता वही, ८२। १४ खंड २, अध्याय ३६।

कराता था। 'कौटिल्य' का कथन है कि "प्रधान राजस्व-हर्ताकी तरह राजधानीका रक्षाधिकारी (नागरक) राजधानीके मामलोंको देखता था।"[1] 'राष्ट्रीय' राष्ट्रकी शान्तिकी रक्षाके लिए नियुक्त होता था किन्तु जिस प्रसंगमें इसका व्यवहार होता है उससे यह निष्कर्ष निकला है कि 'राष्ट्रीय' नागरकका सम्मानार्थी था।

धर्मविभाग धर्माधिकारीके अधीन चलता था इस प्रकारके एक अधिकारीके कथनसे यह प्रमाणित होता है; "जो पौरव राजाके द्वारा धर्माधिकार पर नियुक्त किया गया है, वह मैं यह जाननेके लिए इस आश्रममें उपस्थित हुआ हूँ कि आपकी तपश्चर्यामें कोई विघ्न तो नहीं होता।"[2] इस प्रकार हम देखते हैं कि वनवासी तपस्वियोंकी देखरेख करनेके लिए वहाँ सचमुच एक राजकीय विभाग था और उसका एक अधिकारी नियुक्त होता था। यह स्मरण रखने योग्य है कि महान् बौद्ध मौर्य सम्राट् पवित्रता-प्रिय अशोकने बहुत पहले ही इस विभागकी स्थापना की थी और उन्होंने ऐसे अधिकारी भी नियुक्त किये थे जो 'धर्म-महामात्र'[3] कहलाते थे और जिनका कर्तव्य था, उसके धर्मके उत्थानपर ध्यान रखना जिसका वह अपने शिला तथा स्तम्भ-लेखोंके द्वारा प्रचार करता था। मालूम होता है, कालिदासके काल तक यह विभाग चलता रहा था। कालिदास पुरोहित या पुरोधा और धर्माधिकारी दोनोंका उल्लेख करते हैं जिससे प्रकट होता है कि ये दोनों दो भिन्न अधिकारी थे। हम बतला चुके हैं कि पुरोहित राज्यका एक उच्च पदाधिकारी था और शायद वह मंत्रि-परिषद्का सदस्य भी था। यह सम्भव है, धर्माधिकारी अठारह तीर्थोंमेंसे एकके प्रधानके रूपमें पुरोहितके आदेशानुसार काम करता हो। यह भी स्मरण रखा जा सकता है कि चतुर्धर, महाभारतका टीकाकार जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है और रामायणका[4] टीकाकार गोविन्दराज दोनों ही विभागों

---

१ अर्थशास्त्र, खण्ड २, अध्याय ३६। २ यः पौरवेण राज्ञा धर्माधिकारे नियुक्तः सोऽहमविघ्नक्रियोपलम्भाय धर्मारण्यमिदमायातः शाकु०, पृ० ४०। ३ स्तम्भ-लेख नं० ७, शिला-लेख नं० १२। ४ २.१००, ३६।

के अठारह प्रधानोंमेंसे एक धर्माध्यक्षका कथन करते हैं। कालिदासका संकेत स्पष्टतः उसी ओर है। डा० ए० एस० अल्टेकरकी मान्यता है कि "हमारे (राष्ट्रकूट) कालमें पुरोहितका स्थान एक राज्याधिकारीने ले रखा था जिसका काम था धर्म, कथा, नीतिकी रक्षा करना। शुक्रनीतिमें नीति तथा धर्मके जिस मंत्रीको पंडित कहा गया है वह अशोकका 'धर्म-महामात्य', आन्ध्रोंका 'समन-महामात'[1] और गुप्तोंका 'विद्यास्थिनि-स्थापक'[2] की परम्पराका निर्वाह करता है। उत्तरमें चेदिवंशवाले इस परम्पराको चलाते रहे, जिनके एक लेखमें महापुरोहितके[3] साथ धर्मप्रधान का भी नाम आया है। आरम्भके राष्ट्रकूट शासक नन्नराजके अधीन ७०८ ई० में[4] यह पद चलता था और उसके अधिकारीको धर्मांकुशकी संज्ञा दी गयी थी। यह असम्भव नहीं है कि नन्नराजके वंशजोंने उस पदको तब तक चलाया हो जब तक वे दाक्षिणात्यमें एक साम्राज्यके अधिकारी हो गये। यदि कोई यह निश्चय करे तो उसका निश्चय युक्तिसंगत होगा कि अमोघवर्ष प्रथम तथा अमोघ वर्ष तृतीयके शासन-कालमें जो भौतिक बातोंसे कहीं अधिक आध्यात्मिक बातोंमें रुचि रखते थे, इस पदका अवश्य पुनर्निर्माण हुआ होगा यद्यपि उनके पूर्वजोंके समयमें वह बन्द कर दिया गया हो।"[5] यह कहा जा सकता है कि डा० जायसवाल[6] और डा० अल्टेकर दोनोंकी दृष्टिसे यह बात बच निकली कि 'शुक्रनीति'[7] एक विशेष धार्मिक व्यवस्था और दान-संरक्षणके विभागका दो बार उल्लेख करती है और इसका अधिकारी धर्माधिकारीको बतलाती है। यह मनोरंजक बात है कि इस पदाधिकारीके लिए कालिदास उसी शब्दका प्रयोग करते

१ नासिक लेख, ई० आई०, ८ पृ० ९। २ ब्लोच-द्वारा इस अधिकारीका मोहर पाया गया था; आर० ए० एस०, १९०३-४, पृ० १०९। ३ विजयसिम्बका कुम्भि प्लेट, जे० ए० एस० बं०, ३१, पृ० ११६। ४ मल्लाई प्लेट, आई० ए० १८, पृ० २३०। ५ दी राष्ट्रकूट्स एण्ड देअर टाइम्स, पृ० १६९-७०। ६ हिन्दू पोलिटी, भाग २, पृ० १३५। ७ अध्याय २.२४०-४१, वही, ३२७-२८।

हैं और उसका कर्तव्य वही बतलाते हैं जैसा शुक्रनीतिने किया है। ऐसा मालूम होता है कि चेदियोंकी तरह पूर्वकी परम्पराको चलाते हुए पुरोहित और धर्माधिकारी दोनोंके पदोंका वर्णन करते हैं। उनके राजाके लिए इन दोनों अधिकारियोंकी सहायता लेना स्वाभाविक था क्योंकि कविने बड़े उत्साहके साथ उसको **'वर्णाश्रमाणांम्रक्षिता', 'वर्णाश्रमरक्षणे जागरूकः', स्थितेरभेत्ता' 'नियन्तुः'** इत्यादि नामोंसे पुकारा है।

दूत राज्यका राजदूत था जो विदेशी राज्योंमें सन्धि और मेलकी वार्ता करने और अपनी तीव्र बुद्धि तथा सुअवसरसे शत्रुका हाल जाननेके लिए भेजा जाता था। सम्भव है, राज्यके गुप्तचरोंका दल जो राजाके नेत्रोंका[1] काम करते थे, दूतके अधीन हो। मनुस्मृति[2] और शुक्रनीति[3] दोनोंमें इस उपाधिको धारण करनेवाला अधिकारी कूटनीतिज्ञ मंत्री है, किन्तु कवि अपने उल्लेखमें इस प्रकारका कोई अभिप्राय नहीं रखता। उपर्युक्त अधिकारियोंके सिवा दूसरे मुख्य राजपुरुष भी थे, जिनकी अनेकों प्रकारकी सेवाओंसे शासन-यंत्र योग्यतापूर्वक चलता था। उनके दायित्वमें बहुतसे विभाग चलते थे और उनको ऐसे मुख्य कर्तव्य दिये गये थे जिनके कारण वे अधिकारी पुरुषके[4] नामसे सम्बोधित होते थे। यह सम्भव है कि इसी प्रकारके अधिकारियोंमें 'प्रत्यवेक्षक' भी हो, जिसका काम था, उस स्थानका पहले ही जाकर निरीक्षण करना, जहाँ राजा जानेवाला हो और यह भी देखना कि उसमें कोई खतरा तो नहीं है। वे इस प्रकार राजाकी रक्षाके पहरेदार थे; इसके बाद **'शासनहारिणः'**[5] थे। वे राजकीय लेखके वाहक थ, जो राजा तथा राज्यके विभागोंके प्रधानोंके लिखित आदेशोंको इधर-उधर दौड़कर पहुँचाया करते थे और इस प्रकार राज्यके कामोंको द्रुत गतिसे सम्पन्न करानेमें भाग लेते थे। उनका उल्लेख शुक्रनीति[6] भी करती है।

---

१ रघु०, १७.४८। २ ७.६५–६६। ३ अध्याय, २.८७। ४ रघु० ५.६३। ५ वही, ३.६८। ६ अध्याय २।

निम्न अधिकारी भी थे जिनका उल्लेख यहाँ किया जा सकता है। चारण जिनको **बन्दिनः**[1] **बन्दिपुत्राः**[2] और **सूतात्मजाः**[3] के नाम दिये गये हैं; वे राज्यके वास्तविक कामके स्थानमें राजाके ऐश्वर्य और मान प्रदर्शन करनेके लिए ही थे। मुख्य अवसरोंपर तथा प्रातः-संध्या राज्यवंशकी महिमाका गीतोंमें कीर्तन करना उनका काम था और उनका काम राज्य-परिच्छद्का[4] भी था। गुप्तकाल[5] में भी वे मुख्य समझे जाते थे। समय की सूचना देनेवाले अर्थात् वैतालिक राजाके आवश्यक सहचर थे। वे दिन और रातके घंटोंकी घोषणा राजाको करते थे जिनके अनुसार राजाका समय कई भागोंमें बँटा हुआ था और उन्हींके अनुसार वह राज्यके कार्य किया करता था। इस प्रकार वैतालिक राजाको दिन और रातके घंटों की सूचना देते थे और इसके फल-स्वरूप यह भी जतला देते थे कि उन घंटोंमें उसे क्या करना है। लेखक राजकीय पत्रोंका लिखनेवाला तथा मज़मून बनाने वाला था। इसी प्रकारके अधिकारियोंमेंसे वह था जिसने विदर्भसे भेजे हुए वीरसेनके अपनी बहिन अग्निमित्रकी रानीको लिखे गये पत्रको अग्निमित्रको पढ़ सुनाया था। "**दैवचिन्तकाः**' वे भविष्यत् वक्ता और दैवज्ञ थे जो राजदर्बारमें रहते थे। इनके अतिरिक्त और भी बहुतसे अधिकारी, जनसेवक और सहचर तथा अन्तःपुरके रक्षक, गुप्तचर, रथ तथा गजवाहक, अमात्यप्रतिहार, भवन-व्यवस्थापक, किराती और यवनियाँ राजकीय सेवक और सेविकाओंमें थे। नगर-रक्षक और पहरू-रक्षिणः[6] थे जो अपराधियोंको न्यायालयमें ला उपस्थित करते थे। वे नागरिकके अधीन[7] काम करते थे और वे नगरके रात्रिपहरू और दिन-प्रतिहार कहे जा सकते हैं। किरातियाँ और यवनियाँ राजकीय अन्तःपुर के अधिकारियोंका काम करती थीं और वे राजाके अपने अस्त्र-शस्त्रोंकी[8]

---

१ रघु०, ४.६, ६.८। २ वही, ५.७५। ३ वही, ६५। ४ विक्र०, ४.१३। ५ बन्दकजनो, स्कन्दगुप्तका भीतरी शिला स्तम्भ-लेख, श्लोक ७। ६ शाकु०, पृ० १८२। ७ वही। ८ वही, पृ० २२४।

वाहिकाएँ थीं। वे सदा प्रासादमें और बाहर भी राजाके साथ रहा करती थीं। वे अंगरक्षिकाका काम करती थीं और जब वह मृगया[1] और दूसरे मनोरंजनके[2] लिए बाहर जाता तो वे उसको घेरे रहती थीं। प्राचीन भारतीय राजाओंकी यह प्रथा थी कि वे यवनियोंको अंगरक्षिकाएँ नियुक्त करते थे, विशेषकर अपने अस्त्र-शस्त्रोंको वहन करनेके लिए। यवन शब्दसे ग्रीसके निवासी समझे जाते हैं। आखेट करते समय या प्रातःकाल[3] के शुभमुहूर्तमें शय्या-त्याग करते राजाको स्त्रियोंसे घिरा हुआ होना चाहिए ऐसा 'अर्थशास्त्र'का भी आदेश है। यवनियोंका यह उल्लेख एक मुख्य स्थान रखता है क्योंकि मेगास्थनिजके लेखोंसे हमें पता चलता है कि राजा जब अपने राज-भवनसे बाहर निकलता था तो उसकी पालकी ऐसी स्त्रियों से घिरी होती थी जिनके हाथोंमें धनुष और बाण होते थे।[4]

मंत्री-विभागके कार्य

मंत्रीविभागका काम बहुत कुछ उन्नत था। सभी मुख्य मामले पत्रपर लेखबद्ध कर राजाके निरीक्षणके लिए उसके पास उपस्थित किये जाते थे और राजा उनपर जो आदेश करता था उनपर राजकीय मुद्राकी छाप लगाकर राजकीय दफ्तरमें रख दिया जाता था। जैसा हमने पहले देखा है कालिदासने ऐसी मुद्राका बार-बार उल्लेख किया है। मुद्राके लिए जिस शब्दका प्रयोग हुआ है वह अंक है जो एक विशिष्ट हस्ताक्षरको अंकित करता है और शासनांक शासनका अंक था जो राजा द्वारा लिखित लेखोंपर लगाया जाता था।

मंत्रीविभागके कार्योंकी विशेष बात दिख पड़ती है, कार्यको शीघ्रतासे समाप्त करना। मालविकाग्निमित्रसे हमें विदित होता है कि जब अग्निमित्रको यह ज्ञात हुआ कि विदर्भके विषयमें उसके विचारोंको मंत्रि-परिषद् ने मान लिया है तो उसने सेनापति वीरसेनको जिसने विदर्भपर विजय

---

१ वहीं, पृ० ५७। २ रघु०, १६.५७। ३ खण्ड, १, अध्याय २। ४ ई० एच० आई०, पृ० १२६—३०।

प्राप्त की थी एक अनुमति-पत्र भेजनेके लिए परिषद्को आदेश दिया कि वह अनुमति-पत्रकी आज्ञाके अनुसार काम करे ।[1] नर्मदाकी घाटीके उस भागका अधिकारी और सेना-नायक वीरसेन था जो गृहसे आये आदेशोंको, आवश्यकता पड़नेपर, तलवारकी नोकपर भी कार्यरूप दे सकता था । इस विषयपर अत्यधिक वाद-विवाद करना इसकी गोपनीयताके[2] लिए हानिकर समझा गया था ।

यहाँ हम यह उल्लेख कर देना चाहते हैं कि कविने पत्रारूढ़[3] राजकीय[4] लेख तथा लिफ़ाफ़ोंमें[5] बन्द पत्रों[6] (प्राभृतक) के हवाले दिये हैं । कालि-

कुछ राजनीतिक लेख

दासने चार बहुत संक्षिप्त राजकीय लेखोंका उल्लेख किया है और उनको राजकीय पत्र तथा दूसरे अधिकारी-लेखोंके नमूनेके रूपमें ज्योंका त्यों उद्धृत किया जा सकता है । उनमें सबसे पहला पुष्यमित्र-द्वारा इस प्रकार लिखा गया है:—

"तुमको मेरे आशीर्वाद । सेनानायक पुष्यमित्र अपने पुत्र आयुष्मान् अग्निमित्रका सस्नेह आलिंगन कर यज्ञकी वेदिकासे इस प्रकार लिखता है:—राजसूय यज्ञके लिए एक सौ राजकुमारोंके साथ वसुमित्रकी संरक्षकतामें मैंने जिस यज्ञीय अश्वको निर्विघ्न परिक्रमा करनेके लिए छोड़ा था और जो एक वर्षके अन्तमें ही लौटकर यहाँ आता, सिन्धुके दक्षिणी तटपर जाता हुआ यवनोंकी अश्वारोही सेना-द्वारा पकड़ लिया गया । तब दोनों सेनाओंमें भयानक युद्ध हुआ ।

फिर शक्तिमान् धनुर्धर वसुमित्रने शत्रुओंको हराकर बलपूर्वक ले जाये जाते मेरे भले अश्वको उनके चंगुलसे मुक्त किया ।

---

१ पूर्वकल्पितसमुन्मूलनाय वीरसेनमुखं दण्डचक्रमाज्ञापय । माल०, पृ० ११ । २ रघु०, १७.५० । ३ पत्रारूढं शाकु०, पृ० २१६ । ४ वही, माल०, पृ० ८८, १०२ । ५ सन्ताभूतं लेखं माल०, पृ० १०१, प्रभृतको लेखः वही, मिलाकर लेखं उद्घाटयति (खुलता है) वही । ६ पत्रहस्ता शाकु०, पृ० २१८, पत्रिकां वही, पृ० २१६; लेखं माल०, पृ० ८८ ।

मैं, तब, जिसका अश्व मेरे पौत्रके हाथों लौटा लाया गया है, सगरके समान जिसका अश्व उसके पौत्र अंशुमान्‌के द्वारा लौटा लाया गया था, अब यज्ञ करूँगा। अतएव तुमको निर्विलम्ब मेरी पुत्र-वधुओंके साथ निश्चिन्त हो यज्ञ देखनेके लिए आना चाहिए।"[१]

इस पत्रको सम्राट् पुष्यमित्रने अपने पुत्र अग्निमित्रको लिखा था और यह उन अल्पसंख्यक लेखोंमेंसे एक है, जो संस्कृत-साहित्यमें सुरक्षित रह सके हैं। यह सम्राट्के अमात्य-विभागके महत्त्वपूर्ण लेखोंमेंसे है जो यह अच्छी प्रकार प्रमाणित कर सकता है कि उच्च कोटिका राजनीतिक व्यवसाय चलता था। यह लेख-पत्र कष्टपूर्वक संक्षिप्त बनाया गया है। इसमें एक भी निरर्थक शब्द नहीं है और न एक भी वाक्यांश ही ऐसा है जो प्रसंगसे पृथक् किया जा सकता है या उसमें कोई सुधार ही हो सकता है। इसका विषय और प्रसंग राजनीतिसे सम्बद्ध है, केवल आरम्भमें शिष्टाचार और स्नेहके कुछ अनिवार्य वाक्यांशोंका प्रयोग हुआ है। लेखपर पूर्ण रूपसे राजकीय रंग चढ़े रहनेसे यह कहा जा सकता है कि कालिदासने वास्तवमें इसको पूर्वके किसी पत्रसे नकल की थी जो उस समय भी सम्राट्के न्याय विभागके[२] अमात्यागारमें सुरक्षित था जिसके साथ शायद वे सम्बद्ध थे।

नीचेका भी एक पत्र है जिसको विदर्भराजने अग्निमित्रको लिखा है जिससे उत्कृष्ट श्रेणीकी राजनीति और राजकीय पत्र-व्यवहारका परिचय मिलता है। एक बड़ी ही स्पष्ट, निश्चित और संक्षिप्त भाषामें व्यवहार की शर्तें रखी गई हैं।

"विख्यात पुरुष (अग्निमित्र) ने मुझको लिखा था—'आपका चचेरा भाई, माधवसेन जिसने मेरे साथ वैवाहिक सम्बन्ध करनेकी प्रतिज्ञा की थी जब मेरे पास आ रहा था आपके सीमा-रक्षकोंने उसपर आक्रमण कर दिया और उसे बन्दी बना लिया। मेरे सम्मानका विचार करके उसको उसकी पत्नी और बहनके साथ छोड़ देनेके लिए आपको आदेश

---

१ माल०, पृ० १०२। २ मिलाकर पुष्यमित्रका अयोध्या-लेख।

दे देना चाहिए।' अब आप अच्छी प्रकार जानते हैं कि समान वंशोंके वंशजोंके प्रति राजाओंका यही कर्त्तव्य होता है; इसलिए मान्य महानुभाव को इस विषयमें तटस्थता ही ग्रहण करनी चाहिए। पकड़-धकड़की अस्त-व्यस्ततामें राजकुमारकी बहन लुप्त हो गई; मैं उसका पता लगानेमें कुछ भी उठा नहीं रखूँगा। अब यदि महाराज चाहते हैं कि माधवसेन को अवश्य मुक्त कर देना चाहिए तो कृपाकर नीचे लिखी शर्तो पर ध्यान दें।

"यदि आदरणीय महाराज मेरे बहनोई, मौर्य-मंत्रीको, जिन को कारागारमें डाल रखा है, बन्धन-मुक्त कर देंगे, तो मैं तुरंत माधवसेनको स्वतंत्र कर दूँगा।"[१]

तीसरा एक लेख-पत्र है जो राजाके आदेशके लिए उसके पास भेजा गया है जिसमें राजस्व-मंत्रीने एक राजस्व सम्बन्धी मामलेकी सूचना दी है। वह इस प्रकार है :—

"सामुद्रिक व्यापारी धनमित्र नामक एक प्रमुख वणिक् एक पोत-दुर्घटनामें मृत्युको प्राप्त हुआ। कहते हैं, विचारा सन्तानहीन है। उसका धन-भण्डार राजाका होता है।"[२]

इसी प्रकार मामलोंकी सूचना राजाको दी जाती थी। मामलोंका विवरण न्यायाधीशके निर्णयके साथ लेखबद्ध हो राजाके पास उसके विचार तथा अन्तिम आदेशके लिए भेज दिया जाता था। उक्त लेख सचिवालयके कार्यके राजनीतिक संगठनका एक उत्तम नमूना है।

अन्तमें, एक और पत्र लेखबद्ध है जो वैदेशिक-मंत्री द्वारा राजाको भेजा गया था जो एक वैदेशिक राज्यसे प्राप्त समस्त भेंटोंका स्वीकरण हैं। सेनानायक वीरसेनके इस पत्रको राजा अग्निमित्र अपने लेखकोंके[३] द्वारा पढ़ा जाता सुनता है। उसमें लिखा है :—

---

१ मालवि०, १.७, और उसीका प्रसंग। २ समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इति। शाकु०, ़० २१६। ३ मंगल-गृहे आसनस्था भूत्वा विदर्भविषयादभ्राता वीरसेनेन प्रेषितं लेखं लेखकैर्वाच्यमानं शृणोति;

"वीरसेनसे संचालित राजाकी विजयिनी सेनाने विदर्भराज पर विजय प्राप्त कर ली है और वीरसेनका सम्बन्धी माधवसेन मुक्त हो गया है। बहुमूल्य रत्नों, यानों तथा दास-समूहों, जिनमें प्रवीणा कुमारियोंका आधिक्य है, की भेंट लेकर जो राजाका राजदूत आया था, वह आप महाराजकी सेवामें कल उपस्थित होगा।"[1]

मंत्रियों, विभाग-प्रधानों और अन्य बड़े-छोटे अधिकारियोंके कार्यों का विवरण देनेके पश्चात् अब कतिपय विभागोंके सविस्तर संकेत किये जायँगे।

—:०:—

१ वही, पृ० ८८।

अध्याय ८

विभागोंका शासन

राजधानी जो मूलके[१] नामसे भी प्रसिद्ध थी, राज्यका मुख्य नगर थी और उसका शासन राजाकी प्रत्यक्षतामें होता था। शुक्रनीतिका वचन है—"राजाको अपनी राजधानीमें रह कर अपने कर्तव्योंका पालन करना चाहिए।" यहाँ प्रतिदिन राजकीय न्यायाधिकरणकी[२] बैठक होती थी जहाँ कठिन परिश्रम करनेवाला राजा राज्यके नागरिकोंके[३] मामलोंका निर्णय करता था।

राजधानी

अधीनस्थ सत्ताधारी सर्दारोंके एक बड़ी संख्यामें उपस्थित रहनेसे राज-सभा विशेष प्रभावसम्पन्न हो जाती थी। राज-सभाएँ मुग़ल दर्बार-सी लगती थीं जहाँ सम्राट्के अनुग्रहके लिए अधीनस्थ राजे आपसमें एक-दूसरेसे ईर्ष्या करते थ।[४]

राजधानीमें मंत्रि-परिषद्का अस्तित्व होनेसे यह पता चलता है कि शायद भिन्न-भिन्न विभागके प्रधानोंका यह मुख्य निवास-स्थान थी।

जब कभी राजा राजधानीको छोड़ जाता तो योग्य सैन्यकी[५] सुरक्षामें इसे रखवाता था। राजधानी सामान्यतः नगरोंके लिए आदर्शका काम करती थी। उसकी रक्षा एक सुदृढ़ दीवारके द्वारा होती थी जिसको प्राकार,[६] वप्रवलय[७] और परिवेष्टन[८] कहते थे जिसके सिंहद्वारको विशाल

---

१ रघु०, ४.२६। २ रघु०, ८.१८; शाकु०, पृ० १६८। ३ रघु०, ८.१८; शाक० पृ० २१६। ४ सम्राजश्चरणयुगलं प्रसादलभ्यं रघु०, ६.८८। ५ सगुप्तमूलप्रत्यन्तं वही, ४.२६। ६ वही, १२.७१। ७ स वेलावप्रवलयां परिखीकृतसागराम् वही, १.३०। ८ वही, ६.५२।

किवाड़ोंपर भीतरसे अर्गला देकर[1] बन्द करते थे। यह शहर-पनाह चारों ओरसे एक गहरी और चौड़ी खाई[2] (परिखा) से घिरा हुआ था। राजधानीकी स्थिति-पड़ोस, आकार और इमारतों आदिका विस्तार से वर्णन हमें अर्थशास्त्र[3] और शुक्रनीति[4] दोनों हीमें मिलता है। शुक्रनीति राजधानीके सम्बन्धमें लिखती है कि "इसका आकार अर्द्धचन्द्र, वृत्त अथवा वर्गके समान होना चाहिए और वह दीवार तथा खाइयोंसे घिरा हो........।"[5] युद्धके उन दिनोंमें, जब पनाहके लिए एक दुर्ग ही पर्याप्त समझा जाता था, आक्रमण करनेवाली सेनाके प्रयत्नोंको व्यर्थ करनेके लिए परकोटे और परिखा अवश्य बड़े बाधक प्रमाणित हुए होंगे।[6] हमने ऊपर देखा है कि नगरकी रक्षाका प्रबन्ध एक नागरिकके हाथोंमें था। राजधानीका[7] शासन देखनेसे अन्य नगरोंके शासनका ज्ञान हो सकता है। बहुसंख्यक अन्य[8] नगर थे और उस समय सामुद्रिक मार्गसे चलनेवाले विस्तृत वाणिज्यसे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि समुद्रके किनारे पर बसे सम्पन्न नगरोंकी भी कमी नहीं थी। इसकी चर्चा हम यथाप्रसंग करेंगे।

प्रासाद

प्रासाद एक विशाल भवन था जो भीतर[9] और बाहर[10] गृहोंसे संयुक्त था। प्रासादोंके कई नाम थे जैसे विमानपरिच्छन्द,[11] मणिहर्म्य,[12] देवच्छन्दक[13] आदि। एक प्रासादमें अनेक आगार थे। उनमेंसे एक वह्नि आगार[14] था जिसका बरामदा, ऊँचा किया हुआ था। यहीं राजा चिकित्सकों और तपस्वियों[15] या इसी प्रकारके अन्य आगन्तुकोंको[16]

---

१ पुरार्गला वही, १८.४। २ वही, १२.६६; परिघ शाकु०, २.१५। ३ खण्ड, २, अध्याय ३ और ४। ४ अध्याय १। ५ वही, ४२९—३०। ६ दुर्गाणि दुर्ग्रहाण्यासन् रघु०, १७.५२। ७ वही, २.७०, ५.४०, १४.१०, १६, २२. २४, ३८। ८ प्राग्ज्योतिष वही, ४.८१, माहिष्मती ६.४३, कुण्डिनपुर ७.३३, अयोध्या १४.२९, १६.११—१२ या साकेत १८.३६; विदिशा माल०, पृ० ८९, ९७ इत्यादि। ९ अवरोधगृहेषु शाकु०, ५.३। १० अविरलजनसंपाते देवच्छन्दकप्रासाद आरुह्य विक्र०, पृ० २६, जनाकीर्णं वही, राजकीय प्रासादके बाहर न्यायालय स्थित था। ११ मेघ० उ०,। १२ विक्र०, पृ० ६४, ६५ १३ वही, पृ० २६। १४ अग्निशरणमार्गमादेशय शाकु०, पृ० १५६;। वसंश्चतुर्थोऽग्निरिवाग्न्यगारे रघु०, ५.२५। १५ शाकु०, पृ० १५६। १६ माल०, पृ० ८८।

लेने प्रतिदिन अवकाश ग्रहण कर आया करता था। यह वह आगार था जहाँ परिवारकी यज्ञाग्नि सदा प्रज्वलित रहती और यज्ञीय गौ खड़ी रहती थी। पवित्रताके परिणाम-स्वरूप इस आगारको मंगल-गृहकी[1] अभिधा प्राप्त थी। अर्थशास्त्र[2] कहता है, "उस गृहमें जहाँ यज्ञाग्नि प्रज्वलित है बैठकर वह भिषकों और तपश्चरण-परायण तपस्वियोंके कामोंपर ध्यान देगा और ऐसा तब करेगा जब वह अपने पुरोहित तथा आचार्यके साथ उन (आवेदकों) को नमस्कार कर चुकेगा। इस प्रकार कालिदास की स साक्षीको अर्थशास्त्रने अपना लिया है। कवि-द्वारा उल्लिखित अन्तर्गृहों और बहिर्गृहोंकी व्याख्या मानसार[3] पूर्णरूपसे करता है और उनके लिए अन्तःशाला और बहिःशाला जैसे शब्दोंका प्रयोग करता है।

प्रासादसे लगा एक आनन्दोद्यान था जिसको प्रमदवन[4] कहा गया है। यह इस प्रकार बना और सज्जित था कि प्रासादकी महिलाएँ इसमें इधर-उधर अपरिचितोंकी बिना बाधाके विचर सकती थीं। मानसार इसका उल्लेख करता है और प्रासादके सिंहद्वारके किनारे इसको स्थान देता है।[5] प्रमदवनका एक भाग चिड़ियाखानाके काममें आता था और वहीं जंगली जन्तु और पालतू बन्दर रखे जाते थे।[6] यह ध्यान देने योग्य है कि राजकीय घेरोंके भीतर दूसरे जीवोंके साथ पालतू बन्दरोंके रखे जानेके सम्बन्ध में मानसारका[7] विचार उसके साथ एकीकरण रखता है। मालविकाग्निमित्रमें[8] जैसा हम पढ़ते हैं प्रासादमें कारागृह भी था। प्रासादमें कारागृह

---

१ वही। २ अग्न्यागारगतः कार्यं पश्येद्वैद्यतपस्विनाम् खण्ड, १ अध्याय १६। ३ पी० के० आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५८। ४ विक्र०, २ रंगनाथ उदाहरण देता है 'स्यादेतदेव प्रमदवनमन्तःपुरोचितं' इति त्रिकण्डी। ५ पी० के० आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५८। ६ कुमारी : वसुलक्ष्मी : कन्दुकमनुधावन्ती पिङ्गलवानरेण माल०, पृ० ८५। ७ पी० के० आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५८। ८ पातालवासं निगलपद्मावदृष्ट माल०, पृ० ६४. ७६।

के निर्माणकी बुद्धिमानीका उल्लेख करता हुआ मानसार[१] इसको निर्जन और एकान्त वृक्ष या अंतरिक्ष भागमें रखता है। यह मालविकाग्निमित्र[२] के वर्णनसे बिलकुल सादृश्य रखता है। शुक्रनीतिमें[३] प्रासाद-रचना का पूरा-पूरा व्योरा दिया गया है।

प्रासादके एक एकान्त भागमें राजाका अन्त:पुर था जिसकी रक्षा अवरोधरक्षक[४] नामक सुसंगठित रक्षा-दल द्वारा होती थी। मुग़ल बादशाहों के बादके हरमोंके समान ही राजाके अन्त:पुरकी रक्षा स्त्री-रक्षिकाएँ करती थीं जो अधिकांशमें विदेशी ग्रीसनिवासिनी वीरांगणाएँ (यवनी) थीं। ये प्रतिहारियाँ सीधे प्रतिहाररक्षी[५] या राजाके अन्त:पुरकी रक्षिका के अधीन थीं। गुप्त-शासन-कालके प्रतिहार-विभागका जो अंग महिलाओं के द्वारा संगठित था वह प्रतिहाररक्षी या प्रतिहारीके[६] अधीन था। एक बेंत का डंडा[७] उसके अधिकारका सूचक था जिसे वह धारण करती थी। यह स्पष्ट है कि वह कंचुकी, प्रधान अमात्य, अर्थशास्त्रके अन्तर्वंशिक और गुप्तोंके प्रतिहारके अधीन काम करती थी। हर्म्यका विस्तारसे जिक्र करता हुआ अर्थशास्त्र कहता है—"माता-पिता, वयस्क और क्लीबों के वेशमें अस्सी पुरुष और पचास स्त्रियाँ अन्त:पुरके निवासियोंके पवित्र या अपवित्र जीवनका ही पता नहीं लगाते थे किन्तु वे वहाँके कार्योंको इस ढंगसे चलानेकी व्यवस्था करते थे जो राजाके सुख और आनन्दकी वृद्धि करनेमें कारगर होता था।"[८] राजकीय हर्म्यमें क्लीबोंको रखनेके पक्षका समर्थन शुक्रनीति भी करती है। उसका विचार है—"जो निर्लिङ्ग हैं, सत्यवादी हैं, जिनकी जिह्वामें माधुर्य है, कुलीन हैं और जिनके हिस्से सुन्दरता पड़ी है, अन्त:पुरमें नियुक्त किये जाने योग्य हैं।"[९] क्लीवोंको नियुक्त करनेके बारेमें कालिदास कोई विशेष उल्लेख नहीं करते किन्तु

१ पी० के० आचार्य : इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ५८। २ पाता-लवसां माल०, पृ० ६४। ३ खण्ड १.४३५—५४। ४ रघु०, ७.१९। ५ वही, ६.२०। ६ शाकु०, माल०; रघु०, ६.२०, २६, ८२। ७ बेत्रग्रहणे रघु०, ६.२६, बेत्रभृता ८२। ८ खण्ड० १, अध्याय २०। ९ खण्ड २, ३७१—७२।

सम्भव है, वे उन रक्षकोंमें सम्मिलित किये गये हों जिनको उन्होंने अवरोध-रक्षक[1] कहा है।

प्रासादकी सारी व्यवस्था उपर्युक्त कंचुकीके हाथोंमें दी गई थी। अपने कर्त्तव्योंके दायित्वको वहन करनेके लिए कंचुकीको न्यायपरायण और कड़ा होना चाहिए, इसलिए वह राजाके सच्चे सेवकोंमेंसे लिया जाता था। वृद्धावस्थाकी निर्बलताओंपर उसके गम्भीर विचारोंको सुनकर अभिनयोंमें उसके प्रवेशका पता लगता है और उसके स्वरूपको उग्र जो एकान्त प्रतिष्ठा प्रदान करती है वह पाठकोंपर पड़े उसके प्रभावको बढ़ा देती है। वह हमें सूचना देता है कि जब वह पहले पहल इस पदपर नियुक्त हुआ था तब वह शायद अधेड़ था, बिल्कुल सण्ड-मुसण्ड। परन्तु ज्यों-ज्यों वह वृद्ध होता गया उसके पदकी उसकी योग्यता बढ़ती गई और यही कारण था कि बुढ़ापेमें भी उसको पृथक् नहीं किया गया। यह उसके पद्य-पाठसे स्पष्ट है—"प्रत्येक गृह-स्वामी अपनी आरम्भिक अवस्थामें धन एकत्रित करनेकी चेष्टा करता है और जब उसके सिरका पारिवारिक बोझ उसके पुत्र अपने पर उठा लेते हैं, वह आराम कर सकता है, किन्तु शरीरको नित्य नष्ट करनेवाले हमारे बुढ़ापेपर यहाँ दासत्वका ताला पड़ा है। ओह! अन्तःपुरकी दासता कितनी खलनेवाली है!"[2] इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि अन्तःपुरकी स्त्रियोंकी रक्षा और सेवाका भार भी विदूषक पर था। इस दृष्टिसे उसका पद अर्थशास्त्रके[3] अन्तर्वंशिक और अशोकके[4] शिला-लेखके स्त्र्यध्यक्ष महामात्रका समानार्थी था। वह प्रासादके व्यवस्था-विभागका प्रधान था और इस पदके चिह्न-स्वरूप वह एक सुवर्ण-दण्ड[5] (हेमवेत्र) धारण करता था।

दौवारिकका[6] विवेचन हम ऊपर कर आये हैं। वह कौटिल्यकी सूचीमें राजकीय विभागोंके अष्टादश प्रधानोंमें प्रासादके प्रधान रक्षकके[7]

१ रघु०, ७.१६। २ विक्र०, ३.१। ३ खण्ड ५, अध्याय २। ४ शिला-लेख १०.१२। ५ कुमा० ३.४१। ६ शाकु०, पृ० ६२। ७ हिन्दू पोलिटी, भाग २ पृ० १३३।

रूपमें आया है। हम निश्चित नहीं कर सकते कि वह कंचुकीके अधीन था या स्वतंत्र। किन्तु जैसा कि उसकी उपाधिसे प्रकट होता है वह प्रवेश और निष्क्रमणपर नियंत्रण रखता हुआ प्रासादके सिंहद्वारका अधिकारी था। अतः स्वतंत्र या कंचुकीका सहाधिकारी वह नहीं हो सकता। यह स्पष्ट है कि वह उसका अधीनस्थ था। प्रसंगसे ज्ञात होता है कि वह अपने से पूर्वके पदाधिकारीसे पदमें बहुत छोटा था और अर्थशास्त्रके कथनका एक बानगी-मात्र था यद्यपि उसकी विशेषता कम नहीं समझी जा सकती क्योंकि उसीकी रक्षा और देख-रेखमें प्रासादके द्वार खुलते और बन्द होते और कारोबारका प्रवेश तथा निष्क्रमण होता था। मथुराके पुरातत्व सम्बन्धी कर्जन म्युजियमकी प्रदर्शित सामग्रियोंमें प्रवेश-द्वार पर दौवारिक की पूरे कदकी एक सजीव-सी प्रस्तरमूर्ति हाथमें दण्ड लिये खड़ी देखी जा सकती है। जिस प्रकार हर्म्यमें कंचुकीके कर्त्तव्य-पालनमें प्रतिहारी का सहयोग होता था उसी प्रकार दौवारिककी[1] समकक्षा दौवारिका काम करती थी।

ऐसा प्रतीत होता है रक्षा-विभागका प्रधान नागरिक था जो राजधानीके रक्षा-विभागसे सम्बद्ध था। नागरिक, अर्थशास्त्रका नागरक, शायद उत्तरकालीय कोष्टपालके सदृश नगरके रक्षक व्यवस्थाका प्रधान था। शाकुन्तलमें हम इस अधिकारीको अपने रक्षकों (रक्षिणः) के साथ एक अपराधीको न्यायालयमें लिये जाते[2] देखते हैं। विक्रमोर्वशीय में भी वह नगरकी शासन-व्यवस्थासे सम्बन्ध रखता है। वहाँ भी राजा उसको नगरके रक्षा-विभागका कार्य सौंपता है और आदेश करता है—'जब वह पक्षी अपराधी (राजाकी सोनेकी जंजीरको ले उड़नेवाला पक्षी) संध्याकालमें निवास-वृक्षके ऊपर अपने नीड़में[3] जाता है, उसका पीछा

रक्षा-विभाग

१ रघु०, ६.५९। २ शाकु०, पृ० १८२–१८६। ३ विक्र०, पृ० १२४ मद्वचनादुच्यन्तां नागरिकाः सायं निवासवृक्षाग्रे विचीयतां विहगाधमः। मिलाकर शाकु०, ५ नागरिकवृत्त्या संज्ञापयैनाम्, सुष्टु आर्य नागरिकः खल्वसि भी।

करो।' यहाँ 'नागरिकाः' बहुवचनान्त पदका प्रयोग किया गया है जो नगरके शासनकी सारी व्यवस्थाको बतलानेके लिए है। विक्रमोर्वशीयमें राजा जिस नागरिककी ओर संकेत करता है वह शाकुन्तलके नागरिकसे उच्च श्रेणीका अधिकारी भाषित होता है। शाकुन्तलका नागरिक प्रहरियों के ऊपरका एक साधारण अधिकारी-सा लगता है। जो रक्षक शाकुन्तलके नागरिकका अनुगमन करते हैं, पहरेदारोंके खास ढंगके हैं और उनका मस्तिष्क और कार्य आजकलके पुलिसवालोंसे बहुत कुछ मेल खाता है। उनमेंसे एकके हाथ एक अभियुक्तके सिरपर वधके[1] फूल लटकाने के लिए खुजला रहे हैं। परन्तु जब अभियुक्त पुरस्कारके साथ मुक्त कर दिया जाता है उनमेंसे एक पुरस्कारके रुपयेको 'ईर्ष्यासे'[2] देखने लगता है और अर्थपूर्ण भाषामें धूर्ततासे कहता है कि नागरिकने धीवरका खूब उपकार किया। इसपर धीवरने आधे पुरस्कारको उनमें बाँट दिया जो उस 'सुमन-मूल्य'[3] के लिए था जिसको उनमेंसे एकने बिलकुल उचित और न्याय्य[4] समझा था और इसपर स्वयं नागरिकने कहा, "धीवर, तुम महान् हो। अब तुम मेरे हार्दिक मित्र हो। मद्य हमारी इस प्रथम मित्रताका साक्षी हो, अतः हम मद्य-विक्रेताकी दुकानमें चलें चलें।"[5] ये उद्धरण हमें बतलाते हैं कि रक्षा-विभागका नैतिक बल कोई उच्च नहीं था।

परन्तु इसपर भी एक बात ध्यानमें रखने योग्य है कि रक्षक तबतक उस अपराधी समझे गये धीवरके प्रति अत्यन्त कठोरताका व्यवहार करते रहे जब तक न्यायालयने उसके सम्बन्धमें कोई निर्णय नहीं दिया, यहाँ तक कि वे उसे मृत्यु-दण्डकी धमकियाँ भी दे रहे थे। न्यायके उद्देशके

---

१ प्रस्फुरतो मम हस्तावस्य वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम् शाकु०, पृ० १८५। २ असूयया पश्यति वही, पृ० १८६। ३ सुमनोमूल्यं वही, पृ० १८७। ४ एतावद्युज्यते वही, पृ० १८८। ५ धीवर, महत्तरस्त्वं प्रियवयस्क इदानीं मे संवृत्तः। कादम्बरीसखित्वमस्माकं प्रथमशोभितमिष्यते। तच्छौण्डिकापणमेव गच्छामः। वही।

निराकरणके लिए उन्होंने उससे (उत्कोच) घूस नहीं लिया। धीवरसे मिला द्रव्य उत्कोच नहीं है क्योंकि यह उसके पुरस्कारमेंसे उस समय स्वीकृत किया गया है जब उसके निरपराध होनेका निर्णय हो चुका है और यह न्यायालयमें मुक़द्दमेकी सुनवाईके पूर्वका जाल करनेका घूस नहीं है। इसी प्रकारकी बख्शीसोंके कारण न्यायके उद्देशमें कोई हानि नहीं होती थी। कारण, यह द्रव्य अपराध-मुक्त धीवरकी प्रसन्नताके फल-स्वरूप नागरिकके पास आया था, उसकी उद्विग्नताके कारण नहीं।

विद्यालयमें धर्म-शास्त्रोंके साथ-साथ नीति-शास्त्रकी शिक्षा भी मिलनेसे राजाको क़ानूनका पूरा ज्ञान हो जाता था जिसकी सहायतासे उससे न्याय करनेकी आशा की जाती थी। अपराधियोंको अपराधके अनुसार[1] दण्ड देनेके लिए शास्त्रोंकी सूक्ष्मता तक पहुँचनेवाली राजाकी तीव्र बुद्धि होनी चाहिए। यही एक वस्तु है जिसके द्वारा उसमें अपराधकी मात्राके अनुसार क़ानूनी उपचार[2] करनेका ज्ञान आ सकता था। राजा जनताका गोप्ता था और वह न्यायके मन्तव्योंके अनुकूल ही क़ानूनका प्रयोग करता था। वह क़ानूनका उद्‌गम नहीं, किन्तु उसका संचालक था। कालिदासकी पुस्तकोंमें हमें एक भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे राजाका क़ानून बनानेमें किसी प्रकारका हाथ होना सिद्ध हो। राजाके सिंहासनासीन होनेके पूर्व राजनियम थे और राज्याभिषेकके अवसर पर शपथ लेते समय उसने उनका अनुसरण करनेकी प्रतिज्ञा की थी। महाभारतमें आये राज्याभिषेकके शपथके शब्द हैं, "जो धर्म नियुक्त नीतिके अनुकूल और राजनीतिके विरुद्ध नहीं है उसके अनुसार मैं निःशंक हो आचरण करूँगा। और मैं कभी स्वेच्छाचारी नहीं हूँगा।"[3] शुक्रनीति

नियम तथा न्याय

१ यथापराधदण्डानाम् : रघु०, १.६। २ शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिः वही, १९। ३ यश्चात्र धर्मो नियुक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः। तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन॥ शान्ति पर्व, (कल०) ६०.१०७; कुम्भकोनम, ६८, ११६।

राजाको धर्मशास्त्रोंके[1] अनुसार क़ानूनी अभियोगोंका निर्णय करनेका आदेश देती है। सर्वशक्तिमान् हिन्दू धर्म-शास्त्रकी मर्यादासे वह ऊपर नहीं उठ सकता था। धर्मशास्त्रों और नीतिशास्त्रोंके अतिरिक्त महाभारतके राजानुशासन पर्वमें कथित राजधर्म भी था। हमें जातकोंमें[2] भी राजाओंके लिए सुवर्ण-पटपर अंकित राज-नियमका उल्लेख मिलता है। सामाजिक व्यवस्थाओंके वर्णाश्रम धर्मका प्रहरी होनेके कारण वर्णाश्रमके नियमोंके अनुसार उसको लोगोंके उचित आचार-व्यवहारपर दृष्टि रखनेके लिए सदा जाग्रत रहना था। उसे देखना था कि इन नियमों का अच्छी प्रकार पालन होता है और इनका उल्लंघन नहीं होता। सुदक्ष सारथी-द्वारा संचालित रथके समान प्रजा धर्म-पथसे रेखाकी कल्पित चौड़ाई-मात्र भी विचलित नहीं होती थी और शास्त्रोंकी[3] निर्धारित लीक पर एकाग्र हो चलती थी। दुष्टोंके शासन करनेवालेके रूपमें राजा अपराधियोंके शासक पाश-धारी वरुण देवताके समान था।[4]

शासन (दण्डनीति) की कला दण्डकी नीति थी। इसलिए राज्य-व्यवस्थाका सारतत्व दण्ड-नियम ही था। राज्यके एक मात्र अस्तित्वके लिए अपराधियोंका दमन करना और उन्हें न्यायाधीशके सामने उपस्थित देखना आवश्यक था[5]। एक निश्चित तथा पूर्ण क़ानूनके अनुसार दण्ड-विधान होता था, जिसमें अपराधका, गुरुताके विचारसे वर्गीकरण होता था[6]। निष्काम भावसे और रजोगुणसे रहित हो (रजोरिक्तमनाः)[7] राजा प्रजाका शासन करता था। राजाके मनमौजी, उद्दण्ड तथा अहंकारी, विचाररहित और अनुचित आचरणसे राजाके

---

१ अध्याय ४, विभाग ५. ६—११। २ खण्ड ५, पृ० १२५। ३ रघु०, १.१७। ४ वही, २.६। ५ स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान् वही, १.२५। नियमनदसतां ६.८; अपराधी शासनीयः विक्र०, पृ० १२३। ६ यथापराधदण्ड रघु०, १.६। ७ राज्यं रजोरिक्तमनाः शशास वही, १४.८५। मिलाकर भी शाकु०, ६.२३।

रजोगुणका पता चलता है। उसे निष्पक्ष कार्य करना था। उसी प्रकार शुक्रनीतिकी मान्यता है कि राजाको धर्म-शास्त्रोंके[1] आदेशानुसार अपने को लालच और भयसे मुक्त कर क़ानूनी अभियोगों (व्यवहारों) का निरीक्षण करना चाहिए। अपने हाथोंमें दण्ड-शक्ति धारण कर राजा बुरे मार्गमें जानेवालों (**विमार्गप्रस्थितानाम्**) को नियंत्रित करता था (**नियमयसि**), झगड़ोंको तय करता (**प्रशमयसि विवादम्**) और इस प्रकार रक्षण-कार्यका सम्पादन करता था। यह समझा जाता था कि जब सम्पत्ति आती है तो सामान्यतः प्रत्यक्ष मित्रोंकी कमी नहीं रहती किन्तु राजा तो प्रजाका सदा स्नेही स्वजन था[2]। अपने नियम-न्यायके[3] मंत्री तथा दूसरे लोगोंके साथ राजा न्यायालयमें विराजमान होता था। जैसा कि बहुवचनान्त '**अस्माभिः**' शब्दके प्रयोगसे प्रकट होता है। शुक्र-नीतिका आदेश है—"राजा दो पक्षोंके मामलोंपर अकेला कभी न तो विचार करेगा और न उनके वक्तव्योंको सुनेगा ही। न तो बुद्धिमान् राजा या न मंत्री ही गुप्त रीतिसे मुकद्दमे देखेंगे।"[4] आगे वही कहती है; "उसे अपने मंत्रियोंके साथ प्रजाके आवेदन तथा अनुरोधोंको सुनना चाहिए"[5]। अर्थशास्त्र भी राजाको तदनुरूप ही आदेश करता है—"त्रिशास्त्रों (त्रिविधा) में विज्ञ पुरुषोंके साथ किन्तु अकेला नहीं...।"[6] इसके साथ शुक्रनीति यह भी जोड़ देती है कि उसे प्रधान न्यायाधीश, अमात्य, ब्राह्मण और पुरोहितके साथ क़ानूनी अभियोगोंको ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए।[7]

प्रासादके[8] बहिर्भागमें न्यायालय होता था। वहाँ शास्त्र द्वारा निर्धारित निश्चित समयपर (काले) राजा आसीन होता था और

---

१ अध्याय ४, विभाग ५.६–११। २ शाकु०, ५.८। ३ मद्वचनात् इत्यादि, वही, पृ० १९८ पूर्व उदाहृत। ४ अध्याय ४, विभाग ५.१२–१३। ५ अध्याय १.१६६। ६ खण्ड १ अध्याय १९। ७ अध्याय ४ विभाग ५.६–११। ८ विक्र०, पृ० २६।

नगरवासियोंके कार्योंको[1] देखता था। यह ध्यानमें रखा जा सकता है जैसा अन्य स्थानमें उद्धृत किया गया है कि अर्थशास्त्र तथा दशकुमारचरित के अनुसार राजाका दिन आठ भागोंमें विभक्त था जिनमेंसे दूसरा भाग अनुरोधके मुक़द्दमोंको सुननेके लिए नियत था। प्रजाके मामलोंकी[2] प्रवृत्तिको आलोचनात्मक दृष्टिसे समझने और उनपर अपना निर्णय देनेके लिए राजा न्यायासन पर विराजमान होता था। वादी तथा प्रतिवादियोंके पेचीदे मामलोंको वह स्वयं बड़ी सतर्कताके साथ निरीक्षण करता था जो सन्देहजनक होनेके कारण सावधान विश्लेषणकी[3] आवश्यकता रखते थे।

न्याय-पीठ व्यवहारासन,[4] धर्मासन[5] और कार्यासन आदि अनेक नामोंसे लक्षित किया जाता था। व्यवहारासन शब्द राजाकी यथार्थ योग्यताका बोध कराता है जो वह क़ानूनके विचार-बिन्दुओंपर अपना निर्णय स्थापित करता हुआ क़ानूनी न्यायके साधनमें प्रदर्शित करता है। शुक्रनीति व्याख्या करती हुई कहती है, "व्यवहार वह है जो भलेको बुरेसे भिन्नकर राजा एवं प्रजाके गुणोंकी वृद्धि करता है और उनके आपसके स्नेह-सूत्रको दृढ़ बनाता है।"[6] मध्याह्नके[7] पूर्व काल-विभागके व्यवहार के घंटोंमें राजाके न्यायाधीशके रूपमें न्यायासनारूढ़ होनेका यह संकेत करता है। धर्मासन न्याय-कार्यकी धार्मिक प्रवृत्ति (धर्मकार्य)[8] का बोधक है और कार्यासन बतलाता है, न्याय-साधनमें अदम्य उत्साह और प्रयत्न। न्यायालयोंमें लोग अधिक जाते थे और 'अविरलजनसम्पात'[9] तथा 'जनाकीर्णम्'[10] जैसे वाक्यांश आधुनिक न्यायालयोंके दृश्य प्रकट करते हैं जहाँ मुक़द्दमेबाज़ोंका समुद्र उमड़ रहा था।

---

१ स पौरकार्याणि समीक्ष्य काले रघु०, १४.२४। २ वही, १७.३९, प्रकृतीरवेक्षितुं व्यवहारासनमाददे वही, ८.१९। ३ वही, १७.३९। ४ वही, ८—१८। ५ विक्र०, पृ० २६, ३०; शाकु०, पृ० १५४, १६४। ६ अध्याय ४, विभाग ५. ७—८। ७ शाकु०, पृ० १५४, ५.४,५। ८ वही, पृ० १५४। ९ विक्र०, पृ० २६। १० वही।

कालिदास अपराधी नियमकी कठोर धाराओंका उल्लेख करते हैं। कविकी रचनाओंसे जैसा विदित होता है अपराधी-नियमके अनुसार चोरी के अपराधका दण्ड मृत्यु[1] थी। शाकुन्तलका धीवर केवल चोरकर्मका अपराधी था। हाँ वह चोरी राजकीय रत्नकी थी, फिर भी उसे शूलीपर चढ़ाकर, श्वानसे नुचवाकर या गृध्रोंका शिकार बनाकर मार डालनेकी बात समझी जा रही थी[2]। चोरीके लिए मृत्युदण्ड मानव धर्मशास्त्र[3] के अनुकूल है जिसमें चौरकर्मके लिए तादृश दण्ड-विधान हुआ है। अठारहवीं शताब्दी तक इङ्गलैंडमें भी यही अवस्था थी। सुवर्णकारकी दुकानमें[4] केवल प्रवेश करनेके लिए भी अर्थशास्त्र प्राणदण्डका आदेश करता है। प्राण-दण्डकी सजा, सजा पाये हुए व्यक्तिको शूली[5] देकर और उसके निष्प्राण शरीरको कुत्तों[6] और गीधोंको[7] खानेके लिए अर्पित कर कार्यान्वित की जाती थी। शूली देनेके पूर्व मृत्यु-दण्डके अपराधीको फूलोंसे सजानेकी प्रथा थी।[8] हत्याका दण्ड क़ानूनके अनुसार मृत्यु था[9]। प्राण-दण्ड देनेके पहले प्राण-दण्ड विधायक अधिकारीके पास आज्ञा-पत्र अथवा राजकीय[10] लेखका पहुँचना आवश्यक था।

अपराधी-नियम

उपर्युक्त कथनोंसे यह स्पष्ट होगा कि अपराधी-नियम कठोर थे और क़ानूनके अपराधपूर्वक भंगके लिए दण्ड-विधान निष्ठुर था। मालविकाग्निमित्रके एक दृश्यसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अपराधिनी

---

१ यमसदनं प्रविश्य प्रतिनिवृत्तः शाकु०, पृ० १८६ वधार्थं १८५ आत्मनो वधमर्हता विक्र० ५.१। २ शूलावबतार्य शाकु०, पृ० १८७, गृध्रबलिर्भविष्यसि शुनोमुखं वा द्रक्ष्यसि वही, पृ० १८६। ३ मनुस्मृति, ८। ४ खण्ड २ अध्याय १३। ५ शूलावबतार्यं शाकु०, पृ० १८७। ६ वही, पृ० १८६। ७ वही। ८ वधार्थं सुमनसः पिनद्धुम् वही, पृ० १८५। ९ इत्थं गते गतघृणः किमयं विधत्तां वध्यस्तवेत्यभिहितो वसुधाधिपेन रघु०, ९.८१। १० पत्रहस्तो राजशासनम् शाकु०, पृ० १८६।

स्त्रियोंको भी हथकड़ियाँ और बेड़ियाँ दी जाती थीं।[1] अपराधी-नियम की कठोरता के होते हुए भी चोरों[2] (भाटकार) और ठगों[3] (गडभेदक) और पथ-दस्युओंसे लोग अपरिचित नहीं थे और कविका यह दावा कि चोरी व्यवहारमें नहीं केवल पुस्तकोंके लेखमें ही पायी जाती थी[4], बुरी तरह आलोचनाके सामने आ खड़ी होती है, यदि हम इसके किसी प्राचीन राज-तंत्रमें घटित नहीं मानें। मालविकाग्निमित्रका एक श्लोक[5] पथिकोंको लूटनेवाले मार्ग-दस्युओंका उल्लेख करता है जो हथियारबन्द वणिकोंको भी अपने बलशाली संगठनसे परास्त कर देते थे। वर्णन है कि "असंख्य पथ-दस्यु आ निकले जिनके वक्षःस्थल बंधे हुए थे और जिनके शिरस्त्राणके मयूर-पंख उनके कानों तक लटक रहे थे। इनके प्रथम आक्रमणका सामना नहीं किया जा सकता था।"[6] सीमापर होनेवाली लूटका एक चित्र इसको कह सकते हैं।

फिर भी अपराधी-क़ानूनकी कठोरताका अनायास ही वर्णन किया जा सकता है। कालिदास उस युगके कारनामोंका चित्र उपस्थित कर रहे थे जो उनके कालमें भी अति प्राचीन समझे जाते थे और इन कारनामोंके आख्यान स्वभावतया महाकाव्योंसे लिये गये थे। इसलिए सम्भवतः काल-निर्णयके दोषसे बचने तथा उससे अपनेको ऊपर रखनेके लिए उन्होंने प्राचीन परिस्थितियोंके साथ मानवधर्मशास्त्र तथा कौटिल्य अर्थशास्त्र द्वारा निर्धारित नियम-व्यवस्थाका संयोग करनेका प्रयत्न किया है। इसी कारण वे बार-बार उन्हीं राजनीति तथा नियमके ग्रन्थोंका हवाला देते हैं जो उनके समयमें पुराने समझे जाते और कदाचित् बहुत कम अंशमें ही बरते जाते थे। अन्यथा चोरीके अपराधके लिए प्राण-दण्डकी सज़ा यदि अगली पंक्तियों—जैसे उनके अधिकारपूर्ण आदेशके साथ पढ़ी जायँ

१ निगलपद्यावदृष्ट माल०, पृ० ६४, निगलबन्धने न कृता पृ० ७६। २ शाकु०, पृ० १८३। ३ वही, पृ० १८४। ४ श्रुतौ तस्करता स्थिता रघु०, १.२७। ५ माल०, ५.१०। ६ वही।

जो नितान्त निरर्थक और बे-मेल होंगी ।—"कठोर दण्ड देनेवाला प्रजाकी दृष्टिमें गिर जाता है और जो दण्डको कोमल बनाता है वह उनकी घृणाका पात्र बनता है ।'[१] इस प्रकार वे राजाको अपराधके लिए दण्डका निश्चय करते समय मध्यम मार्गका अनुसरण करनेका आदेश करते हैं । अपराधी को दण्ड देनेमें उनका आदर्श है, यथापराधदण्ड, जिसका कोई अर्थ नहीं रह जाता यदि हम विचार करें कि वे अपनी कथा-वस्तुमें कुछ पुराने आख्यानोंको स्थान दे अपने तथा अपने कालकी वास्तविकतासे दूर प्रकट करते हैं । प्राण-दण्डकी बात व्यंग्यके रूपमें और अधिक पुरानी न्याय-पद्धतिका परिहास करनेके लिए कही गई हो सकती है जो अपराधके भारी-पनके साथ संतुलित नहीं होता था और निरकुश शासनकी कठोरता का चित्र खींचनेवाला कविका यह व्यंग्य अभिनयकी दर्शकमण्डली को अवश्य रुचिकर प्रतीत होता होगा ।

कारा

राज-प्रासादके एकान्त भागमें पृथ्वीके नीचे एक अन्धकूपमें कारा[२] का निर्माण होता था जैसा 'पातालवासम्'[३] पदसे स्पष्ट होता है । हम देख चुके हैं कि मालविकाग्निमित्र और मानसार प्रासादके बहिर्प्रान्तमें काराके होनेका उल्लेख करते हैं । निगलपथा[४] और निगलबंधने[५] में हमें जंजीर और कड़ियोंका हवाला मिलता है ।

व्यवस्थानियम

कालिदासकी रचनाओंमें तुलनात्मक दृष्टिसे व्यवस्था-नियमोंका, बहुत कम जिक्र आता है । शाकुन्तलके छठे अंकमें इसका एक अनोखा और निश्चित संकेत पढ़नेको मिलता है जहाँ राजा नागरिकोंके मामलोंकी जो उसके पास[६] आये हैं, जाँच करनेका आदेश न्याय-मंत्रीको करता है और जाँचके पश्चात् एक लिखित विवरण उपस्थित करनेकी

---

१ न खरो न च भूयसा मृदुः रघु०, ८,९ । २ कारागृह रघु०, ६.४० । ३ माल०, पृ० ६४ । ४ वही । ५ वही, पृ० ७९ । ६ पृ० १९८, पाठ पूर्व उदाहृत ।

भी आज्ञा देता है। कार्यकी गुरुताके कारण जिस एक मामलेकी[1] सुनवाई उस दिन मंत्री कर सका उसका वह इस प्रकार विवरण देता है:—

"समुद्र-मार्गसे व्यापार करनेवाले धनमित्र नामक एक प्रमुख वणिक् की मृत्यु जल-पोतकी एक दुर्घटनामें हो गई। लोगोंका कहना है कि उस विचारेके कोई सन्तान नहीं है। उसके धनका भण्डार राजाका होता है।"

इस विवरणको पढ़नेके बाद राजा मंत्रीको यह ज्ञात करनेका आदेश देता है कि उसकी पत्नियोंमेंसे कोई बच्चा जननेवाली तो नहीं है। जाँच करनेपर पता चलता है कि धनमित्रकी पत्नियोंमेंसे एकका हाल हीमें पुंसवन संस्कार हुआ है। राजा धनमित्रकी सम्पत्ति उसके परिवारको लौटा देनेकी आज्ञा मंत्रीको देता हुआ कहता है, निश्चय ही गर्भ अपनी पैतृक सम्पत्तिका अधिकारी है।'[2] उपर्युक्त उद्धरण इस बातका भी साक्षी है कि सुने गये मामलोंका विवरण नियमित रूपसे रखा जाता था। यह साक्षी कालिदासकी कोई विशेषता नहीं है। जातक[3] भी 'विनिच्छय-पुस्तक' द्वारा उसका उल्लेख करते हैं।

ऊपर के विवरणसे यह प्रकट होता है कि मरे हुए व्यक्तिकी सम्पत्ति उसके पुरुष उत्तराधिकारीके अभावमें राज-कोषके हवाले हो जाती थी।

विधवाका दायाधिकार

यह भी प्रकट होता है कि विधवाको अपने पतिकी सम्पत्तिपर अपना कोई वैधानिक दाय अधिकार नहीं प्राप्त था। मंत्रीने धनमित्रके पुत्र होनेके सम्बन्धमें शायद जाँच की होगी और यह पता चलनेपर कि उसके कोई पुत्र नहीं है उसने निर्णय किया था कि वह सम्पत्ति राज-कोषमें जानी चाहिए। सम्पत्तिके हस्तान्तरित करने के सम्बन्धमें कालिदास कुछ शीघ्रता कर जाते हैं। कारण, वे पुत्ररहित विधवाकी सारी सम्पत्ति राजकोषको दिला देते हैं। वास्तवमें प्रायः सभी स्मृतियाँ किसी पुरुषकी सम्पत्तिका प्राप्तकर्त्ता राजाको बतलाती हैं,

---

१ शाकु०, पृ० २१६, पाठ पूर्व उदाहृत २ ननु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति—वही। ३ खण्ड ३, पृ० २९२।

केवल उसी अवस्थामें जब उसके वंशमें कोई उत्तराधिकारी नहीं रह जाता। इस प्रकार नारद[1] राजाको तभी यह अधिकार देता है जब पुत्र, पुत्री, नप्ता सकुल, बान्धव और सजातीय---इनमेंसे कोई न हो। वशिष्ठ,[2] याज्ञवल्क्य[3] और विष्णुके[4] विचार इनसे और भी उग्र हैं और वे छः प्रकारके दायादों की नामावलीके बाद मरे हुए व्यक्तिकी सम्पत्ति राजाके हाथोंमें जानेके पूर्व आचार्य तथा उसके शिष्यों को भी सन्निविष्ट करते हैं। नारद[5] विधवाको केवल निर्वाहका अधिकार देता है और सो भी उस अवस्थामें जब वह पतिव्रता रहती है और अपने मृत पतिकी शय्याको कलुषित नहीं होने देती। यह ध्यान देनेकी बात है कि याज्ञवल्क्य,[6] विष्णु[7] और बृहस्पति[8] विधवा को उसके दिवंगत पतिकी सम्पत्तिकी सर्वप्रथम अधिकारिणी बनाते हैं। विधवाके पक्षका समर्थन बृहस्पति बल देकर करता है। वह कहता है कि विधवा अपने पतिकी सर्वसम्मत अर्द्धांगिनी (शरीरार्द्ध)[9] है और इसलिए जब पति मर जाता है तो उसका आधा शरीर उसकी विधवाके रूपमें सजीव रहता है। वह पूछता है, ऐसी दशामें किस प्रकार अर्द्धजीवित पतिके अधिकारोंका कोई अपहरण कर सकता है?[10] फिर वह बल देकर कहता है कि सभी दायादोंकी उपस्थितिमें पातिव्रत्यका पालन करनेवाली विधवा ही सारी चल एवं अचल सम्पत्तिकी[11] यथार्थ उत्तराधिकारिणी[12] होती है। यदि विधवाके दाय-भाग ग्रहण करनेके मार्गमें मृत पतिके सम्बन्धी

---

१ नारदधर्मशास्त्र, दायभाग, त्रयोदश व्यवहारपद, ५०--५१। २ वसिष्ठधर्मशास्त्र, १७ वाँ अध्याय, ८१--८२। ३ याज्ञवल्क्यस्मृति, दायभाग प्रकरण, ८, १३५--३६। ४ उसीकी टीकामें उल्लिखित। ५ नारदधर्मशास्त्र, दायभाग, १३, २६। ६ दायभाग, ८, १३५। ७ उसीकी टीकामें उल्लिखित। ८ वही। ९ वही, शरीरार्धं स्मृता भार्या। १० जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्। वही। ११ जंगमं स्थावरं हेमं रूप्यधान्यरसाम्बरम् वही। १२ पत्नी तद्भागहारिणी वही।

आ खड़े होते हैं, तो वह राजाको आदेश करता है कि वह उनको वही दण्ड दे जो चोरोंको दिया जाता है ।[1]

साक्षी

साक्षीके मामलोंमें तत्सम्बन्धी वातावरण और साक्षी देनेवालेके आचरणके परीक्षणमें उचित सावधानी बरती जाती थी । शाकुन्तलके एक पात्रके मुखसे निकली व्यङ्ग्योक्तिसे[2] यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्वभावतया ही धार्मिक व्यक्तिकी साक्षी कुटिलसे अच्छी समझी जाती थी :—उस व्यक्तिके वचन, जिसको जन्मसे कभी शठताकी शिक्षा नहीं मिली है, प्रमाण नहीं हैं, उनकी बातोंका ही प्रमाण मान लो जो दूसरोंको छलनेकी विद्याके अध्ययन करनेवाले हैं ।

चोरी गई वस्तुओंमेसे कुछ भी यदि किसीके पास पाई जाती तो वह सारीकी सारी पूर्ति करनेको बाधित किया जाता था । चोरीकी सम्पत्ति कहाँ है यह जाननेके लिए इस प्रक्रियाका प्रयोग होता था । ऐसा करनेका यह अभिप्राय होता था कि "जिसके पास चोरी गई सम्पत्तिका एक अंश निकलता है उसे जितना कुछका दावा किया जाता है सबको लौटाना ही होगा ।"[3] इस उदाहरणमें जिस पद्धतिका आश्रय लिया गया है वह क़ानूनके आधारपर आश्रित है । जब किसी चोरके पाससे चोरीकी कुछ वस्तुएँ प्राप्त की जाती हैं तो वह क़ानूनके द्वारा सारे मालको ला देनेको लाचार किया जाता है—यहाँ उसके सारी वस्तुओंको चुराने की मान्यता काम करती रहती है ।

---

१ चौरदण्डेन शासयेत् वही ।

२ आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यस्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य ।
परातिसंधानमधीयते यैर्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः ।।शाकु., ५.२५।

३ यदि हंसगता न ते नतभ्रूः सरसो रोधसि दृष्टपथं प्रिया मे ।
मदखेलपदं कथं नु तस्याः सकलं चोरगतं त्वया गृहीतम्। विक्र० ४.३२।
हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्या त्वया हृता ।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ।। वही, ३३ का भी ।

न्याय-सम्पादनकी उपर्युक्त विधि ध्यान देने योग्य है। प्रजाके हित-साधनकी राजाकी चिन्ता प्रशंसनीय है। उसकी घोषणा थी कि प्रजा-जनमें यदि किसीका कोई मर गया हो तो उसके स्थानपर वह उसे ही अपना सम्बन्धी समझे।[१] उनकी हित-कामनाके लिए वह इतना इच्छुक था! व्यवहारमें सदा ही बन्धुत्वका भाव था। कुमारगुप्तके[२] आश्रयी बन्धुवर्माके प्रति कहे गये एक वाक्यांशमें वही भाव (**बन्धुरिव प्रजानाम्**) निहित है। उसी शिला-लेखमें अन्य स्थानपर एक प्रजा-मंडल सदस्योंको अपने पुत्रके समान (**सुतवत् प्रतिमानिताः**)[३] राजाके माननेका उल्लेख है। प्रजाके प्रति न्याय करने और अपराधियोंको उचित दण्ड देने तथा अपराधितोंके लिए क़ानूनी दोष-निवारण और आरामका प्रबन्ध करनेमें जब राजा इतना जागृत था तो उस देशमें अपराधोंके बढ़नेका बहुत कम अवसर होगा ही। सामाजिक अपराधोंके कारण जो रोग उत्पन्न होनेवाले समझे जाते हैं वे लुप्त हो जाते हैं (**जनपदे न[४] गदः**)। राज्यमें स्वभावतः शान्ति एवं समुन्नतिका विस्तार होगा और कवि-द्वारा कथित एक आदर्श शासककी उत्साहपूर्ण घोषणा सत्यतासे दूर नहीं होगी :—"पृथ्वीपर जब उसका राज्य-चक्र चल रहा था, तो वायु भी विहार-भूमिके अर्द्ध मार्गमें निद्राको प्राप्त मद्यपान करनेवाली स्त्रियोंके वस्त्रको अस्त-व्यस्त करनेका साहस नहीं कर सकता था।"[५] इसलिए स्वर्गके राज्यको एक उन्नत शासन मात्र समझना नितान्त संगत था।[६]

अर्थ

राजस्व-विभागके मंत्रीकी निरीक्षकतामें राज्यकी आय गणन-कार्यालयमें लायी जाती थी, उसकी जाँच होती थी और वह कोषमें जमा कर दी जाती थी। अर्थशास्त्र एक गणन-विभागका उल्लेख करता है और "गणन-कार्यालयमें गणन-व्यवस्था"[७] शीर्षक एक अध्यायमें इसपर विशद प्रकाश डालता है। मौर्य अशोक भी

१ शाकु०, ६.२३। २ कुमारगुप्त और बन्धुवर्माके मन्दसोर शिला-लेख, श्लोक २६। ३ वही, श्लोक १५। ४ रघु०, ६.४। ५ रघु०, ५.७५। ६ रिद्धं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः वही, २.५०। ७ भाग २, अध्याय ७।

अपने एक शिला-लेख[1] में गणना-विभागका संकेत करता है जिसका होना बहुत कुछ सम्भव है ।

राजस्व प्राप्त होनेके जिन साधनोंका उल्लेख कालिदास करते हैं उनका विवेचन निम्नलिखित शीर्षकोंमें किया जा सकता है :—

१. भू-कर, २. सिंचाई, ३. मादक द्रव्य, ४. राजकीय एकाधिकार तथा अन्य कार्य-कलाप, ५. राज-कर, ६. विजय, ७. उपहार तथा भेंट और ८. राज्य-कोषमें आनेवाली अनधिकृत सम्पत्ति ।

राज्य प्रजाके जन-धनकी रक्षा करनेके प्रतिफल-स्वरूप उससे भूमिकी उपजका छठा अंश लेता था ।"[2] विघ्नोंसे तप तथा लुटेरोंसे धनकी रक्षा करनेवाले राजाको आश्रमवासी और सभी वर्णोंके लोग अपनी योग्यताके[3] अनुसार अपनी प्राप्तिका छठाँ भाग अर्पित करते थे ।" शाकुन्तल

भू-कर

राजासे (भागधेयम्)[4] ग्रहण करता है जो करका द्योतक है । शब्दार्थमें कोई परिवर्त्तन किये बिना भाग और धेयके संयोगसे यह शब्द बना है । कौटिल्यके[5] अनुसार भूमिकी उपजका वह अंश भाग है जो राज्यको दिया जाता है । मनुका आदेश है कि यदि राजा प्रजाका अच्छी प्रकार रक्षण करे तो वह उनसे छठा[6] भाग लेगा । उसका यह भी आदेश है कि भूमिकी उर्वरताके[7] अनुसार उपजका छठाँ, आठवाँ या बारहवाँ भाग तक प्रजासे राजाको ग्रहण करना चाहिए । जहाँकी सिंचाई क्रमशः तालाबों, नहरों और कूओं तथा वर्षा और नदियोंसे[8] होती है वहाँके लिए शुक्रनीति अधिक

---

१ परिसापि युते आजपयिसति गणनायं हेतुतो च व्यंजनतो च चतुर्दश शिला-लेख, ३ गिरनर । २ षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः रघु०, २, ६६, मिलाकर भी वही, २.८, १७.६५; शाकु०, पृ० ७६, २.१३, ५.४ । ३ तपो रक्षन्सविघ्नेभ्यस्तस्करेभ्यश्च सम्पदः । यथा स्वमाश्रमैश्चक्रे वर्णैरपि षडंशभाक् । रघु०, १७.६५ । ४ अंक २ । ५ अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय ६ । ६ सर्वतो धर्म षड्भागो राज्ञो भवति रक्षसः मनुस्मृति, ७ । ७ वही, १३० ।

कठोर हो जाती है और तीसरा हिस्सा, चौथा हिस्सा अथवा आधा वसूल कर लेनेकी सम्मति देती है। उसकी दृष्टिमें छठाँ भाग तो अनुर्वर और पथरीली भूमिसे[1] लेना चाहिए। नारदका वचन है, "राजाकी करसे आय और वह जो भूमिकी उपजका छठाँ भाग कहा जाता है दोनों मिलकर राजस्वका निर्माण करते है, जो प्रजाकी रक्षा करनेका पुरस्कार है।"[2] परन्तु कालिदास षष्ठांशके सिद्धान्तको ही विहित मानते हैं। इसको वे राजाकी जीवन-निर्वाह[3] आय (वृत्तिः) का नाम देते हैं। आयका सर्व-प्रथम साधन भू-कर था जो कड़ाईसे वसूल किया जाता था। इसका संग्रह इतना पूर्ण था कि तपो-भूमिके निवासी तपस्वियोंके आध्यात्मिक अर्जन भी इसके अपवाद नहीं थे और एक स्थानपर कहा गया है कि जो धन वर्णों अथवा सामाजिक व्यवस्थाओंसे संग्रहीत होता था नाशवान् था किन्तु वास्तवमें आरण्यक राज्यको अपने तपका षष्ठांश देते थे जो नाश-रहित था।[4] सच तो यह है कि हमें ऐसे संदर्भ भी मिलते हैं जहाँ तपस्वी भी अपनी भूमिकी उपजके भागको चुकाता है और ऐसा कहा गया है कि तपस्वियोंके द्वारा संग्रहीत चावलका छठाँ भाग राजाके लिए नदीके किनारे एकत्रित किया जाता था जिसमें वहाँसे राजकीय अधिकारी[5] उसे ले जायें। तपस्वियोंसे भू-कर संग्रह अर्थशास्त्रने भी सिद्धान्त रूपमें स्वीकार किया है। उसके इस उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जायगा:—"इस भागको पाकर राजा अपनी प्रजाके बचाव तथा सुरक्षा (योगक्षेमावहाः) का भार अपने सिरपर लेता था और यथोचित दण्डविधान करने तथा कर वसूल करनेके सिद्धान्तोंकी अवहेलना होनेकी अवस्थामें अपनी प्रजाके पापोंका उत्तरदायी होता था। इसलिए तपस्वी भी अपने संग्रहके अन्नका छठाँ भाग राजाको दे देते हैं यह विचार कर कि यह करस्वरूप उसको दिया जा रहा है जो

---

१ अध्याय ४, विभाग २. २२७–२२९। २ वही, २३०। ३ नारद, १८.४० (जोल्ली)। ४ शाकु०, ५.४। ५ वही, २.१३। ६ नीवारषष्ठभागमस्माकमुपहरन्त्विति वही, पृ० ७६। मिलाकर तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि रघु०, ५.८।

हमारी रक्षा करता है।"[1] ऊपरके तर्कसे यह निष्कर्ष निकलता है कि नीति-शास्त्र एवं धर्म-शास्त्रोंके आधारपर राज्य-कर विधानानुसार निश्चित किये गये थे। इस कारण कर लगानेके सम्बन्धमें राजा तथा प्रजामें संघर्ष की सम्भावना नहीं थी और अवसर आनेपर वे दोनों अपने समाधानके लिए प्रचलित नियमका हवाला ले सकते थे। शुक्रनीति कहती है—"ईश्वरने राजाको बनाया है, जिसका पद तो स्वामीका है, किन्तु वास्तवमें जो जनताका सेवक है और जो अपना पारिश्रमिक (आजीविका) करके रूपमें प्रजाकी निरन्तर रक्षा और विकासके लिए ग्रहण करता है।"[2]

सिंचाई

हमें 'सेतु'[3] का उल्लेख मिलता है जो अन्य अर्थोंके साथ सिंचाईके कार्यका अर्थ भी प्रकट करता है जो 'अर्थशास्त्र' के शब्दोंमें फ़सलका कारण था; सिंचाईके क्षेत्रमें[4] आनेवाली फ़सलोंके संबंधमें वही परिणाम निकलता है जो पूरी वृष्टिसे होता है। क्योंकि राजकीय आयका मुख्य आधार भू-कर ही था। सिंचाईकी एक प्रणालीका होना बिलकुल उपयुक्त था। राजस्वकी वृद्धि तथा अन्नकी प्रचुरताके लिए भी सिंचाईकी ऐसी व्यवस्था की जानी सम्भव है। यह स्मरण रखना चाहिए कि भू-कर निश्चित नहीं था; इसलिए फ़सलकी वृद्धिके साथ राजाका कर, जो उपज का छठाँ भाग था उसी अनुपातसे बढ़ जाता था। कालिदास-द्वारा सिंचाई का यह निदर्शन अर्थशास्त्र तथा ऐतिहासिक तथ्यों द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। अर्थशास्त्रके[5] सामने एक सिंचाईका विभाग है जिससे राज्य-कर प्राप्त होता है और मौर्य-सम्राट् चन्द्रगुप्तकी राज्य-सभामें आया ग्रीस-निवासी राजदूत मेगास्थनीज[6] मौर्य-शासनका वर्णन करते हुए इसका उल्लेख करता है।

---

१ अन्यद्भागधेयमेतेषां रक्षणे निपतति शाकु०, पृ० ७६। २ अध्याय १.३७५। ३ सेतुवार्तागजबन्ध रघु०, १६.२। ४ अर्थशास्त्र, भाग ७, अध्याय १४। ५ वही, भाग २.२४। ६ इ० एच० आई० पृ० १४०।

यद्यपि कालिदासके ग्रन्थोंमें मदिराकी भव्य-शालाओंसे कर वसूल करनेका कोई प्रमाण नहीं है तथापि मदिरालयोंकी एक बड़ी संख्या वे स्वीकार करते हैं। वे लिखते हैं—राज-पथके किनारे[1] मदिरालय सामान्यतः देखे जाते थे और ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती कि आयके ऐसे बड़े साधनको कर लगाये बिना छोड़ दिया गया होगा जब हम देखते हैं कि करकी वसूली इतनी पूर्ण थी कि यती या तपस्वी भी इसके अपवादमें नहीं थे। इस प्रसंगमें यह ध्यान रखा जा सकता है कि अर्थशास्त्र[2] जहाँ उनको एक बड़ी आयका साधन बनाता है वहीं वह यह आदेश भी करता है कि मदिरा-क्रेताओंके ध्यान आकर्षित करने तथा उनकी सुविधा और आरामके लिए मदिरालयोंको किस प्रकार सुसज्जित रखना चाहिए।

आदक-द्रव्य विभाग

पुल-निर्माण तथा नावका घाट चलाना, कृषि-खलिहान, मवेशी-पालन और हाथी पकड़ना[3] मुख्य राजकीय एकाधिकार थे जिनसे प्रभूत आय होती थी। पर्याप्त विस्तारमें खोदी गई खानें। खनिज द्रव्योंसे[4] भरपूर मालूम पड़ती हैं। प्राचीन भारतमें राजकीय आयके वे ऐसे साधन थीं कि 'अर्थशास्त्र' उनपर एक पूरा अध्याय[5] ही लिख मारता है और कहता है कि वे उन पदार्थोंका उद्गम स्थान हैं जो युद्धके कामके[6] हैं। राज्यकी सामरिक आकांक्षाओंकी पूर्तिमें काम आनेके पश्चात् हाथी-दाँतके बाजारमें हाथियों से भी प्रचुर आयकी प्राप्ति होती होगी। वे जीवित भी बेचे जाते होंगे। अर्थशास्त्र गज-अरण्योंको हाथियोंका प्राप्ति-स्थान मानता है और ऐसा होनेके कारण उनको सुरक्षणीय[7] कहता है।

राजकीय-एकाधिकार तथा अन्यकार्य-कलाप

---

१ शाकु०, पृ० १८८। २ भाग २, अध्याय २५। ३ सेतुवारणगज-बन्धमुख्यैः रघु०, १६.२। ४ वही, १७.६६, १८.२२, ३.१८; माल०, ५.१८। ५ भाग २, अध्याय १२। ६ भाग ७, अध्याय १४। ७ वही।

राज्यके अनेक दूसरे आयोजनोंसे राज्य-कोषमें कम आय नहीं आती थी। सेतु-निर्माण,[1] गोचरभूमि व्यवस्था और मवेशी-पालन (वार्ता) राज्यके दूसरे लाभप्रद आयोग थे। पार जानेके साधन होनेके कारण पुल आयदायक हो सकते थे और अर्थशास्त्रने 'सेतुबन्ध' की जो व्याख्या की है उसीके प्रकाशमें यदि हम 'सेतु' पदकी व्याख्या करें तो हम इससे 'किसी प्रकारकी भवन-रचना'[2] का भाव ले सकते हैं। राज्यकी ओरसे व्यवस्थित सामान्य गोचरभूमियोंमें मवेशियोंके चरानेके लिए नाम-मात्रके कर हो सकते थे जो अर्थशास्त्रके अनुसार रथोंके लिए गायों, घोड़ों और ऊँटोंकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करती थीं।[3] अर्थशास्त्रकी धारणाके अनुसार 'वार्ता' की ठीक-ठीक परिभाषा की जा सकती है। अर्थशास्त्र कहता है—"कृषि, पशु-पालन तथा वाणिज्य मिलकर 'वार्ता' कहलाते हैं। यह बड़े कामकी है क्योंकि यह अन्न, पशु, सुवर्ण, वन-जात वस्तुएँ (कुप्य) और निःशुल्क श्रम देनेवाली हैं। एकमात्र 'वार्ता' के द्वारा प्राप्त कोष तथा सैन्यके बलपर ही राजा अपने राज्य तथा अपने शत्रुओंको[4] अपने शासनमें रखनेमें समर्थ हो सकता है।" शुक्रनीति भी प्रायः यही व्याख्या 'वार्ता' की करती है। वह कहती है—"ब्याज, कृषि, वाणिज्य और गोरक्षण वार्तामें व्यवहृत थे।"[5] ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यके पास कुछ नजुल भूमि भी थी जिसमें खेती-खलिहानका[6] प्रबन्ध किया जाता था और जो राजकीय आयोगोंमेंसे एक था।

---

१ कुमा० ७.३४। २ भाग ३, अध्याय ८। ३ भाग ७, अध्याय १४। ४ भाग १, अध्याय ४। ५ अध्याय १, ३११-१२। ६. ओत्रैः सस्यं रघु० १७.६६ राज्यके विभिन्न विभागों पर टीकाकार द्वारा कामन्दक का प्रमाण:—

कृषिर्वणिपथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्।
खन्याकरधनादानं शून्यानां च निवेशनम्॥
अष्टवर्गमिमं साधुः स्वयं वृद्धोऽपि वर्धते॥

स्थल तथा सामुद्रिक मार्गसे व्यापार और वाणिज्य उन्नतिशील था और 'नैगम'[१] तथा 'सार्थवाह'[२] जैसे बड़े-बड़े व्यापारी अपने स्वामीको प्रचुर धन देते थे जिसकी रक्षामें वाणिज्य-पथ सुरक्षित था और देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें वाणिज्य वस्तुओंके आवागमनकी क्रिया सम्भव और निरापद थी। वणिक्-राजोंके द्वारा राज-कोषमें धन[३] प्रवाहित (धारासार) होता था—भेंटके रूपमें, जो बादके समयका नजर था—और पण्य वस्तुओंपर लगाये गये करके रूपमें भी। व्यापारकी वस्तुओंपर लगाये गये करके सम्बन्धमें कालिदासका कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। वे केवल कहते हैं कि वणिकोंसे राज्यको प्रभूत धन प्राप्त होता था। ऐसा उपर्युक्त दो प्रकारोंसे हो सकता है। अर्थशास्त्र[४] व्यापारकी वस्तुओं पर लगाये जानेवाले करका विवरण देता है और ऐसा शुक्रनीति[५] भी करती है। देशके अन्तर्गत संचालित व्यापारपर आयात-कर और चुंगीकी वसूली होती होगी और शायद वे व्यापारकी वस्तुओंपर लगे करके साथ सम्मिलित कर दिये जाते हों क्योंकि कौटिल्य[६] उनका हवाला भी देता है।

कर

विजयसे[७] अतुल सम्पत्ति प्राप्त होती थी। विजेता देशको रौंद देते थे और अश्व,[८] गज,[९] सुवर्णके[१०] ढेर और दूसरे बहुमूल्य उपहार[११] लिये जाते थे। भेंट जो सैद्धान्तिक 'उपायन'[१२] नाम से प्रसिद्ध थी विदेशी राज्यों तथा पराभूत आक्रामकोंसे प्राप्त होती थी जो मुद्रामें भेंट की

विजय

---

१ धारासारोपनयनपरा नैगमाः सानुजन्तः विक्र०, ४.१३। २ शाकु०, पृ० २१६; रघु० १७.६४। ३ विक्र०, ४.१३, पा पूर्व उदाहृत ४ भाग ५ विभाग २। ५ अध्याय ४ विभाग २। ६ भाग ५ अध्याय २। ७ मिलाकर रघु० ४। ८ वही, ४.७०। ९ वही, ८३। १० वही, ८३। ११ वही, ७०। वही, ८४; महासाराणि रत्नानि इत्यादि माल० पृ० ८८.९४। १२ उपायन रघु० ४.७९ १६.३२ ४.८४; माल०, ृ० ८८, ९४।

बहुत बड़ी रक़म चुकाते थे। विजित तथा मित्र शासकोंसे अश्व,[1] गज[2] तथा सुवर्ण-राशि[3] के उपायनके रूपमें लिये जानेका वर्णन आता है। कामरूपके[4] देशसे हाथी[5] और रत्न संग्रहीत हुए थे। हमें यह पाठ मिलता है कि जब कुश अपनी सेनाओंके साथ अरण्यसे होकर जा रहा था तो विन्ध्या का पुलिंदस उसके पास भेंट[6] लाया था। विदर्भके राजासे अग्निमित्रके वैदेशिक मंत्रीने जो उपहार स्वीकार[7] किया था उसको इस बातका उदाहरण माना जा सकता है कि एक अधिनायक या समकक्ष स्वतंत्र शासक सामान्यतः किन वस्तुओंको भेंटमें ग्रहण करते थे। अन्य वस्तुओंके अतिरिक्त उनमें सम्मिलित थे निपुण कुमारियोंकी अधिक संख्यावाला भृत्य-समूह, अमूल्य रत्न और गज, शिविका, रथ, अश्व आदि वाहन। ये राजा की आय समझे जा सकते हैं और ऊपर गिनाये गये राज्यकी आय। यहाँ यह लिखना असंगत नहीं होगा कि समुद्रगुप्तकी विजय-यात्रामें[8] इसी प्रकारकी वस्तुएँ उसको भेंटमें मिलनेका वर्णन हमको पढ़नेको मिलता है। राजाको भेंट स्वीकार करनेका दूसरा अवसर तब मिलता था जब वह राज्य के ग्रामीण इलाक़ोंमें घूमता हुआ अपनी प्यारी प्रजाके[9] सामने प्रत्यक्ष जा उपस्थित होता था।

सम्पत्ति पर राजकीय अधिकार

आयका अन्तिम आधार था, किसी पुरुष उत्तराधिकारीके नहीं रहने पर मरे नागरिकोंकी सम्पत्तिका राज-कोषमें सम्मिलित हो जाना। शाकुन्तलके चतुर्थ अंकमें कथित ऐसे ही एक मामलेके सम्बन्धकी सारी सूचनाओंका एक विवरण-पत्र उस विभागके मंत्री-द्वारा तैय्यार किया गया था और वह अवलोकनार्थ तथा

---

१ रघु० ४.७० । २ वही, ८३ । ३ वही, ७० । ४ वही, ४.८३ । ५ वही । ६ वही, १६.३२ । ७ महासाराणि रत्नानि वाहनानि शिल्पकारिकाभूयिष्ठं परिजनमुपायनीकृत्य माल०, पृ० ८८ (उसी में फिर उल्लेख ; पृ० ९४) । ८ एलाहाबाद स्तम्भ-लेख । ९ हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान् रघु०, १.४५ ।

सम्पत्तिको राज-कोषके अन्तर्गत कर[1] देनेकी स्वीकृतिके आदेशके लिए राजाके पास भेजा गया था। इस प्रकार प्रभूत धन राज-कोषको प्राप्त हुए होंगे।

मुद्रा या वस्तुओंमें मूल चुकाना

मुद्रा या वस्तुओंमें राजस्व संग्रह किया जाता था। भू-करके रूपमें भूमिकी उपजके छठे भागका उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि भू-कर वस्तु के रूपमें लिया जाता था। वह मुद्रामें भी गृहीत हो सकता था। मंत्रीके लेखामें 'कोषके एक संग्रहकी गणना'[2] यानी अनेक क्षेत्रोंसे प्राप्त राजस्वका संकेत हुआ है। अर्थकी गणनासे मुद्रामें राजस्वकी प्राप्ति सूचित हो सकती है या मुद्रा और वस्तुमें प्राप्त करकी गणनाका निरीक्षण। चुंगी और वाणिज्य-कर आदि सम्भवतः मुद्रामें ही चुकाये जाते होंगे। जैसा हम आगे देखेंगे, हमें कालिदासकी रचनाओंमें उनके द्वारा सुवर्ण-मुद्राओं (सुवर्ण) का जिक्र किया गया मिलता है।

राजस्वकी परिणति

प्रजाके लाभके लिए उनसे कर (बलि)[3] वसूल किये जाते और राजस्व गृहीत होता था। उस संग्रहका यह अर्थ कदापि नहीं था कि वह राजाके व्यक्तिगत सुख-साधनके उपयोगमें आवे। राज्यका आनुमानिक आय-व्यय इस प्रकार व्यवस्थित होता था कि प्रजा उससे सहस्रों प्रकारसे लाभ (प्रजानामेव भूत्यर्थम्) उठा सकती थी। कवि कहता है, सूर्य पृथ्वीसे जल केवल सहस्रों बार करके उसको देनेके लिए खींचता है। राजाको जो एक बड़ा उपकारी है सूर्यके[4] सदृश ही काम करना चाहिए। इस सिद्धान्तको कहाँ तक कार्यान्वित किया जाता था बिलकुल

---

१ शाकु०, पृ० २१६। २ अर्थजातस्य गणना वही। ३ रघु०, १.१८।
४ जानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥ वही।

स्पष्ट नहीं है और हमें यह मान लेनेमें कोई बाधा नही कि निरंकुश या उपकारी राजाओंके साथ या जन-हितके पक्षमें बलदेनेवाले मंत्रियोंके बल या निर्बलताके साथ यह भी रूप परिवर्तन करता था। जनसाधारण के लाभके अनेकों प्रकारके कार्योंका वह शायद हवाला है जिसपर राजस्व का अधिकांश व्यय किया जाता था।

व्ययके भी कई मार्ग थे। जनसाधारणके लाभके लिए किये गये कामोंका अधिकांश आयकी रक़मपर ही सम्पादित होता था। राज्यके

वेतन

अधिकारी नियमतः वेतन पाते थे। अर्थशास्त्र[1] ने राज्याधिकारियोंकी सूचीमें एक अध्याय समाप्त किया है। इसी प्रकारके एक प्रसंगमें राजाको वेतन[2]भोगी कहा गया है। यह आपस्तम्बके मतके अनुसार है जो कहता है कि राजाका वेतन अमात्य या गुरु[3]के वेतनसे कभी अधिक नहीं होना चाहिए। मासिक वेतन पानेवाले दूसरे अधिकारियोंमें हमें ललितकलाओंके शिक्षकों[4] तथा पुरोहित[5] का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। यदि पुरोहित अमात्य-परिषद्का सदस्य था तो उसे कौटिल्यके[6] उल्लेखके अनुसार अवश्य एक बड़ी रक़म मिली होगी।

यद्यपि कालिदासने रक्षाके प्रतिफल स्वरूप (रक्षासदृशमेव भूः) भू-कर पर राजाका दावा होनेका बार-बार उल्लेख किया है, तथापि बिना

भूमि पर राजाका अधिकार

अपवादके राजाका भूमिकी उपजके छठे भाग को पानेका अधिकार और सम्पत्तिका उत्तराधिकारके अभावमें राज्य-कोषमें शामिल किया जाना उसके राज्यकी भूमिमें उसका अपना अधिकार प्रकट करता है।

---

१ भाग ५, अध्याय ३। २ दिदेश वेतनं तस्मै रक्षासदृशमेवभूः रघु, ॥ १७.६६। ३ गुरूनमात्यांश्च नातिजीवेत् धर्मशास्त्र, २.९,२५,१०। ४ किं मुधा वेतनदानेनैतेषाम् माल०, पृ० १७। ५ दक्षिणां मासिकीं पुरोहितस्य वही, पृ० ८७। ६ अर्थशास्त्र, भाग ५, अध्याय ३।

राज-कोष सम्पन्न था और उसको आकंठपूरित रखनेके लिए अनेक साधनोंका उपयोग होता था क्योंकि यह राज्यके सबसे मुख्य अंगोंमें[१] समझा जाता था। उसके अपने कर्मचारी तथा कोष-पाल थे[२]। सैकड़ों खच्चरों (वामी) और ऊँटों[३] (उष्ट्र) पर लादकर राज्य-कोषसे ले जाये जाते धनकी बात हमें पढ़नेको मिलती है, उसमें चौदह[४] करोड़ मुद्राएँ तक होती थीं।

राज-कोष

कालिदासके युगके लिए, जिसमें व्यापार तथा वाणिज्य स्थल और जल दोनों मार्गोंसे दूर-दूर तक विस्तृत था, मुद्राकरणकी एक उन्नत और व्यापक शैलीकी कल्पना करना आवश्यक है। भू-करके अतिरिक्त जो कर प्राप्त होता था, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, अधिकांश मुद्रामें राज्यको दिया जाता था और राजस्व-मंत्री साम्राज्यके अनेक भागोंसे कोष-संग्रहका ग्रहण और उसकी गणना[५] करता था। चौदह करोड़[६] धनकी गणना स्वयं कुछ अर्थ नहीं प्रकट करती जब तक हम इसको मुद्राके रूपमें नहीं लें। फिर इसके अतिरिक्त हमें कालिदासकी पुस्तकोंमें 'निष्क'[७] तथा 'सुवर्ण'[८] का उल्लेख मिलता है जो उनके कालकी प्रचलित मुद्राएँ थीं। यह ध्यान रखने योग्य है कि 'सुवर्ण' गुप्त सम्राटोंके[९] कालमें भी प्रचलित मुद्राओंमें शामिल था। अमरकोश[१०] 'निष्क' को 'दीनार' या

मुद्राकरण

---

१ रघु० १.६०; मिलाकर अमरकोश स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्र-दुर्गबलानि च। २ वही, ५.२६। ३ अयोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं वही, ३२। ४ वही, २१। ५ शाकु० पृ० २१६। ६ रघु० ५.२१। ७ कुमा० २.४६; माल० पृ० ८८। ८ शतसुवर्ण माल० पृ० ८८। ९ इ० एच० आई० पृ० ३२८–२६ मिलाकर भी, कैटलौग आफ गुप्ता क्वाएन्स। १० साष्टे शते सुवर्णानां हेम्न्युरोभूषणे पले। दीनारे च निष्कोऽस्त्री टीकाकार-द्वारा उल्लेख।

रोमनोंके 'दीनारेस' के बराबर मानता है। 'सुवर्ण' सोनेकी एक मुद्रा था जो सामान्यतया तौलमें सोलह माशा होता था। उस युगका यह क़ानूनी सिक्का होता है। कालिदास ऐसी किसी मुद्राका उल्लेख नहीं करते जो सुवर्णकी नहीं बनी थी और फलतः हम उनकी रचनाओंसे यह निश्चय करनेमें अपनेको असमर्थ पाते हैं कि चाँदी और ताँबेकी मुद्राएँ भी देशकी प्रचलित मुद्राएँ थी या नहीं। तथापि हमें गुप्त सम्राटोंके कालकी मुद्राओं से पता चलता है कि वे विभिन्न प्रकारकी और सोने, चाँदी, ताँबा और मिश्रित धातुकी[1] बनी हुई थीं।

भू-दान

इस प्रसंगमें यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि कवि राज्यकी ओर से ब्राह्मणोंको भूदानका वर्णन[2] करता है। इस प्रकारके ब्रह्मोत्तरके रूपमें ब्राह्मणोंको दिये गये ग्रामोंमें यूपों[3] या बलि-स्तम्भोंसे, जिनमें बलि-पशु बाँधे जाते थे, उनके ब्राह्मणोंके अधिकारमें होनेके चिह्न मिलते हैं। यह भी कहा जा सकता है कि कौटिल्य[4] भी ऐसे दानकी सम्मति देता है। गुप्त सम्राटों तथा अन्य राजवंशों द्वारा दानमें दिये गये ग्राम जो शिला-लेखोंमें हमें मिलते हैं संख्यातीत हैं।

कविने कई प्रसंगोंमें पारम्परिक[5] चतुरंगिनी[6] यानी पदाति,[7] अश्वारोही,[8] रथिक[9] और गजसाधन[10] सैन्यका उल्लेख किया है। किन्तु

---

१ जे० अल्लन : कैटलौग आफ गुप्ता क्वाएन्स। २ ग्रामेष्वात्मविसृष्टेषु रघु० १.४४ कुशावतीं श्रोत्रियसात्स कृत्वा वही, १६.२५ ब्राह्मण इति कलयित्वा राजा परिग्रहो दत्तः शाकु० पृ० १८२। ३ यूपचिह्नेषु यज्वनाम् रघु० १.४४। ४ अर्थशास्त्र भाग २ अध्याय १। ५ चतुःस्कन्धेव रघु० ४.३०। ६ सेना वही, ४.३२ चमू ३० पताकिनी ८२ ७.५९ ११.५२; दंडचक्र माल० पृ० ११। ७ पत्तिः पदाति रघु० ७.३६। ८ पाश्चात्यः अश्वसाधनैः वही, ४.६२, ७१, अश्वानीक माल० पृ० १०२; रघु० ७.३६। ९ रघु० १.३६, ३९, ४०, ३.४२, ४.३०, ८२, ८५, ७.३६; विक्र० १.५। १० रघु० ४.२९; गजसाधन ४०, ६.५४, ७.३६।

सैन्य

रथोंका उल्लेख केवल परम्पराका निर्वाह करनेके लिए है क्योंकि वे युद्धके साधनके रूपमें कालिदासके कालके बहुत पूर्व समाप्त हो चुके थे। बहुत प्राचीन कालके युद्धोंका वर्णन करते समय वे चतुरंगिनी सेनाका जिक्र करते हैं। सैन्यके शेष तीन अंगोंका उपयोग भारतमें कविके बहुत पीछे तक प्रचलित था। कविने पारम्परिक चतुरंगिनीके साथ एक पाँचवाँ अंग सामरिक जल-पोतोंके[1] बेड़ेका जोड़ दिया है। सागर-तटीय देश मुख्यतः अपनी रक्षाके लिए जल-सैन्यपर अवलम्बित (**नौसाधनोद्यतान्**) थे। निचली गंगा अर्थात् गंगा-द्वारा निर्मित त्रिभुजाकार चर-भूमिके निवासी अपनी रक्षा अपनी नौकाओंसे[2] करते थे। अश्व, गज या नौ सेनाएँ जो जिस देशके वासियोंको सुविधाजनक होतीं उनका वे उपयोग करते थे। उदाहरणार्थ, पारसिक[3] और ग्रीस-निवासी[4] अश्व-सेना, कलिंग[5] या उड़ीसाके निवासी गज-बल और निचली गंगाके[6] निवासी जल-पोतोंको काममें लाते थे।

सैनिक-भेद

कवि पारम्परिक छः सैनिक-भेदोंका[7] संकेत करता है। वह उनका विशिष्ट उल्लेख नहीं करता। किन्तु जैसा कि टीकाकार मल्लिनाथ ने अमरकोशके[8] आधारपर किया है उनकी गणना एवं व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—१. मौल या राजाके वंशागत सैनिक, इनका शुक्रनीतिने[9] भी उल्लेख किया है; २. भृत्य या राजाके वेतन-भोगी; ३. सुहृत् या जो मित्रोंके हैं अथवा जिनका मित्रोंके प्रति अनुराग है; ४. श्रेणी या राज्यके वणिक्-वर्ग-द्वारा सज्जित सेना—मन्दसोर स्तम्भ-लेख धनुर्विद्यामें निपुण तथा युद्ध-कला-विशारद[10] कुछ श्रेणीके सदस्योंको

---

१ नौसाधनोद्यतान् वही, ४.३६, ३१। २ वही। ३ वही, ४.६२। ४ माल० पृ० १०२। ५ रघु० ४.४०। ६ वही, ४.३६। ७ वही, ४.२६ १७.६७। ८ मौलं भृत्यः सुहृच्छ्रेणी द्विषदाटविकंबलम् वही, ४.२६ (टीका)। ९ अध्याय ४ विभाग ७। १० श्लोक १६ और १७।

संकेत करता है; ५. द्विपद या शत्रुके प्रति शत्रुता रखनेवाले राजाकी सेना और ६. आटविक या जंगलियोंकी सेना। आटविक निर्दयी, खूँख्वार और कठोर हैं और इसलिए ये आक्रमणकी[1] अगली पंक्तिमें रहनेके सर्वथा योग्य होते हैं।

गज भारतीय सेनाका एक मुख्यतम स्तम्भका निर्माण करते थे और ये राज्यके अधिकारियों-द्वारा सुरक्षित अरण्योंसे[2] पकड़ लाये जाते थे। कौटिल्य उनके महान् लाभोंका[3] वर्णन करता है और कहता है कि कलिंग उन स्थानोंमें था जहाँसे वे अधिक संख्यामें आते[4] थे। जैसा हम देख चुके हैं, कालिदास हस्तीका सम्बन्ध कामरूप[5] तथा कलिंगके[6] साथ करते हैं जिनके घने जंगलोंमें ये अवश्य झुण्डोंमें फिरा करते होंगे। त्रिपदी हस्ती पैरोंमें[7] शृंखला डालकर पकड़ लिये जाते थे। अश्व भी गजोंके समान ही कामके थे। वनायु[8] यानी अरब तथा कम्बोजके[9] देशोंसे लाये गये नमकको[10] चाटनेवाले घोड़ोंकी उत्कृष्ट जातियोंका उल्लेख हुआ है। सुन्दर अश्वोंके लिए अरब प्रसिद्ध[11] है। अर्थशास्त्र[12] भी वनायु अश्वों का उल्लेख करता है। कालिदास अश्वशाला और घोड़ोंकी एक विशिष्ट चाल[13] कदाचित् दुलकीका कथन करते हैं।

कविकी रचनाओंसे महासमरके आयुधोंकी एक विस्तृत सूची बनायी जा सकती है। अस्त्र और शस्त्रका बार-बार उल्लेख आता है शुक्रनीति जिनको दो प्रकारके आयुध मानती है। उसके कथनानुसार पहला वह आयुध है जो मंत्र, यंत्र या अग्निके द्वारा छोड़ा या फेंका जाता है जब कि दूसरा

आयुध

---

१ हित० ३.६६; कामनीति ८.२३। २ रघु० १७.६६ १६.२। ३ अर्थशास्त्र भाग २ अध्याय २। ४ वही,। ५ रघु० ४.८३। ६ वहीं, ४०। ७ त्रिपदी वही, ४८, शृंखला ५.७२। ८ लेह्यानि सैन्धवशिलाशकलानि वाहाः वही, ५.७३। ९ वनायुदेश्याः वही। १० वही, ४.६९ सदश्वभूयिष्ठ वही, ७० अर्थ-शास्त्र-द्वारा कम्बोजका उल्लेख भाग २ अध्याय ३०, सुन्दर अश्वोंका देनेवाला भी। ११ भाग २ अध्याय ३०। १२ पटमण्डपेषु ५.७३। १३ वही, ९.५५।

तलवार, छुरा आदि कोई अन्य[1] आयुध हो सकते हैं। कविने इन आक्रामक[2] आयुधोंके नाम दिये हैं—धनुष[3] और बाण,[4] शूल, त्रिशूल,[5] शक्ति,[6], वज्र,[7] परसु,[8] चक्र,[9] असि,[10] भिंदिपाल, परिघ,[11] मुद्गर,[12] हल, क्षुरप्र,[13] भल्ल,[14] गदा,[15] ब्रह्मास्त्र,[16] गन्धर्वास्त्र[17] या मोहनास्त्र,[18] सिलग,[19] शतघ्नी,[20] भद्गा[21] और कूटशाल्मलि[22]। ये मुख्यतः आक्रामक आयुध थे जिनसे सेना सज्जित की जाती थी। कविके अनुसार इनमेंसे अधिकांशका प्रयोग करनेके पूर्व उन्हें अभिमंत्रित[23] या विषयुक्त[24] कर लिया जाता था। इनपर विचार किया जा सकता है।

'धनुष' एक लम्बे लचीले दण्डका बनाया जाता था जिसके छोरोंको एक रस्सीसे खींचकर बांध देते थे जो 'ज्या'[25] कहलाती थी। कौटिल्य ताल (ताड़), काप (एक प्रकारकी बाँस), दारु (एक प्रकारकी लकड़ी) और शृङ्ग (हड्डी या सींग) के बने धनुषोंका नामोल्लेख करता है जो क्रमशः कार्मुक, कोदण्ड, द्रूण और धनुष[26] कहलाते थे। यह ध्यान

---

१ अध्याय ४ विभाग ७०' ३८१.८२। २ आयुध रघु० ७.५२, ५६। ३ वही, २-८ ७.५६, ११.४०, ४३, ४६, ७२, ४.६२। ४ वही, २.३१, ३.५३, ५५, ५६, ५७, ५६, ६०, ६४, ४.७७, ५.५५, ७.३८, ४६, ५६, ६.७२, ११.२६, ४४, १२.६६ १०३, १५.२४; कुमा०, ३.२७; विक्र०, पृ० १२७। ५ रघु०, १५.५। ६ वही, १२.७७। ७ वही, ४.६८, १२.७६, १५.२२। ८ वही, ११.७८। ९ वही, ७.४६। १० वही, ६८। ११ वही, १२.७२। १२ वही, ७३। १३ वही, ६.६२, ११.२६। १४ वही, ४.६३, ७.५८, ६.६६। १५ वही, ७.५२। १६ वही, १२.९७। १७ वही, ७.६१। १८ वही, ५.५७। १९ क्षेपणीयास्मलि वही, ४.७७। २० वही, १२.९५। २१ वही, ७.५१। २२ वही, १२.९५। २३ ५.५६। २४ सविषमिव शल्यं शाकु० ६.९। २५ रघु० ३.५९। २६ अर्थशास्त्र भाग २ अध्याय १८।

देने योग्य है कि कवि द्रूणके सिवा सभी उपर्युक्त धनुषोंके नाम लेता है किन्तु उनमें भेद नहीं करता। अर्थशास्त्र उसी प्रकार 'धनुर्ज्या' को मूर्व, अर्क शण, गवेधु, वेणु और स्नायुकी[1] बनी होना बताता है। हाथोंपर धनुष की ज्याका दाग़ होना महान् और परीक्षित् योद्धाओंका[2] चिह्न समझा जाता था। उपवेदोंमेंसे एक धनुर्वेद[3] था जिसमें युद्ध-विद्या तथा धनुष-बाणके प्रयोगकी शिक्षा थी। होनहार[4] सैनिकके लिए यह भी एक अध्ययनका विषय था। बाण अनेकों प्रकारके थे जो लम्बी बेंत या नरकट की लकड़ियोंके बनते थे और उनपर भारी तथा तेज़ लोहेकी नोकदार[5] पत्तियाँ और पंखोंकी पूंछ लगी होती थीं। अर्थशास्त्र लिखता है, "बाणों की नोकें लोहे, हड्डी या लकड़ीकी इस प्रकार बनी हों जिसमें वे काठ फाड़ या छेद सकें।"[6] कविने जिन प्रकारोंके बाणोंका उल्लेख किया है वे हैं— पहला पक्षीके परवाला कंक[7] या कौवा, दूसरा मयूर पंखवाला,[8] तीसरा लम्बा स्तम्भाकार,[9] चौथा सर्पाकार,[10] पाँचवाँ अर्द्धचन्द्राकार[11] नोक वाला और छठा गरुड़ाकृतिका[12]। ऐसे बाण भी थे छोड़नेपर[13] जिनसे प्रभामण्डल निकल पड़ता था। कितने सुनहले[14] रंगके बाण थे और कितनों की नोकें क्षुरे[15] (क्षुरप्र) की पत्तीके समान थीं। क्षुरप्रका उल्लेख शुक्रनीति भी करती है। ये लम्बाईमें नाभि तक आते थे और इनसे चन्द्रमा[16] की आभा छिटकती थी। ऐसे बाण या शस्त्रास्त्र भी थे जो कवचका[17] भेदन कर सकते थे। सुरुचि-सम्पन्न और उच्च कोटिके सैनिकोंके शरीरपर

---

१ वही। २ रघु० ११-४०। ३ विक्र० पृ० १२८। ४ गृहीतविद्यो धनुर्वेदे वही। ५ रघु० ५.५५। ६ भाग २ अध्याय १८। ७ रघु० २.३१। ८ वही, ३.५६। ९ वही; ५३। १० वही, ५७। ११ वही, ५९। १२ वही, ५७; गारुत्मतं अस्त्रं का १६.७७। १३ स्फुरत्प्रभामण्डलमस्त्रं वही, ३.६०। १४ वही, ६४। १५ वही, ९.६२ ११.२९। १६ शुक्रनीति अध्याय ४ विभाग ७.४२७। १७ कंकटभेदि आयुधैः वही, ७.५९।

उनके नाम या हस्ताक्षर[1] अंकित होते थे। शरपर शराधिकारीके नामांकनका एक उदाहरण अगले उद्धरणसे प्राप्त हो सकता है—"शत्रुका जीवन-विनाशक यह बाण उर्वशी और ऐलाके पुत्र धनुषधारी[2] राजकुमार आयुसका है।" बाण तूणीरमें[3] रखे जाते थे।

शूल, बर्छी और त्रिशूल तीन फलवाला बर्छा था। वे बिलकुल भालेके समान थे। केवल फलका ही दोनोंमे अन्तर था। पहलेमें केवल एक नुकीला फल लगा था जबकि दूसरेमें तीन ठीक फ़ार्कके समान। अर्थशास्त्र इन दोनोंसे परिचित था और वह शूलको उन आयुधोंके वर्गमें रखता है जिनके फल हलके फाल (हलमुखानि[4]) से सादृश्य रखते हैं और त्रिशूल उसकी दृष्टिमें चलनेवाले यन्त्रोंमें[5] है। रथारोही योद्धाके सामान्यतया प्रयोगमें आनेवाली शक्ति एक प्रकारका भाला थी। लोहेकी बनी यह सुवर्णके प्लेटसे जुड़ी थी और घंटियाँ[6] इसको अलंकृत करती थीं। रामायण के वर्णनके अनुसार इसमें आठ घंटियाँ लगी थीं, इसमेंसे एक भयद चीत्कार निकलती थी, मयने इसे छल और कलापूर्ण बनाया था, अमोघ थी, शत्रुके जीवन-शोणितकी पीनेवाली थी और वायुमें विद्युत् गतिसे चलने-वाली थी और उसके पीछे एक अग्नि-रेखा अंकित होती जाती थी। एला-हाबादके स्तम्भ-लेख तथा अर्थशास्त्र दोनोंमें इसका नाम आया है। अर्थ-शास्त्र इसको 'हलमुखानि'[7] के वर्गमें स्थान देता है। टीकाकार कहता है, "करवीरके पत्तेके आकारका चार हाथ लम्बा एक धातुमय आयुध जिसमें गो-स्तनके समान मूठ लगी थी[8]।" वज्र लोहेका एक दण्ड[9] था जो पवि

१ स्वनामचिह्नं सायकं रघु ३.५५, बाणाक्षरैरेव परस्परस्य नामोर्जितं चापभृतः शशंसुः वही, ७.३८ वही, १२.१०३; कुमा० ३.२७; विक्र० पृ० १२७। २ उर्वशीसम्भवस्यायमैलसूनोर्धनुष्मतः। कुमारस्यायुषो बाणः प्रहर्त्तुर्द्विषदायुषाम् ॥ विक्र० ५.७। ३ रघु०, २.३०, ७.५६। ४ भाग, २.अध्याय १८। ५ वही। ६ महा-भारत, ७.१०६, १२६। ७ भाग २, अध्याय १८। ८ वही। ९ वही, (टीकाकार)।

था। 'परशु' युद्धका कुठार था। अर्थशास्त्रने इसको क्षुरवत्[1] आयुधोंके वर्गमें रखा है और समुद्रगुप्तके एलाहाबादवाले स्तम्भ-लेखमें इसका उल्लेख हुआ है। 'चक्र' चक्राकार आयुध था जिसके केन्द्रमें कटनेवाली तिरछी आराएँ लगी थीं और परिधिपर चतुर्दिक् नोकें निकली थीं। ये नोकें क्षुरेकी नोकोंके[2] समान तीक्ष्ण थीं। कालिदासके सदृश ही कौटिल्य[3] तथा शुक्र[4] इसको क्षुरवत् अस्त्र मानते हैं और शुक्रकी धारणाके अनुसार इसकी परिधि छः हाथकी थी। कौटिल्य इसको क्षुरवर्गमें रखता है। वैशम्पायन इसको गोलाकृति मानता है जिसके मध्यमें[5] चतुष्कोण छिद्र हो। 'असि' एक लम्बी तलवार थी। वर्णनोंसे[6] भिन्दिपाल एक भारी दण्ड मालूम पड़ता है जो गोलेके समान शत्रुपर फेंका जाता था। इसका मुख्य काम था—'दाहकता उत्पन्न करना, काटना, तोड़-फोड़ और दण्ड या लगुड़के[7] जैसे आघात करना।' एलाहाबादवाले स्तम्भ-लेख और अर्थशास्त्रमें[8] असि और भिन्दिपाल दोनोंके नामोल्लेख हुए हैं। अर्थशास्त्रमें किञ्चिन्मात्र रूपान्तर है (असियष्टि शायद कोई अधिक लम्बा प्रकार और भिन्दिपाल) कौटिल्य 'भिन्दिपाल' को हलमुखानिके[9] वर्गमें रखता है। 'परिघा'[10] एक दण्ड था जिसमें लोहेके[11] काँटे जड़े थे। मुद्गर लोहेका हथौड़ा था। इसको अर्थशास्त्रने चलाये जानेवाली मशीनकी[12] श्रेणीमें रखा है। 'हल' फालके जैसा भारी अस्त्र था और यह बहुत पुराने युगोंमें ही प्रयोगमें आता होगा। भल्ल हमारा भाला था। आकृतिमें समानता रखनेके

---

१ वही। २ इण्डो आर्यन्स, भाग १, पृ० ३१२। ३ अर्थशास्त्र, पृ० १०२। ४ शुक्रनीतिसार, पृ० २३७। ५ आपस विपौन्सर्ड सैनिक संचालन इत्यादि। ६ जे० ए० ओ० एस०, १३, पृ० २६०; राम०, पृ० १३८२, १४०३, अर्थ पृ० १०, ओपोर्ट पृ० १३। ७ अग्निपुराण, पृ० ४०५। ८ भाग २, अध्याय १८। ९ वही। १० परिघः परिघातिनः अमरकोश टीकाकार-द्वारा उल्लेख। ११ टीकाकार लोहबद्ध-काष्ठानि यस्मिन्। १२ भाग २, १८।

कारण इसी नामका बाण[1] भी कहा गया है। 'गदा' लोहेका डंडा था। इसको भी अर्थशास्त्रने चलनेवाले यंत्रोंमें[2] गिनाया है। 'ब्रह्मास्त्र' एक 'क्षेपक' था जो अचूक (अमोघ) समझा जाता था। यह देखनेमें भयानक छत्र काढ़े सर्पराज शेषनाग-सा प्रतीत होता था जिसकी फनोंसे निकलने-वाली ज्वालाएँ गगन-मण्डलकी दस उल्काओंका[3] निर्माण करती थीं। 'गान्धर्वास्त्र' या 'सम्मोहनास्त्र' निद्रा लानेवाला प्रयोग या मोहक अभ्यास माना जाता था। बाणका वेगपूर्वक छूटना या तूणमें लौट आना 'प्रयोग' या 'संहार' का अभिप्राय था। प्रयोगका अर्थ है किसी मंत्र-विशेषका जप करना जिससे बाणमें वह गुण आ जाय जिससे वह किसी विशिष्ट आकृति को ग्रहण कर ले या विशिष्ट कार्यका साधक बन जाय और 'संहार' का अर्थ है विरोधी या निवारक मंत्रकी आवृत्ति जिससे अभिमंत्रित बाणमें आयी हुई शक्ति चली जाती है और वह अपने पूर्वरूपमें रह जाता है। इस 'प्रयोग' में दीक्षित होनेके लिए योद्धा उत्तराभिमुख हो जलसे आचमन करता और तत्पश्चात् मंत्र[4] लेता था। युद्धमें ढेलक काममें लाये जाते थे और कालिदास ढेलकोंके बल पत्थर फेंकनेकी पहाड़ियोंकी प्रवीणताकी[5] प्रशंसा करते हैं। कौटिल्य[6] इनके तीन प्रकार अर्थात् यंत्रपाषाण, गोष्पण-पाषाण और मुष्टिपाषाणका उल्लेख करता है। कुछ लोग 'शतघ्नी' को अचल यंत्रोंकी श्रेणीमें रखते हैं और जैसा इसके शब्दसाधनसे प्रकट होता है यह एक बार छोड़े जाने पर एक सौ व्यक्तियोंका संहार करता होगा। किन्तु टीकाकारकी व्याख्याके अनुसार इसका चारों ओरसे असंख्य तेज लोहेके छूरोंसे बिंधा हुआ दण्ड होना अधिक सम्भव है और कविकी उपमा से स्पष्ट होता है कि यह यमकी कूटशाल्मलीसे सादृश्य रखता था। कूटशाल्मलीका व्युत्पत्त्यर्थ है; सेमलका वृक्ष, जिसकी त्वचापर अगनित काँटे होते हैं किन्तु मृत्यु-देव यमके[7] एक विशिष्ट आयुधका नाम भी था।

---

१ रघु०, ४.६७। २ भाग २, अध्याय १८। ३ रघु०, १२.९८। ४ वही, ५.५९। ५ वही, ४.७७। ६ अर्थशास्त्र, भाग २, अध्याय १८। ७ कूट-शाल्मलिरिति व्युत्पत्त्या वैवस्वतगदाया गौणी संज्ञा टीकाकार।

कौटिल्य 'शतघ्नी' को चल यंत्रोंके वर्गमें स्थान देता है और टीकाकार कहता है—"दुर्गकी दीवारके ऊपर रखा हुआ एक विशालकाय स्तम्भ जिसके धरातलपर असंख्य तीक्ष्ण नोकें हों[1]।" अन्तिम खड्ग छोटी तलवार था।

बचावके आयुधोंमें हमें वर्म,[2] शिरस्त्राण[3] और हस्तावरणके[4] पाठ मिलते हैं जो क्रमशः गलेके नीचे तथा पैरोंके ऊपरके भाग, सिर और भुजाओं की रक्षाके लिए थे। इनमें पहले दोका उल्लेख अर्थशास्त्रमें[5] और तीसरेका शुक्रनीतिमें[6] है। युद्धके संकटके दिनोंने सैनिकके लिए कवचका प्रयोग आवश्यक बना दिया और इसी कारण कविकी रचनाओंमें उनका बार-बार उल्लेख मिलता है। कवच धारण करनेकी शक्ति होना यौवन[7] का चिह्न था।

अन्य सैनिक-सज्जाएँ

आयुधोंके अतिरिक्त सैनिक सज्जाओंमें[8] ध्वजा, ऊर्मि[9] और वाद्य-यंत्र[10] भी थे। सैन्य-ध्वजाओंकी संख्या ऐसी बाहुल्यप्राय थी कि उससे सेनाका एक पर्याय 'पताकिनी'[11] निकल पड़ा। ऐसा प्रतीत होता है, योद्धाओंका अपना-अपना ध्वज-चिह्न था। मीन[12] तथा गरुड़[13] (पत्ररथेन्द्र) जैसे विविध नमूनोंके वे थे। मीन चिह्नवाली ध्वजा इस निपुणतासे बनी होती थी कि वायुका

---

१ अर्थशास्त्र, भाग २ अध्याय १८। २ वर्म रघु०, ७.४८, ८.९४, कङ्कट ७.५९; कवच विक्र०, पृ० १३१। ३ शिरस्त्राण रघु०, ४.६४, ७.४९, ५७, ६६। ४ हस्तावरण शाकु०, पृ० २२४। ५ भाग २, अध्याय १८। ६ अध्याय ४ विभाग ७.४३२-३३। ७ वर्महरं रघु० ८.९४; विक्र० पृ० १३१ (कवचार्हः)। ८ ध्वजा रघु०, ३.५६, ७.४०, ६०, ९.४५, १२.८५, केतु ५.४२, ७.६५; शाकु०, १.३०, वैजयन्ती रघु०, ६.८। ९ रघु०, ५.४१, ४९, ३६, ७३, ७.२, ११, ९३, १३.७९, १६.५५, ७३; विक्र०, पृ० १२१। १० तूर्य रघु०, ७.३८, घंटा ४१, जलज ६३, ६४। ११ वही, ४.८२। १२ मत्स्यध्वजा वही, ७.४०। १३ स्पष्टाकृतिः पत्ररथेन्द्रकेतोः वही, १८.३०।

झोंका लगते ही उसका मुंह खुल पड़ता था और सैन्य-गमनसे उत्थित धूलि-राशिको पाकर वह नयी स्वच्छ जल-धारको पीती[1] हुई यथार्थ मछली-सी दिखायी पड़ती थी। 'गरुड़-ध्वज'का उल्लेख ध्यान देने योग्य है, क्योंकि जैसा कि हमें शिला-लेखों तथा मुद्राओंसे[2] प्रकट होता है यह गुप्त सम्राटोंका राजकीय ध्वज था।

ध्वजाएँ और ध्वज-चिह्न

शूर-वीरोंके व्यक्तिगत चुने हुए चिह्नोंके अतिरिक्त ऐसा मालूम होता है कि, देवताओं और योद्धाओंसे सम्बन्धित ध्वज-चिह्नोंके भी प्रयोग[3] होते थे। वे कभी-कभी चीनांशुकके[4] बने होते। ध्वजाओंसे सम्बन्धित होपकिन के निम्नलिखित विचारको यहाँ उद्धृत[5] करना असंगत नहीं होगा:—

"एक महान् योद्धाकी ध्वजाको समस्त सेनाकी मर्यादाको उत्तुंग रखनेवाली कहना सर्वथा संगत है। वे (ध्वजाएँ) यद्यपि राष्ट्रीय नहीं किन्तु व्यक्तिगत हैं...। हमें इसके बाद ध्वज-चिह्न और केतुका भेद जान लेना चाहिए। रथके पीछे, कदाचित् एक पार्श्वमें एक लम्बा दण्डा ऊँचा रथसे लगा होता है। मेरे विचारमें कुछ ऐसा लगता है कि मुख्य दण्ड रथ के पीछे बीचमें था और छोटी झंडियाँ पार्श्वोंमें लगी होती थीं। दण्डेके ऊपर अभिप्रेत आकृति लगी होती और नीचे ध्वजा फहराती होती। बहुधा ध्वज-दण्ड ही शत्रुके बाणोंका सर्वप्रथम लक्ष्य बनता था। जब दण्ड-स्थित चिह्नाकृति गिर पड़ती, सारी सेना भयभीत तथा विशृङ्खल हो जाती। दण्डके सिरपर ध्वजा या केतु लगाया जाता था। कभी-कभी ध्वजासे अभिप्राय होता था दण्ड, आकृति और ध्वजा सबका और केतु केवल आकृति या ध्वजके अर्थका ही बोधक होता। यह शूकर जैसे किसी जीवकी

---

१ वही, ७.४०। २ समुद्रगुप्तकी स्वर्ण-मुद्राएँ—स्टैंडर्ड श्रेणीका, चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वर्ण-मुद्राएँ—आर्चर प्रकार। ३ महाशनिध्वज रघु०, ३.५६। ४ चीनांशुकमिव केतोः शाकु०, १.३०। ५ जे० ए० ओ० एस०, १३, पृ० २४३।

समानाकृति होती थी। सुतरां, ध्वजाकी चोटीपर अर्जुनकी वानराकृति' सज्जित थी और उसके रथको सामान्यतः 'कपिध्वज रथ' कहते हैं।"

प्रयाण-कालमें सेना खीमों[1] में निवास करती थी। खीमेके लिए 'उपकार्या'[2] शब्दका प्रयोग आया है जिसका अर्थ है वह खीमा जो अस्थायी निवासके लिए निर्मित किया गया हो। खीमों की पंक्तियाँ जिनमें सेना निवास करती थी 'सेनानिवेश'[3] के नामसे सम्बोधित होती थीं।

शिविर

खीमें साधारणतया[4] कपड़ेके बनते थे (पटमण्डप, चन्दोवा या कपड़ेका खीमा)।[5] कपड़ेके बड़े-बड़े खीमोंके अस्तबलमें घोड़े रखे जाते थे। निम्नलिखित एक शिविरका वर्णन है जिसको एक मतवाले हाथीने अस्त-व्यस्त कर रखा है:—"क्षण-भरमें इस जीवने सारे शिविरको विशृङ्खलित कर दिया जो, बागडोर तोड़ घोड़ोंके भाग जानेके कारण, बिना रथके घोड़ोंका हो गया, रथ उलट दिये गये और उनके पहिये भग्न हो गये और इस स्थितिमें योद्धा अपनी स्त्रियोंकी[6] रक्षामें असमर्थ हो गये।"

सेनाका प्रयान तथा युद्धकी प्रगति संगीतकी सहकारितामें होती थी। सैन्य-प्रयान या युद्ध-प्रगतिमें जिन वाद्य-यंत्रोंका प्रयोग होता था वे थे—तूर्य,[7] लड़ाईका सींघा, दुन्दुभि[8], घंटा[9] और शंख।[10] युद्धके प्रारम्भ तथा अवसानकी सूचना के लिए शंख फूँका जाता था। किन्तु अवसान में केवल विजेताके[11] शंख ही फूँके जाते थे।

सामरिक वाद्य-यन्त्र

कालिदासने केवल एक ऐसा उल्लेख[12] किया है जिससे यह प्रकट होता

---

१ रघु०, ५.४१, ४९, ६३, ७.२, ११.९३, १३.७९, १६.५५, ७२। २ वहीं। ३ वही, ५.४९, ७.२। ४ वही, ५.७३। ५ दीर्घेषु पट-मण्डपेषु वही। ६ वही, ४९। ७ वही, ७.३८। ८ वही, १०.७६। ९ वही, ७.४१। १० वही, ७.६३, ६४। ११ वही, ६३। १२ वही, ५.४९।

है कि सेनाके प्रयाणके समय स्त्रियाँ भी साथ रहती थीं। वे स्पष्ट लिखते हैं कि ये योद्धाओंकी संगिनियाँ[१] थीं। इस विषयमें उनका समर्थन कौटिल्य करता है। वह कहता है कि भोजन तथा पेय वस्तुओंको लेकर स्त्रियोंको पीछे खड़ा रहना चाहिए और प्रोत्साहनके शब्दोंसे युद्ध करते लोगोंको[२] प्रोत्साहित करना चाहिए। सैनिकों-द्वारा एक विशेष प्रकारका सैनिक संस्कार किया जाता था और वह 'वाजिनीराजना'[३] कहलाता था। संग्राममें जानेके पूर्व आश्विन नौमी या कार्तिक शुक्ल पक्ष अष्टमी, द्वादशी या त्रयोदशीको यह राजा अथवा सेनानायकके द्वारा सम्पादित होता था। यज्ञाग्निमें हविष प्रदान करने, प्रतिमाओंकी आरती उतारने आदि तथा पवित्र मंत्रोंके पाठसे यह राजपुरोहित, मंत्री और युद्धके शस्त्रास्त्रोंके साथ विविध सेनांगोंकी पवित्रता के लिए किया जाता था। स्मरण रखा जा सकता है 'वाजि' शब्दका व्यवहार घोड़ा तथा हाथी दोनोंके लिए आता है और इस संस्कारका नाम 'वाजिनीराजना' इसी लिए दिया गया है क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य[४] घोड़ों और हाथियोंको प्रभावित करना है।

सैन्य में स्त्रियाँ

युद्ध सामान्यतः विशेष सामरिक पंक्ति-रचनाओंमें, जो 'व्यूह'[५] कहलाती थीं, होते थे। व्यूहके कई प्रकार थे। परिस्थितिको विचारकर कौन-सी स्थिति सबसे अधिक लाभप्रद होगी, इसका निश्चय करनेके उपरान्त सेनानायक अपनी सेनाको व्यूह-रचनामें खड़ा करता था। जब वास्तविक युद्ध छिड़ जाता और चतुरंगिनी सेना शत्रुके सामने उपस्थित होती, तो पदाति पदातिसे, रथी रथीसे, अश्वारोही अश्वारोहीसे और गजारोही गजारोही[६] से भिड़ जाते। एक एक सैनिकसे युद्धनीति आशा रखती थी कि वह गिरे हुए शत्रुपर[७] फिर वार नहीं करेगा।

युद्ध

---

१ वहीं। २ अर्थशास्त्र, भाग १०, अध्याय ३। ३ रघु०, ४.२५। ४ रघुवंश एन० जी० नन्दर्गिकर-द्वारा, नोट। ५ रघु०, ७.५४। ६ वहीं, ३७। ७ पूर्व प्रहर्ता न जघान वहीं, ४७।

हमें रघुवंशमें एक युद्धरत धनुर्धरका उदाहरण प्राप्त होता है।[1] एक आदर्श योद्धाके विषयमें कविका कहना है कि वह इतनी तेजीसे बाण-विक्षेप करता था कि तूणमें उसका दाहिना या बायाँ हाथ रखना दिखायी नहीं पड़ता था। देखनेवालेको ऐसा लगता था कि उसके चापसे निकलनेवाले बाण उसके किसी हाथसे स्पृष्ट नहीं होते प्रत्युत धनुर्ज्या स्वयं उनको निकालती जाती है। उसके एक हाथमें धनुष था और दूसरा 'ज्या' को खींच रहा था। साधारण धनुर्धर इस कार्यमें क्रमशः अपने बायें और दाहिने हाथोंका प्रयोग करते थे, परन्तु हस्तलाघवतामें एक असामान्य धनुर्धर अपने दाहिने हाथमें धनुष धारणकर ज्याको बायेंसे खींच सकता था—इस क्रियाको 'सव्यसाचित्व'[2] कहा जाता था।

युद्ध में धनुर्धर

कालिदास-द्वारा प्रयुक्त 'आलीढ'[3] शब्दपर मल्लिनाथ एक श्लोक[4] उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार युद्ध करते हुए धन्वी पाँच स्थितियोंका साधन करते हैं जिनमें 'आलीढ' एक है। आलीढ वह स्थिति है जिसमें दाहिना पैर आगे बढ़ाकर बायाँ पीछे झुका[5] लिया जाता है। वल्लभ इस प्रकारकी आठ स्थितियोंका[6] जिक्र करता है।

युद्ध करते समय स्थिति-साधन

क्षत्रियोंमें अनुशासनने उच्च स्थान ग्रहण किया था। एक क्षत्रिय कुमारकी शिक्षा जो समय पाकर सैनिक होता था, छोटी अवस्थासे ही

१ वही, ५७-५८। २ वही, ७.५७। ३ वही, ३.५२।

४ स्थानानि धन्विनां पञ्च तत्र वैशाखमस्त्रियाम्।
त्रिवितस्त्यन्तरौ पादौ मण्डलं तोरणाकृति॥
अन्वर्थं स्यात्समपदमालीढं तु ततोऽग्रतः।
दक्षिणो वामपाकुञ्चनं प्रत्यालीढविपर्ययः॥ यादव।

५ वही। ६ शब्द पर वल्लभकी टीका।

आरम्भ हो जाती थी। सच पूछा जाय तो उसकी सैनिक शिक्षाका श्रीगणेश उसी समय हो जाता था जब वह धनुष चढ़ानेके योग्य हो जाता था। क्षत्रिय[१] नामके साथ रक्षाका भाव सन्निहित था और वह विना अपने धनुषके किस प्रकार किसीकी रक्षा कर सकता था? अतः एक सच्चा क्षत्रिय कभी अपने धनुष-बाणको अपनेसे अलग नहीं करता था। यही कारण है कि हम पुरुरवाके पुत्रको पिताको नमस्कार करते समय अञ्जलिके मध्यमें धनुष रखे पाते हैं[२]। युद्धपर जीवित रहनेवाली[३] एक विराट् सेनाको अस्त्र-प्रहारकी कलाकी पूर्ण रूपसे शिक्षा दी जाती थी। यह ध्यान देने योग्य है कि सैनिक मदिरा-पानके रसिक थे और आकंठ[४] पान कर लेते थे।

अनुशासन

समस्त सेना सेनापतिके[५] अधीनस्थ होती थी। जब राजा[६] या युवराज[७] सेनाका संचालन स्वयं करता, तो वह युद्ध-नायकका स्थान ग्रहण करता था।

कालिदास 'दूत'[८] शब्दसे राजदूतका संकेत करते हैं। कौटिल्य[९] राजदूतके कर्त्तव्योंका विस्तारसे वर्णन करता है। दूत एक कूटनीतिक अधिकारी था जो अपने स्वामीके हितोंकी रक्षा करने और शत्रुकी सबलता तथा निर्बलता की सारी सूचनाएँ प्राप्त कर गृह-विभागको पहुँचानेके लिए दूसरे राज्यकी राज-सभामें भेजा जाता था। हमें मालविकाग्निमित्रमें एक राजदूतका परिचय प्राप्त

राजदूत या गुप्तचर

१ क्षतात्किल त्रायत इति रघु०, २.५३। २ चापगर्भमञ्जलिं बध्वा (विभिन्न पठन) विक्र०, पृ० १२७ एम० आर० कलेका संस्करण। ३ कृतास्त्रः रघु०, १७.६२; सापराधिकः वही। ४ वही, ४.४२, ५६। ५ माल०, पृ० ११; शाकु०, पृ० ६३। ६ रघु०, ४। ७ वही, ५.७.१६ ३१-३२। ८ माल०, पृ० ८८। ९ अर्थशास्त्र, भाग १, अध्याय १६। १० माल०, पृ० ८८।

होता है जिसको विदर्भ-राजने बहुविध भेंटोंके साथ अग्निमित्रकी राज-सभामें भेजा था।

कवि स्पष्ट शब्दोंमें गुप्तचर-पद्धतिका उल्लेख करता है। वह गुप्तचरों को 'राजनीतिक प्रकाशकी किरणें'[1] कहता है और एक राजाके विषयमें लिखता है कि उसके राज्यकी कोई वस्तु, राज्यके चारों ओर उसके गुप्तचर-रूपी राजनीतिक प्रकाशकी किरणोंको फेंकते रहनेके कारण, अदृश्य नहीं थी।[2] नियमित समयपर शयन करनेवाले राजाको ऐसे गुप्तचर जो एक दूसरेके कार्योंसे अनभिज्ञ थे और जिनको शत्रुओं तथा मित्रोंके[3] बीच घूमनेको विशेष रूपसे भेजा गया था, जगाये रखते थ। शत्रु-राज्यकी महत्त्वकी सूचनाएँ एकत्रित कर राज्यको सूचित करनेके लिए गुप्तचर (चर, अपसर्प, प्रणिधि)[4] गुप्त कार्यकर्त्ताके रूपमें नियुक्त किये जाते थे। कौटिल्य[5] और शुक्रनीति[6] गुप्तचर-विभागका सविस्तार वर्णन करते हैं और मौर्य-शासनमें एक यथार्थ विस्तृत गुप्तचर[7]-पद्धति संचालित होती थी।

अर्थशास्त्रमें[8] जैसा कहा गया है गुप्तचर राजदूतके प्रत्यक्ष नियंत्रणमें काम करते होंगे। स्वभावतः यह विभाग वैदेशिक मंत्रीके अधीन था।

मुख्य अवसरोंपर बन्दियोंकी कारा-मुक्ति एक पुरानी प्रथा थी। ऐसा एक अवसर था, राज्यके उत्तराधिकारीका[9] जन्म। पुत्र-जन्मके अवसरपर बन्दियोंकी मुक्तिकी प्रथाके संबंधमें वल्लभका उपस्थित किया हुआ उद्धरण है। "युवराजाभिषेक और पुत्र-जन्मके अवसरोंपर या शत्रुके षड्यंत्रके सफलतापूर्वक निराकरण होने पर बन्दियोंको कारागार

बन्दियोंकी मुक्ति

---

१ दीधितैः रघु०, १७.४८। २ वही। ३ वही, ५१। ४ वही, १४. १३,३२, १७.४८; कुमा०, २.६,१७। ५ अर्थशास्त्र, भाग १, अध्याय १२। ६ अध्याय १ और २। ७ वी० ए० स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री आफ इण्डिया, पृ० १४५-१४७। ८ भाग १, अध्याय १२ और १६। ९ सुतजन्महर्षितः रघु०, ३.२०।

से मुक्त कर देना चाहिए।"[1] राजाके राज्याभिषेक तथा युवराजके यौव-राज्याभिषेक ऐसे अवसर थे जब सब प्रकारके बन्दियोंको यहाँ तक कि इसको आदर्श रूपसे पूर्ण बनानेके लिए मवेशियों, भारवाही पशुओं तथा पक्षियोंको भी मुक्ति मिल जाती थी।[2] ऐसे अवसरपर मृत्यु-दण्डकी सजा पाये हुए क़ैदियोंको भी क्षमा[3] प्रदान कर कारा-मुक्त कर दिया जाता था। कभी-कभी राजाके[4] क्रूर ग्रहोंके प्रभावको दूर करनेके लिए कारा-बद्ध जनोंको मुक्ति प्राप्त होती थी।

त्योहार बन्दियोंकी मुक्तिके सुअवसर थे। मालविकाग्निमित्र[5] में एक ऐसे अवसरपर राजा-द्वारा बन्दियोंके छोड़े जानेका एक प्रदर्शन मिलता है। "भृत्य, यद्यपि उन्होंने कोई अपराध किया है, त्योहारके दिनोंमें बन्धनमें नहीं रखे जायँ—इस विचारके साथ मैंने उन्हें मुक्ति दी और वे अभिवादन करनेके लिए (कृतज्ञतापूर्वक) मेरे सम्मुख आ उपस्थित हुए।" विजय-दिवस, जब राजनगर प्रसन्नतासे भर जाता और नागरिक आनन्द-पुलकित होने लगते, एक ऐसा त्योहार[6] (उत्सव-दिवस) समझा जाता था। यह सम्भव है कि उत्सवदिवसके नामसे ही अशोककी चलायी शुभ तिथियोंपर[7] क़ैदियोंको छोड़नेकी प्रथा चलती रही हो। कालिदास इस प्रकारके सभी असवरों (विजय तथा युवराज-जन्म-दिन) का उल्लेख करते हैं जो कौटिल्यके[8] आदेशानुसार राजाके लिए क़ैदियोंको मुक्त करनेके उपयुक्त हैं।

---

१ युवराजाभिषेके च परचक्रावमर्दने। (शायद कामन्दकनीतिसारसे) पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बद्धस्य हि विधीयते॥ २ रघु०, १७.१९,२०। ३ वधार्हाणामबध्यताम् वही, १७.१९। ४ दैवचिन्तकैर्विज्ञापितो राजा सोपसर्गं वो नक्षत्रम्। तदवश्यं सर्वबन्धमोक्षः क्रियतामिति। माल०, पृ० ७१। ५ वही, ४.१७। ६ मौद्गल्य, यज्ञसेनश्यालमूरीकृत्य मोच्यन्तां सर्वे बन्धनस्थाः वही पृ० १०३। ७ स्तम्भ लेख नं० ५। ८ अर्थशास्त्र भाग २ अध्याय ३६।

सुचारु रूपसे शासन-व्यवस्था संचालित करनेके लिए साम्राज्य या राज्य, जहाँ जैसा हो, कई प्रान्तोंमें विभक्त था। प्रत्येक प्रान्त एक राज्य-प्रतिनिधिके अधीन रखा जाता था जो सामान्यत: राजपरिवारसे ही नियुक्त होता था। माल-विकाग्निमित्रका नायक, सम्राट् पुष्यमित्रका पुत्र अग्निमित्र एक ऐसा ही राज-प्रतिनिधि था जो अपने पिताके साम्राज्यके दाक्षिण प्रातिनिधित्वके मुख्य नगर विदिशामें कार्य-संचालन करता था। परन्तु कालिदास उसको एक राजाके रूपमें ही देखते हैं जो युद्धकी घोषणा[1] तथा सन्धि[2] करनेको स्वतंत्र है और जो मंत्रि-परिषद्की[3] सहायतासे शासन करता है। कवि उसको 'भगवान् विदिशेश्वर'[4] की देवत्व-सूचक उपाधिसे अलंकृत करता है। यह एक विशिष्ट बात-सी प्रतीत होती है यद्यपि मंत्रि-परिषद्की सहायताका जिक्र अशोकके लेखों[5] में हो चुका है।

प्रान्त और राजनीतिक विभाग

सीमाएँ[6] (प्रत्यन्त) स्वयं प्रान्तोंका निर्माण करती होंगी। वे सीमा-रेखापर सुदृढ़ अन्तपाल दुर्गोंसे[7] सुरक्षित थीं जो सैनिकोंके[8] पहरेमें थे। इन महत्त्वके दुर्गोंकी व्यवस्थाका अधिकार एक अधिकारीको दिया गया था जिसको अन्तपाल[9] कहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे महत्त्वके पदपर अक्सर कोई राजाका सम्बन्धी ही होता होगा। हम जानते हैं कि मौर्यकालमें राजवंशके राजकुमारोंके हाथोंमें प्रान्तों तथा सीमाओंका शासनाधिकार था। अशोक एक समय उज्जैनका और दूसरे

सीमाएँ

---

१ माल० पृ० ११। २ वही, पृ० १००, ५.१३,१४। ३ वही, पृ० १००, १०१। ४ वही एक्ट ४। ५ जौगद और दौलिका विभिन्न चट्टान आदेश लेख और सिधापुर-लेख। ६ रघु० ४.२६; अन्त-माल० पृ० ९,१०। ७ अन्तपालदुर्ग माल० पृ० ९; रघु० ४.२६। ८ रघु० ४.२६। ९ माल० पृ० १०।

समय तक्षशिला[1] का शासक था जबकि उसका पुत्र कुणाल तक्षशिला[2] का । नर्मदाकी तलहटीमें अग्निमित्रकी दक्षिणी सीमाएँ राज-श्याल वीरसेनके पहरेमें थीं जो महाराज्ञी धारिणीका[3] वर्णावर भ्राता था । इसपर ध्यान दिया जा सकता है कि अर्थशास्त्र भी सीमाओं और उनके प्रहरियों (अन्त-पालों) की इन शब्दोंमें चर्चा करता है : "राज्यकी सीमाओंपर ऐसे सीमा-रक्षकों (अन्तपालों) से सुरक्षित दुर्ग बनाये जायँगे जिनका काम राज्यमें प्रवेश करनेके द्वारोंपर चौकी रखना होगा ।"[4]

अन्तराज्य भीतरी शासनके मामलोंमें स्वतंत्र थे और प्रान्तोंके साथ शामिल होकर साम्राज्यके मुख्य भागका निर्माण करते थे । जैसा हमने

अन्तराज्य

ऊपर देखा है, अपने महाराजाधिराजकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिए राजधानीमें आते, विजय-यात्रामें उनका अनुसरण करते और अपने-अपने अन्तराज्योंके लिए नये अधिकार-पत्र प्राप्त करनेके लिए उनके सामने उपस्थित होते अन्तराज्योंके प्रधानोंके अनेक उल्लेख मिलते हैं जो बतलाते हैं कि अधीनस्थ राज्य भी प्रान्तोंके जैसे ही कामके थे और उनके प्रधान राज-प्रतिनिधिके समान थे ।

कालिदासने जिन पूर्ण-सत्तात्मक और अधीनस्थ राजकीय विभागोंका

अन्य राजनीतिक विभाग

उल्लेख किया है उनकी एक सूची यहाँ उपस्थित की गई है । उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी भूमिपर तथा उसके बादके राज्यों पर पारसीकों,[5] हूणों[6] और कम्बोजोंका[7] अधिकार था । उत्तरी और उत्तरी-पूर्वी सीमाओं पर किरातोंकी[8] जंगली जातियाँ और उत्सव-[9]

---

१ दिव्यावदान, पृ० ३७२; महावंश, ५.४६ । २ दिव्यावदान, पृ० ४३० । ३ भ्राता वीरसेनेन (विदर्भविषयात्) वही, पृ० ८८, अस्ति देव्या वर्णावरो भ्राता वीरसेनो नाम स भर्त्रा नर्मदातीरेऽन्तपालदुर्गे स्थापितः वही, पृ० ९ । ४ भाग २, अध्याय १ । ५ पारसीकांस्ततो जेतुं रघु०, ४.६० । ६ तत्र हूणावरोधानां वही, ६८ । ७ वही, ६९ । ८ वही, ७६ । ९ वही, ७८ ।

संकेतोंका निवास था और दूरका उत्तरी-पूर्वी भाग (प्राग्ज्योतिष) कामरूपके[1] राजा-द्वारा शासित होता था। पूर्वी देश (पौरस्त्यान्)[2] में सुह्म[3], वंग[4], उत्कल[5] और कलिंग[6] सम्मिलित थे। दक्षिणमें मलय पर्वत[7] और पाण्ड्योंका[8] देश था, दक्षिणी-पश्चिमी सीमापर केरलोंकी[9] भूमि थी और पश्चिम अपरांत[10] कहलाता था। इनके अतिरिक्त कविके वर्णनमें आये हैं—मगध[11], विदर्भ[12], अनंग[13], अवन्ति[14], अनूप[15], सूरसेन[16], कदम्ब[17], उत्तरकोसल[18] और दूसरे (अन्य)[19] जो कदाचित् ऐसे प्रसिद्ध नहीं थे जिनका उल्लेख किया जाय। इन उपर्युक्त स्थानोंके भौगोलिक एकीकारणका प्रयत्न 'भूगोल-अध्याय' में किया गया है।

जन-संख्याकी अधिकता (**स्वर्गाभिष्यन्दवमनम्**) के कारण दूसरे स्थानोंसे झुण्डके झुण्ड वेगपूर्वक आनेवाले लोगोंके ग्राम बसाने तथा उपनिवेश बनाने (**कुल्लेवोपनिवेशिता**) की चर्चा कालिदास अपने एक पद्यमें[20] करते हैं। कथित प्रसंगवाले पद्यकी व्याख्या करते हुए अर्थशास्त्र का एक पूरा उद्धरण देकर मल्लिनाथ इसको एक राजनीतिक रूप देते हैं। अर्थशास्त्रने[21] कालिदासके ही 'अभिष्यन्दवमन' पदका प्रयोग किया और इस प्रकार वह उनके कथन का स्पष्टीकरण करता है। वह है:—परदेशियोंको राज्यमें आ बसने (परदेशापवाहनेन) का प्रोत्साहन देकर या अपने

परदेश-प्रवाहन और ग्राम-रचना

१ वहीं, ८३.८४। २ वहीं, ३४। ३ वहीं, ३५। ४ वहीं, ३६। ५ वहीं, ३८। ६ वहीं, ३८, ४०, ६.५३। ७ मलयाद्रेरुपत्यका वहीं, ४.४६। ८ वहीं, ४९, ६.६०। ९ वहीं, ५४। १० वहीं, ५८। ११ रघु०, ६.२०। १२ माल०, पृ० ८८, ५.२; रघु०, ५.३९, ६१, ७.३२। १३ रघु०, ६.२६। १४ वहीं, ३२। १५ वहीं, ३७। १६ वहीं, ४५। १७ वहीं। १८ वहीं, ९.१ १८.७। १९ वहीं। २० वहीं, १५.२९। २१ भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशप्रवाहेण स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा निवेशयेत् भाग २, अध्याय १।

राज्यके घनी आबादीवाले केन्द्रोंको जन-संख्याकी अधिकतावाले भाग (स्वदेशाभिष्यन्दवमनेनवा) को भेजनेकी प्रेरणा देकर राजा नये क्षेत्रों में या पुराने भग्नावशेषोंपर (भूतपूर्वमभूतपूर्व वा) ग्रामोंका निर्माण कर सकता है।

शासनकी निपुणता जब अपनी प्रजाको अपनी सन्तानकी दृष्टिसे देखनेवाला और उनकी समृद्धिकी वृद्धिमें सतत लीन रहनेवाला परोपकार-प्रिय राजा राज्यका मूर्द्धाभिषिक्त होता और शासन-कार्य विविध विभागोंके हाथ संचालित किया जाता, तो शासनकी निपुणता निश्चित थी। कालिदासके शब्दोंमें सड़कें और राजपथ[1] सुरक्षित थे और पर्वतों, अरण्यों तथा नदियोंसे[2] देश और विदेशोंमें वणिक्समूह निश्चिन्ततासे भ्रमण करते थे। सम्भव है, यह वर्णन आदर्श हो, क्योंकि मालविकाग्निमित्रमें कवि स्वयं राजकीय लोगोंके एक समूहपर जंगली लुटेरोंके धावाका जिक्र करता है। परन्तु यह घटना सीमा-स्थित एक अरण्यकी है जिसका अधिकार विवाद-ग्रस्त होनेके कारण उसकी रक्षा विश्वासपूर्ण नहीं रही होगी। सामान्यतः आवागमनके मार्ग निरापद थे जिसकी सत्यता फाहियान के प्रमाणोंसे स्पष्टतया सिद्ध होती है जिसने गुप्त-साम्राज्यमें बिना किसी बाधाकी आशंकाके भ्रमण किया। कवि कहता है कि राज-दण्डका इतना भय था कि वायु भी विहार-भूमिके[3] अर्द्ध मार्गमें मदिरा पानकर सोयीं हुई स्त्रियोंके वस्त्रको बाधा पहुँचानेका साहस नहीं कर सकता था। अपने राजनीतिक तथा धार्मिक[4] कृत्योंसे उदार मार्गपर चलता हुआ राजा भौतिक या दैविक[5] सभी आपत्तियोंका[6] दमन करता था और इन सबसे बढ़कर वह अपनी प्रजाको अपने मृत[7] स्वजनोंके स्थानमें उसे समझनेकी

१ राजपथं रघु०, १६.३० राजवीथी १८.३९; महापथ कुमा०, ८.३। २ रघु०, १७.६४। ३ वही, ६.७५। ४ वही, १७.८१। ५ दैवीनां मानुषीणां...आपदानां रघु०, १.६०। ६ माल०, ५.२०; रघु० १.६३। ७ शाकु० ६.२३।

घोषणा भी करता था। इस प्रकार स्नेहाभिषिक्त हृदयके साथ अपनी प्रजाके हृदयोंपर अधिकार करनेकी वह चेष्टा करता था। अतः यह कोई विस्मयकी बात नहीं है कि राजाकी अनुपस्थिति प्रजाको बेचैन कर देती थी और उसके पुनरपि उनके मध्य आनेपर उनकी आँखें[1] उसके दर्शनका पान करतीं नहीं अघाती थीं। सब भाँतिके दोष उसके राज्यसे तिरोहित हो चले और किसी प्रकारके अमंगलकी[2] छाया भी प्रजाका स्पर्श नहीं करती थी। अपराधोंकी संख्या बहुत क्षीण हो गई और केवल जांगल[3] प्रदेश ही ऐसे रह गये जहाँ अपराधोंके नाम सुने जाते थे। मालविकाग्निमित्रके[4] भरतवाक्यमें कवि घोषणा करता है:—लोक-साधारणपर आ पड़नेवाली विपत्तियोंके निवारण-जैसी प्रजाके कल्याणकी मेरी अन्य इच्छाओं में एक भी ऐसी नहीं है जो, अग्निमित्रके उनके रक्षक (गोप्ता) रहते पूरी न हो सके।

---

१ रघु० २.७३। २ वही ५.१३। ३ माल० ५.१० आटविकेभ्यो वही पृ० ९९। ४ वही ५.२०।

खण्ड ३

सामाजिक जीवन

अध्याय ६

सामाजिक ढाँचा तथा विवाह

कालिदासके ग्रन्थोंमें समाजकी जो रूप-रेखा मिलती है, वह विस्तृत तथा विविध है। इस महान् संस्कृत कविकी रचनाओंमें भारतीय जनता का सामाजिक जीवन जैसा प्रतिबिम्बित हुआ है उसका वर्णन अगले पृष्ठों में किया गया है। यह वर्णन निस्सन्देह पारम्परिक है, परन्तु क्योंकि उस ओर हिन्दू-समाजमें कठिनतासे कोई परिवर्त्तन हुआ है, यह कालिदासके अपने युगका प्रतिबिम्ब भी कहा जा सकता है।

सामाजिक ढाँचा

हिन्दू-समाजकी रचना पारम्परिक चार वर्णों,[1] यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रसे हुई थी। व्याधों,[2] जालसे[3] मछली[4] मारने-जैसे कामों के करनेवालों, चाण्डालों और इसी श्रेणीके अन्य लोगोंसे बने एक पाँचवें वर्गका भी उल्लेख हुआ है। अर्थशास्त्र[5] और शुक्रनीतिके[6] अनुसार इस वर्गके लोग नगरके प्राचीरोंके बाहर निवास करते थ। इसकी

---

१ वर्णचतुष्टय रघु० १८.१२; वर्ण १५.४८; वर्णानां शाकु० ५.१०; वर्णाश्रमाणां रघु० ५.१६ १४.६७; शाकु० पृ० १६२। २ लुब्धकैः शाकु० पृ० ५६; श्वगणिवागुरिकैः रघु० ६.५३। ३ जालोपजीवी शाकु० पृ० १८६। ४ अहं जालोद्गालादिभिर्मत्स्यबन्धनोपायैः कुटुम्बभरणं करोमि, वही पृ० १८३; धीवरः वही पृ० १८२। ५ भाग २ अध्याय ४ पृ० ४६। ६ किलाओं और पुलोंकी बनावट।

वास्तविकताकी पुष्टि फाहियानके कथनोंसे भी होती है। वह लिखता है, चाण्डाल जब नगरमें प्रवेश करते, वे काष्ठ-दण्डोंकी[1] ध्वनियोंसे सवर्ण हिन्दुओंको अपने आगमनमें सावधान करते जाते थे। बहुविध अन्य देशीय तत्त्वोंका भी उनके साथ समावेश किया जा सकता है। ऊपरके तीन वर्णोंका लाक्षणिक नाम द्विज[2] या दुबारा जन्मवाला था क्योंकि उनका उपनयन संस्कार उनको दूसरा जन्म देनेवाला कहा जाता था और उससे उन्हें वह पद प्राप्त होता था जिसका उपयोग वे विशेष कर चतुर्थ वर्ण शूद्रके ऊपर रहकर करते थे। 'प्रचलित वर्ण-व्यवस्थाका अविरोधक' (स्थितेरभेता)[3] वह राजा वर्णाश्रमोंका रक्षक (वर्णाश्रमाणां रक्षिता) था और उसपर प्रजाके न्याय्य तथा धार्मिक आचरणकी देख-रेखका दायित्व था। राजाकी यही विशिष्ट योग्यता थी जिसके कारण उसको रथवाहक (नियन्तुः) की उपाधि प्राप्त थी। वह उस धर्म-रथका संचालक था जिसमें उसकी प्रजा जुती हुई थी और वह उसको इस प्रकार चलाता था कि वह एक रेखा-मात्र[4] भी धर्म-पथसे विचलित नहीं होती थी।

धर्मशास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित आचार-धर्मोंके पालनमें प्रजा श्रद्धा भावसे लगी कही जाती है। यद्यपि कालिदासके स्वतंत्र, प्रसन्न एवं सौंदर्योपासक समाजमें असंयमसे लोग नितान्त अपरिचित नहीं थे, क्योंकि मालविकाग्निमित्रमें एक सेनाध्यक्षके सम्बन्धका कमसे कम एक प्रसंग[5] हमें मिलता है जो मिश्रित-वर्णका (वर्णावरः—निम्न वर्णकी स्त्रीसे उत्पन्न) था और जिसका पिता क्षत्रिय और माता वैश्या या शूद्रा थी, तथापि उपर्युक्त आदर्श था जिसकी सिद्धिके लिए राजा अपनी प्रजाके साथ सतत प्रयत्नशील रहता था। वर्ण-व्यवस्थाके नियमोंका उल्लंघन अत्यल्प होता था और उन नियमोंके विरुद्धाचरणको दमन करनेके लिए राजा सदा

वर्ण

१ जमेस लेग्गे : फाहियान्स रेकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किङ्गडम्स, पृ० ४३। २ द्विजेन रघु० ५.२३ द्विजेतरतपस्विसुतं वही ६.७६। ३ वही, ३.२७। ४ वही, १.१७। ५ वर्णावरो भ्राता माल०, पृ० ६।

सावधान रहता था।[1] समाजके नायक अपने वंशको शुद्ध[2] रखनेके लिए चिन्तित रहते थे और नियम भंग करनेवालेको कठोर दण्ड दिया जाता था। कालिदास वर्णाश्रम-धर्मके बड़े पुष्ठ-पोषक ज्ञात होते हैं। रामके हाथों अद्विजाति-पुत्रको प्राण-दण्ड दिये जानेकी घटनाका प्रशंसासूचक शब्दोंमें टीका करते हैं और इस प्रकार उस विचारको बल देते हैं कि शूद्र तपस्या[3] नहीं कर सकता था, क्योंकि उसका कर्त्तव्य था ऊपरके तीन वर्णों की सेवा करना और उसके तप करनेका अर्थ था वर्ण-व्यवस्थाके नियमोंका भंग। कालिदासका दृष्टिकोण यथार्थमें ब्राह्मणत्व-परायण है और वे जान-बूझकर रामायण-द्वारा की गई शूद्रकी निंदाको दुहराते हैं जिसने प्रचलित वर्ण-व्यवस्थाकी सुरक्षाको धमकी दी थी[4]।

तीन गुणोंमें श्रेष्ठ गुण (सत्त्व) वर्ण-श्रेष्ठ ब्राह्मणका माना जाता था और द्वितीय गुण (रजस) का अधिकारी था क्षत्रिय जिसका दूसरा दर्जा था—रामकी शूरताके वर्णनमें कहे गये परशुरामके शब्दोंसे यह स्पष्ट होता है। वे कहते हैं, "तुमने सचमुच मेरी पराजयके कलंकको भी मुझपर एक कृपामें बदल दिया है जिसका परिणाम मेरे लिए अत्यन्त मधुर हुआ है, क्योंकि तुमने मेरी प्रकृतिमें से क्रोध नामक इन्द्रिय-विकार, जिसे मैंने मातृक देनके रूपमें पाया था, निकाल दिया है और मुझे बदलकर शान्तिमय कर दिया है जो मेरा सच्चा पैतृक वंश-गुण है।"[5] जिस मूलसे द्वितीय वर्ण, क्षत्रियके नामकी व्युत्पत्त्यर्थक व्याख्या होती है कवि उसकी जड़पर कुठाराघात करता है। यथार्थमें 'हानिसे रक्षा' से ही क्षत्र शब्दकी उत्पत्ति है और उसी अर्थमें इसका लोकमें[6] व्यवहार होता है।

जीवनकी सामान्य यात्रामें चारों वर्णोंके लोग अपने-अपने कर्मोंका अनुसरण करते थे और कोई भी अभद्र व्यवसाय की अल्प प्राप्ति को घृणा की

---

१ रघु०, १५.४७, ४८, ४९। २ सं तति : शुद्धवंश्या हि वहीं, १.६९। ३ वहीं, १५.५३। ४ ए० बी० कीथ : ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ९९। ५ रघु०, ११.९०। ६ वहीं, २.५३।

दृष्टिसे नहीं देखता था यद्यपि कभी-कभी ऐसे व्यवसायके सम्बन्धमें उच्च वर्णका अभिमान करनेवालेकी उपहासात्मक प्रवृत्ति हमें देखनेको मिलती है। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें हमें एक ऐसा ही उल्लेख मिलता है

वर्ण और कर्म

जहाँ एक प्रहरी जो सम्भवतः क्षत्रिय-वर्णका था, धीवरके पेशेके ऊपर अशिष्टतासे आक्षेप करता पाया जाता है और धीवर अपने पेशेके औचित्य को निर्भयतासे सिद्ध करता हुआ उसका प्रतिवाद करता है। धीवर हिन्दू-सामाजिक व्यवस्थाके सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्तोंमेंसे एक की व्याख्या करता है और ब्राह्मणोंका उदाहरण उपस्थित करता है। भिन्न-भिन्न वर्णोंका कर्म उनके जन्मके साथ उत्पन्न यानी सहज समझा जाता था जिसे जन्मके कारण ही उन्हें आनन्दपूर्वक करना था। वेदोंमें पारंगत विद्वान् ब्राह्मण श्रोत्रिय हृदय-हीन नहीं हो सकता, तथापि यज्ञोंमे पशुओंके वध करने के लिए उसे क्रूर होना पड़ता है, क्योंकि यह उसके सहज कर्मका अंग है। धीवर तर्क करता है, उसी प्रकार मैं मछली पकड़ने और मारनेका पेशा करता हूँ, इसलिए नहीं कि मैं स्वभावतः क्रूर प्रकृतिका हूँ परन्तु इसलिए कि मुझे सहज कर्मका[1] पालन करना है। उपर्युक्त वाद-विवादके भावको प्रकट करनेवाला पद्य इस विचारपर बल देता प्रतीत होता है कि सहज कर्म चाहे जैसे हों, त्यक्त नहीं किये जा सकते। धीवरके वर्णका उल्लेख 'जाति' की संज्ञासे किया गया है जो याज्ञवल्क्यकी अनुसूचीके अनुसार वर्णसंकर का अर्थ बोधित करता है।

चार वर्णोंमें दो ऊपरके वर्गों ब्राह्मण और क्षत्रियका सबसे अधिक बार उल्लेख हुआ है। हमें ज्ञात होता है कि यज्ञोपवीत धारण करना ब्राह्मणोंका अधिकार[2] हो गया था जो उपवीतसे ही पहचाने जाते थे। एक ब्राह्मणकी आजीविकाका साधन पौरोहित्यकी[3] उसकी आय (दक्षिणा)

---

१ शाकु०, ६.१। २ पित्र्यवंशमुपवीतलक्षणं रघु०, ११.६४।
३ गृहीतदक्षिणोऽस्मि इत्यादि, माल०, पृ० ३३, ८८।

ही प्रतीत होती है और कविने इसके अनेकों उल्लेख किये हैं। क्षत्रियका मुख्य कर्म युद्ध करना ही माना जाता था। शुद्ध और मिश्रित क्षत्रियोंके पुत्रोंमें भेद किया गया है। शुद्ध क्षत्रिय-पुत्रके एक द्विजातिके[1] लिए आवश्यक सभी संस्कार होते थे। क्षत्रिय-पुत्र धनुर्विद्या[2] (धनुर्वेद) की शिक्षा लेनेके बाद अपने अंजलिबद्ध[3] हाथोंके मध्य क्षत्रियके[4] चिह्न, अपने धनुषको रखकर अपने बड़ोंका अभिवादन करता था। इसका अर्थ था कि एक क्षत्रिय किसी भी अवस्थामें अपने आयुध अपनेसे अलग नहीं कर सकता। वैश्योंके लिए नैगम,[5] श्रेष्ठी,[6] वणिज[7] और सार्थवाह[8] शब्द हमें मिलते हैं जो नितरा स्थल तथा जल मार्गसे वाणिज्य करते थे।

आश्रम, हिन्दू जीवन का अवस्था-विभाग

आश्रम[9] अर्थात् जीवनके अवस्था-विभाग भी चार ही थे जो एक द्विजके जीवनको चार अवस्थाओंमें विभाजित करते थे—ब्रह्मचर्य या विद्यार्थी जीवन, गार्हस्थ या गृह-व्यवस्थापकता, वानप्रस्थ या जंगल-निवास और सन्यास या सबसे विरक्ति। कविने त्यागकी अवस्थाका जो चित्रण किया है वह हिन्दू-समाजके अति प्राचीन रूपसे सम्बन्धित है और इस प्रमाणके आधारपर यह सामान्य निष्कर्ष निकालना बाधा-रहित नहीं है कि जीवनके चार आश्रम यथार्थतः व्यवहारमें आये हुए थे। तत्त्वतः कालिदास ऐसे जीवनकी कल्पना नहीं कर सके जो द्विजकी अन्तिम अवस्थामें संन्यासमें परिणति नहीं प्राप्त कर सके। उसका रघु अपने पुत्रको अपने स्थानमें

१ क्षत्रियकुलीनस्य जातकर्मादिविधानं विक्र०, पृ० १२८। २ वही, पृ० १२८। ३ मातृकं च धनुर्जितं दधत् रघु०, ११.६४। ४ चापगर्भमञ्जलिं बद्ध्वा प्रणमति विक्र०, पृ० ११७। ५ वही, ४.१३। ६ शाकु० पृ० २१९। ७ माल०, १.१७; पृ० ९८। ८ समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौव्यसने विपन्नः शाकु०, पृ० २१९। ९ शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्। वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघु०, १.८। आश्रम रघु०, में भी, ५.१९, ८.१४, १४.६७; शाकु०, पृ० १६२।

स्थापित करता है और स्वयं तपश्चर्याका जीवन विताने चला जाता है क्योंकि 'योग्य उत्तराधिकारीके रहते सूर्यवंशी कभी गृहस्थाश्रममें नहीं रह सकता।'[1] ऐसा त्यागी वल्कल-वस्त्र[2] धारण करता और नगरसे[3] दूर निवास करता था। यह अन्तिम आश्रम[4] था। पहले, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंके[5] लिए वेदाध्ययन करना था और ब्रह्मचारी क्षत्रिय[6] धनुर्विद्याके साथ-साथ चार वेदोंका पाठ करते थे। अध्ययन-कालके उपरान्त ब्रह्मचारी वैवाहित होने तथा गार्हस्थमें[7] प्रवेश करनेकी आज्ञा पाता था। समग्र चार आश्रमोंमें गार्हस्थ सर्वापेक्षा मुख्य[8] माना जाता था क्योंकि इसीके ऊपर सबका भोजन निर्भर करता था। डा० कीथका कथन है, "चार आश्रमोंकी योजना अनेकों दृष्टिसे भारतीय जीवन के बिल्कुल उपयुक्त है, क्योंकि यह मनुष्यके जीवनके किसी पक्षको निरशन से मरने नहीं देता।"[9] हिन्दू ब्रह्मचारी रहकर विविध विद्याओंका अध्ययन करते, गार्हस्थाश्रममें सुखपूर्वक जीवन विताते, और वार्द्धक्यमें मुनिका जीवन यापन करते हुए अन्तमें योग द्वारा अपने शरीरका उत्सर्ग कर देते थे—इस प्रकार उनका ऐहिक जीवन[10] पूर्णताको प्राप्त होता था। जैसा कि कालिदासके ज़ोरदार और बार-बार आनेवाले उल्लेखोंसे विदित होता है उनके कालमें सामाजिक जीवनका अस्तित्व अवश्य था चाहे वह विशृङ्खल ही क्यों न हो।

कवि कई संस्कारोंकी ओर संकेत करता हैं जिनका वर्णन धर्म-अध्याय

---

१ रघु०, ७.७१। २ तरुवल्कवाससां वही, ८.११। ३ निवसन्नावसथे पुराद्बहिः वही, १४। ४ आश्रममन्त्यमाश्रितो वही,। ५ उपात्तविद्यो वही, ५.१ समाप्तविद्येन वही, २० चतस्रःदश वही, २१। ६ गृहीतविद्यो धनुर्वेद विक्रम, पृ० १२८, क्रमाच्चतस्रः..ततार विद्याः का भी रघु०, ३.३०। ७ रघु०, ५.१०। ८ सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते वही। ९ ए० बी० कीथः ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ९८। १० रघु०, १.८।

में किया जायगा। यहाँ उनमेंसे केवल एक—विवाह—पर विचार होगा क्योंकि अधिकांशमें इसका स्वरूप सामाजिक है।

विवाह द्विजके लिए एक आवश्यक संस्कार था। प्रत्येक धार्मिक संस्कार यहाँ तक कि आह्निक अग्निहोत्र भी पत्नीके साथ करणीय था; अतः कालिदास पुरुषके लिए पत्नीकी आवश्यकतापर बल देते हैं, 'सह-धर्म चरणाय,—उसके साथ[1] धार्मिक कर्त्तव्योंका पालन करनेके लिए। आश्रमोंमें गृहस्थाश्रमकी महिमा इसलिए सर्वाधिक[2] थी कि सबकी जीविका इसीपर निर्भर करती थी; इस कारण जब ब्रह्मचारी चतुर्दशी विद्याका[3] अधिकारी हो जाता, तो विवाहकर गृहस्थ बन जाता था। विवाह तय करनेके विषयमें बात करना कुल-पुरोहित या किसी ब्राह्मणका ही काम था, उदाहरण-स्वरूप हम देखते हैं, कि 'कुमारसम्भव' में शिवके साथ पार्वती के वरणके लिए सप्तर्षि[4] (ब्राह्मणोंकी एक मण्डली) पार्वतीके पितासे जो याचना कर रहे हैं उसका विस्तार रूपसे वर्णन किया गया है।

विवाहके प्रकार

कालिदासकी रचनाओंमें चार प्रकारके विवाहोंका उल्लेख हमें पढ़ने को मिलता है। वे हैं:—स्वयंवर[5] या स्वयं पतिका चुनना, प्राजापत्य[6] या पिताका कन्याको अलंकारोंसे विभूषित कर वरको समर्पित करना, गान्धर्व[7] या अपने पिता-माता या गुरुओंके अनजाने या बीचमें पड़े बिना वर-वधूका वैवाहिक सम्बन्ध निश्चित करना जिसमें विवाहका

---

१ शाकु०, पृ० १६५ सहधर्मचारिणी वही, पृ० २६०; कुमा० ८.२९; सहधर्मचारिणं वही, ५३; क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणं वही, ५.१०। २ सर्वोपकारक्षमं रघु०, ५.१०। ३ वही, ३.३०, वही, ५.२०; वही, २१। ४ कुमा०, ६.३१, ६५, ७८, ७९। ५ रघु०, ५.३९, ६४,७६, ७.१३। ६ वही, ७.१३, १५.२८; कुमा०, ७.७३,८९। ७ शाकु०, ३.२०, वही, पृ० २५९।

संस्कार नहीं किया गया हो और आसुर[1]—वह विवाह जिसमें पिता वरसे धन लेकर कन्या देता है।

रघुवंशके षष्ठ सर्गमें स्वयंवरका एक विशद वर्णन दिया गया है उसको स्वेच्छासे वरके चुनावके एक उदाहरणके रूपमें यहाँ लेखबद्ध करना असंगत नहीं होगा।

स्वयंवर

कन्याके अभिभावकने राजाओंको स्वयंवरमें[2] स्वयं पधारने या अपने युवराजको भेजनेके लिए आमंत्रण भेजे। राजे अपनी-अपनी सेनाओंके[3] साथ कन्याके नगरमें पहुँचें। नगरके सिंह-द्वारपर[4] आतिथेयने उनका स्वागत किया और वहाँसे वे राजप्रासादमें ले जाये गये जिसका द्वार जलसे पूर्ण घड़ों[5] (पूर्णकुम्भ) जैसी मांगलिक वस्तुओंसे सजाया गया था। उस समारोहमें भाग लेनेके लिए ईर्ष्याके भावोंसे भरे महान् व्यक्तियोंका एक समूह उपस्थित था और सभी कन्याके[6] पाणि-ग्रहणके लिए लालायित थे। परन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि स्वयंवरमें आनेवाले राजाओंकी ओरसे यह जाननेपर पर्याप्त ध्यान दिया जाता था कि आमंत्रण भेजनेवाले राजाके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध योग्य[7] है या नहीं। सोते हुए राज-अतिथियोंको प्रभातकी सूचना आतिथेयके चारण प्रभाती-पाठसे[8] देते थे। पश्चात् राजे सुन्दर तथा आकर्षक वेष-विन्याससे अपने को सुशोभित कर स्वयंवर-भूमिके शोभा-सम्पन्न उन मंचपर स्थित बहु-मूल्य सिंहासनोंपर जा बैठे जो इस शुभ अवसरके लिए बनाये गये थे और जिनके ऊपर जानेके लिए सोपान[9] बने थे। नागरिकोंका एक विराट् जन-समुदाय स्वयंवर देखनेके लिए आ उपस्थित हुआ और कन्यार्थियोंकी

---

१ दुहितृशुल्कसंस्थया रघु०, ११.४०। २ वही, ५.३९। ३ प्रस्थापयामास ससैन्यं वही, ५.४०। ४ नगरोपकण्ठे वही, ६१, द्वार ६३। ५ द्वारविनिवेशितपूर्णकुम्भाम् वही, ६३। ६ वही, ६४। ७ श्लाघ्यसंबन्धमसौ विचिन्त्य वही, ४०। ८ वही, ६५। ९ मञ्च वही, ६.१।

ओर देखने[1] लगा। स्वयंवरकी अधिष्ठात्री शची[2] मानी जाती थी। अब वहाँ आये चारण, जो सूर्य तथा चन्द्र वंशीय[3] राजाओंके उस समुदाय की महिमाका बखान करने लगे। पश्चात् जब जलते हुए उत्कृष्ट चन्दन-काष्ठकी मीठी सुगन्ध वायुमें तैरती हुई चतुर्दिक् प्रसारित हो ध्वजाओंके ऊपर उठने लगी[4] और मांगलिक तूर्यध्वनि उच्चतम स्वरमें प्रवाहित हो शंख-निनादके स्पर्शसे गंभीर एवं मन्द्र होने लगी',[5] पतिका वरण करने-वाली (पतिंवरा) राजकुमारीने वैवाहिक वस्त्राभरणोंसे सज्जित हो एक अलंकृत शिबिकामें आरोहण किया। शिबिका-वाहक मंचोंके मध्य[6] बने राजपथपर चल पड़े और राजकुमारी अपनी परिचारिकाओंकी मंडली में सौंदर्यकी रानी-सी लगती थी। सहज ही सबकी आँखें उसपर जा लगीं, और राजे, जिन्होंने उसके पानेकी कामना प्रकट की थी, विविध संकेतों तथा अर्थपूर्ण अभिव्यंजनाओंसे[7] उसका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने लगे। उदाहरणार्थ, एक राजा क्रीड़ा-कमलको घुमाने[8] लगा, दूसरा अपने स्थानसे विस्थित मालाको[9] यथास्थान स्थापित करने लगा, तीसरेने सुनहले पावदानको अपने पैरसे रगड़ना आरम्भ किया, चौथा नखोंसे[10] कैतक पुष्पको विदलित करने लगा, एक दूसरा कुछ झुककर[11] अपने पास बैठनेवालेके साथ वार्तालापमें लीन हो गया और एक और अपना मुकुट[12] सँभालनेमें व्यस्त हुआ मानो उसका मुकुट अपने स्थानसे[13] फिसला पड़ता हो। अन्तमें, राजकुमारीकी मुख्य सखी और अन्तःपुरके द्वारकी रक्षा करनेवाली (प्रतिहाररक्षी) पुरुषके समान साहसवाली तथा उपस्थित राजाओंकी वंशमर्यादा एवं शक्ति-सामर्थ्यसे पूर्ण-परिचिता प्रधान परि-चारिका राजकुमारीको एकके बाद दूसरे राजाके सामने[14] ले गई। रात्रि

---

१ वही, ७। २ वही, ७.३। ३ वही ६.८। ४ वही। ५ वही, ९। ६ वही, १०। ७ वही, १२। ८ वही, १३। ९ वही, १४। १० वही, १५। ११ वही, १७। १२ वही, १६। १३ वही, १९। १४ वही, २०।

के अन्धकारमें चलनेवाली अग्निशिखाके समान पतिवरा आगे बढ़ती जाती थी और ज्यों-ज्यों वह राजाओंको अस्वीकृत और पीछे छोड़ चलती[1] वे पीले तथा नैराश्य-पूर्ण हो जाते और मशालका आलोक चले जाने पर राजपथपर खड़े महलके गुम्बदके समान उनके मुखमण्डल धुंधले पड़ जाते। इस प्रकार चलती हुई राजकुमारी एकके सामने खड़ी हो गई जिसकी वह आराधना करती थी और जिसको वंश, सुन्दरता और अवस्था (**कुलेन कान्त्या वयसा नवेन**) के अनुसार अपने योग्य समझा था और जो श्लाघ्य गुणोंसे संयुक्त था विशेषकर उसके वरणीय होनेके लिए प्रशस्य नम्रताके साथ, क्योंकि यथार्थमें सुवर्णको[2] एक हीरककी अवश्य अपेक्षा होती है। स्त्रियोचित नम्रताके साथ उसने अपनी सहचरीके हाथों-द्वारा (**धात्री-कराभ्याम्**) अपने वरण किये पतिके[3] गलेमें लम्बी वर-माला पहिना दी और इस प्रकार नागरिकोंके जय-घोषके मध्य स्वयंवरकी क्रिया समाप्त हुई, जो घोष निराश राज-मण्डली[4]को जलेपर नमक छिड़कनेके सदृश लगता था।

इस प्रसंगमें यह स्मरण रखा जा सकता है कि एतादृश स्वयंवरमें अधिक स्वाभाविकतया कन्या अपने हृदयमें वरण कर चुकी होती होगी जिसको राजाओंकी मण्डली तथा दर्शकोंकी उपस्थितिमें वैधानिक रूपसे स्वीकृति दी जाती होगी, क्योंकि यह नितान्त समझके बाहर है कि राजकुमारीके साथ चलनेवाली प्रधान परिचारिका, जो अवश्य ही बहुत चतुर होती थी क्यों नहीं सरलतासे राजकुमारीके पतिवरणको प्रभावित कर सकती थी। ऐसा प्रतीत होता है, सामान्य व्यवहारमें स्वयंवरके आयोजनका अर्थ था सामाजिक अधिकारियोंकी स्वीकृति प्राप्त करना। जब तक उसके साथ शूर-वीरताके किसी कामको करनेकी शर्त नहीं लगी होती जिसको पूरा करनेवाला ही वर-माना जा सकता था।

---

१ वही, ६७। २ वही, ७९। ३ **प्रत्यग्रहीत्संवरणस्रजेव वही, ६-८०** **मिलाकर भी वही, ८१, ८३। ४ वही, ८३।**

इस प्रकार स्वयंवर समाप्त हो जानेपर तोरण, ध्वजाओं तथा अन्य सौंदर्य-वर्द्धक-वस्तुओं[1] जैसे मंगलपूर्ण साजसे सुसज्जित राजपथसे वर-वधू राज-प्रासादकी ओर अग्रसर होने। नागरिकोंके गृहोंकी नगर-पथकी ओर खुलनेवाली खिड़कियोंमें मुख ही मुख दीख पड़ते थे। जुलूस[2] को देखनेके लिए स्त्रियाँ शीघ्रतासे वातायनोंसे जा लगतीं। तब वर माङ्गल्य-सूचक द्रव्यों तथा चित्रोंसे अलंकृत राजप्रासादमें पहुँचकर हाथीसे उतरा।[3] अब असली विवाहके विविध संस्कारोंके समारम्भोंका श्रीगणेश हुआ जो प्राजापत्य पद्धतिसे सम्पन्न हुआ। विवाहके प्राजापत्य भेदके वर्णनमें इसका उल्लेख होना चाहिए था, किन्तु प्रसंगको अधिक स्पष्टता देनेके लिए यहाँ इसका जिक्र असंगत नहीं होगा।

वर एक बहुमूल्य सिंहासनपर आसीन किया गया। पूजाकी अन्य सामग्रियोंके साथ उसने मधुपर्क ग्रहण किया। बहुमूल्य रत्न तथा रेशमी[4] परिधानोंका एक जोड़ा उसे अर्पित हुए। यह आधुनिक द्वार-पूजाका एक सादृश्य था। हर्म्यकी[5] व्यवहार-प्रवीणा अंगरक्षिकाओंने वधूके पास जानेका मार्ग दिखाया। वहाँ पूजा स्वीकार करने तथा पुरोहितके अग्नि में आहुति देनेके बाद वर वधूके साथ वैवाहिक[6] बन्धनमें बँध गया। उसने वधूका पाणि-ग्रहण[7] किया और दोनोंने अग्नि-देवके[8] फेरे लगाये। पुरोहितके[9] कहनेके अनुसार वधूने लाजा-विसर्जन संस्कार किया। शमी वृक्ष की कोमल पत्तियों और लाजा (धानका लावा)[10] की आहुतिसे एक रुचिकर सुगन्ध निकल पड़ी। स्नातकों, राजपरिवारके सम्बन्धियों यानी पिता या अभिभावकों और जीवित सन्तानवाली सधवा माताओंने मर्यादा-क्रमसे सुवर्णमय[11] सिंहासनासीन वर-वधूपर अक्षत फेंके।

इसके पश्चात् बचे हुए आमंत्रित राजाओंकी पूजा की गई और फिर वे अपने-अपने राज्योंको चले गये। वैवाहिक संस्कारकी समाप्तिपर

---

१ वही, ७.४। २ वही, ५-१२। ३ वही १७। ४ वही, १८। ५ वही, १९। ६ वही, २०। ७ वही, २१। ८ वही, २४। ९ वही, २५। १० वही, २६। ११ वही, २८।

नव-विवाहित पतिने भी वैवाहिक उपहार ले अपनी पत्नीके साथ प्रस्थान किया।[1] यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी, यदि निराश राजाओंने अपने शत्रुसे बदला चुकानेके लिए एक संगठन बनाया और उसपर आक्रमण किया।[2] स्पष्ट है, कि स्वयंवरकी प्रथा प्राचीनकालके क्षत्रियों, विशेष कर राजे-महाराजोंमें प्रचलित थी।

कालिदास प्राजापत्यको सर्वोत्तम विवाह मानते हैं और कुमार-सम्भव के सातवें सर्गमें अपने प्रधान देव शिवका विवाह इसी विवाह-पद्धतिके अनुसार पार्वतीके साथ कराते हैं। इस

प्राजापत्य

प्रकारके विवाहमें कन्याका पिता मनुस्मृतिमें कथित विवाह-पद्धतिके अनुसार आवश्यक संस्कारोंके किये जानेपर अपनी कन्याको वस्त्राभूषणसे अलंकृत कर वरको अर्पित करता था। कभी-कभी कन्यार्थी घटकोंके द्वारा कन्याके पिताके पास अपना निवेदन पहुँचवाता था। ऐसा प्रायः कन्याकी उपस्थितिमें भी किया जाता जैसा पार्वतीके विवाहके लिए किया गया जो लज्जासे रक्ताभ हो गई और जिसने स्वाभाविकतया अपने हाथके कमलके दलोंको गिननेमें अपना ध्यान लगाया।[3]

कुमारसम्भवके सातवें सर्गमें आये निम्नलिखित वर्णनसे प्राजापत्य विवाह तथा उसके संस्कारोंका पूर्ण परिचय मिलता है। इस सर्गमे शिव और पार्वतीके विवाहकी कथा है। यह इस प्रकार है:—

साधारणतः शुक्लपक्षमें पड़नेवाली किसी शुभ तिथिमें कन्याका पिता अपने सगे-सम्बन्धियोंके साथ अपनी कन्याके

आरम्भिक संस्कार और वधू-अलंकरण

विवाहकी तय्यारियाँ करता।[4] कन्या-गृह तक जाते हुए रास्तेके दोनों किनारे चीनी रेशमके बने झंडोंसे सजाये और प्रकाशमान सुनहले तोरणोंसे[5] दर्शनीय किये जाते थे। कन्याकी

---

१ वही, २९, ३०। २ वही, ३१। ३ कुमा०, ६. ८४।
४ ऋद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम् वही, ७.१। ५ वही, ७.१।

सखी-सगिनियाँ तथा संबंधी उसका आलिंगन करते और उसको आभूषण आदि भेंट[1] करते थे। उसका शृङ्गार करनेवाली सैरंध्रियोंको सधवा एवं पुत्रवती होना आवश्यक था।[2] दूर्वा-दलोंसे कन्या सजायी जाती जो बहुत मंगल-सूचक माने जाते थे और उसके कटिके अधोभागमें धारण करनेके लिए एक रेशमी वस्त्र दिया जाता और उसके हाथमें एक बाण[3] होता, ऐसा केवल उस समय जब वह एक क्षत्रिय होती। उसके शरीरमें चन्दन-स्नेह तथा कालेयक लगाये जाते और उसके अंग लोध्र-रजसे विभूषित होते। इसके बाद वह दूसरा बहुमूल्य वस्त्र धारण करती और महिलाएँ उसे चार स्तम्भों[4] वाले चन्दोवाके सामनेवाले स्नानागारमें ले जातीं। चन्दोवा क्या था एक कमरा ही था जो मोतियोंसे विभूषित और माणिक्य-जटित था और वहाँका वातावरण संगीतकी मधुर ध्वनिसे मुखरित हो जाता। स्नान-गृहमें स्त्रियाँ स्वर्ण-घटोंसे[5] उसपर पानीकी धारें उड़ेलती थीं और फिर उसके सुन्दरतम श्वेत[6] वस्त्र धारण कर लेनेके बाद वह सती-साध्वी तथा सधवा वर-नारियों-द्वारा एक मण्डपमें ले जायी जाती। वहाँ वे उसे एक वेदीपर[7] पूर्वाभिमुख[8] आसीन करातीं। वे उसके शरीर को चन्दन-चूर्णसे शुष्क करतीं और बालोंमें पुष्प गूँथती थीं। वे उसके चिबुकपर अरगजा-लेप[9] लगातीं। उसके मुखको फिर श्वेत अगुरुको पीत गोरोचनके[10] साथ मिश्रितकर पत्तियोंकी मनोहारिणी चित्रावलियों से चित्रित किया जाता। चमकीले केशर या गोरोचन और लोध्र-धूलिसे उसके कपोल रंजित होते, उसके कानोंपर[11] यव लटकाये जाते और उसके अधरोष्ठ रंग[12] दिये जाते। उसके तलवे रंगे[13] जाते और आँखोंमें अंजन[14] दिया जाता। उसकी ग्रीवा और भुजाओंपर हीरे और अमूल्य रत्नोंका

---

१ वही, ५। २ वही, ६। ३ वही, ७। ४ वही, ९। ५ वही, १०। ६ वही, ११। ७ वही, १२। ८ प्राङमुखी वही, १३। ९ वही, १४। १० वही, १५। ११ वही, १७। १२ किंचिन्मधूच्छिष्टविमृष्टरागा वही, १८। १३ वही, १९। १४ कालाञ्जनं वही, २०।

शृङ्गार किया जाता। एक मंगल-दर्पणके[1] सामने खड़े होकर वह सुवर्ण[2]-आभूषणोंको पहनती। तदुपरान्त उसकी माँ उद्वहन-सूत्रके सुनहले रंगसे उसको सुशोभित करती और उसकी कलाईपर ऊनी कंगन[3] बाँधती। पीत-रंगमें रँगा मंगल-सूत्र, कौतुक सूत्र, जिसको वधू अपनी कलाईपर पहनती थी, साधारणतया विवाह-संस्कारकी समाप्तिके तीसरे दिन खोल दिया जाता था। इस प्रकार कौतुक-सूत्र बाँधनेके बाद वधू कुल-देवताका पूजन करती और पश्चात् वयस-क्रमसे[4] वयस्का महिलाओंके पास उनके आशीर्वाद लेने जाती जैसा इन शब्दोंसे प्रकट होता है : **'अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः'**—अपने पतिके अखण्ड प्रेमका भागी बनो।"[5]

कन्या-गृहसे वरके घर कम चहल-पहल नहीं होती। वर भी अपने घरकी स्त्रियोंके द्वारा यथोचित आवश्यक द्रव्योंसे[6] सजाया जाता। उसके अंग अंगराग-चर्चित होते और उसके सिर, कलाई, भुजाओं और कर्णोंमें रत्न पहनाये जाते। वह राजहंसोंकी आकृतियोंवाला शाल धारण करता[7], हरिताल तथा मन-शिलाका[8] तिलक करता और फिर दर्पणके[9] सामने खड़ा होता। इसके पश्चात् मांगलिक वाद्योंके[10] साथ बारात कन्याके पिताके घरके लिए प्रस्थान करती। वरको राजाकी प्रतिष्ठा दी जाती क्योंकि उसके साथ आतपत्र तथा चामर[11]धारी परिचारक भी होते।

विवाह में मांगलिक सज्जा

विवाहके अवसरपर जिन गृहों तथा पथोंसे होकर बारात जाती थी मांगलिक सामग्रियोंसे (**मङ्गलसंविधाभिः**)[12] सजाये जाते थे। गृह-द्वार जलसे भरे घड़ों (पूर्णकुम्भ[13]) से सुशोभित होते। दूसरी वस्तुएँ जो शुभसूचक समझी जाती थीं वे थीं कस्तूरी (मृगरोचन) तीर्थोंसे

---

१ वही, २१। २ आदर्शबिम्बे वही, २२। ३ वही, २३, २४, २५। ४ वही, २७। ५ वही, २८। ६ प्रसाधने वही, ३०। ७ वही, ३२। ८ वही, ७.३३। ९ वही, ३६। १० वही, ४०। ११ वही, ४१, ४२। १२ रघु, ७.१६, १०.७७; शाकु०, पृ० १२९। १३ रघु०, ५.६३।

लाया गया पंक और दूर्वा-दल इत्यादि।[1] राज-पथ तोरणों, जिनपर इन्द्रधनुषकी[2] आकृतियाँ बनी होतीं और ध्वजाओं[3] से सजाया जाता।

कन्याके सम्बन्धीगण सज-धजकर हाथियोंपर चढ़ वर-पक्षके[4] लोगों का स्वागत करनेके लिए आगे बढ़ते। नगरके द्वार खोल दिये जाते और जुलूस[5] पर पुष्प-वृष्टि की जाती। स्त्रियाँ बारात देखनेके लिए झरोखोंपर जा पहुँचतीं।[6] पथ ध्वजाओंसे सजाया जाता और उसपर आकर्षक महराब बनाये जाते जिनके नीचेसे होकर जुलूस चलता और मंगलके अक्षत उसपर छींटे जाते।[7] वरका स्वागत होता और उसको आवश्यक संस्कार-विधिसे बिठाया जाता। पुरोहित स्तोत्रोंका[8] पाठ करते और मधुपर्क तथा रत्नोंके साथ रेशमी परिधानका एक जोड़ा उसे दिया जाता। अन्तमें, शिष्टाचारप्रवीणा[9] परिचारिकाएँ उसे वधूके पास ले जातीं। पुरोहित वधूका हाथ वरके[10] हाथमें देकर पाणिग्रहण कराता। अब विवाहके देव-देवी शिव तथा पार्वतीके लिंगोंकी स्थापना होती और उनकी पूजा की जाती।[11] फिर वर-वधू सौम्य भावसे[12] अग्निदेवकी परिक्रमा कर तीन बार फेरे डालते और पुरोहितके आदेशानुसार वधू यथा-विधि अग्निमें लाजाका विसर्जन करती।[13] पश्चात् विवाह करानेवाला पुरोहित वधू तथा उसके पतिको इस प्रकार आशीर्वाद देता : "अग्नि देव तुम्हारे विवाहके साक्षी हैं। सच्चे पति तथा साध्वी पत्नी बनो।"[14] वर वधूसे कहता, "भद्रे, ऊपरकी ओर देखो, ध्रुवताराका प्रकाश देखती हो? उस एकरूप चमकनेवाली ज्योतिके समान तुम्हारा विश्वास ज्योतिष्मान् रहे।"[15] इसका वधू उत्तर देती, "हाँ, मैं देखती हूँ (द्रष्टा)[16]।" यहीं

विवाह-संस्कार

---

१ शाकु०, पृ० १२७। २ रघु०, ७.४। ३ वही। ४ कुमा०, ७.५२। ५ वही, ५५। ६ वही, ५६। ७ वही, ६३, ६९। ८ वही, ७२। ९ वही, ७३। १० वही, ७६। ११ वही, ७८। १२ वही, ७९, ८०। १३ वही, ८१। १४ वही, ८३। १५ वही, ८५। १६ वही।

वैदिक संस्कार समाप्त हो जाता और लौकिक[1] विधि-विधान आरम्भ होता। एक चतुष्कोण वेदीपर रखे एक सुवर्ण-आसनपर वर-वधू बैठाये जाते और उनपर अक्षत डाले जाते।[2] इस क्रमसे प्राजापत्य विवाहका कर्मकाण्ड समाप्त होता।

सोहाग रात

विवाह संस्कारके समाप्त होनेपर आह्लाद और आनन्दका आरम्भ होता था। महिलाएँ किसी नाट्याभिनयका आयोजन करतीं जो 'भाव पूर्ण नाट्य-कलाके साथ अभिव्यंजक नृत्यका सम्मिश्रण' प्रस्तुत करतीं और नाटकीय कलापूर्ण जिनके भाव-प्रदर्शन हृदयकी कामनाओंको जीवन के सामने उड़ेल देते। ये महिलाएँ कौशिकी[3] वृत्ति-जैसी नाटकीय वृत्तियोंमें दक्ष थीं। तब वर-वधू वधू-कुंजमें जानेके लिए एकान्त छोड़ दिये जाते जहाँ एक सुकोमल पुष्प-शय्या पूर्व ही बना दी जाती थी और जहाँ मांगलिक सुवर्ण-घट रखे होते थे।[4] यह अन्तिम घटना कदाचित् वैवाहिक पूर्णताकी ओर संकेत करती है। यह प्रथा आज भी बंगालमें प्रच-लित है। उत्तर-प्रदेशमें वैवाहिक सम्बन्धकी चरमसीमाकी रात सुहागरात कहलाती है। कालिदास-द्वारा दिये गये विवाहके वर्णनमें वर-वधूने आनन्द-विहारके[5] लिए प्रस्थान किया।

गान्धर्व

गान्धर्व विवाह एक मात्र प्रणय-व्यवसाय था जिसमें विवाहका प्रस्ताव किये बिना ही दाम्पत्य बन्धनकी परिणति हो जाती थी। यह एकदम स्वतंत्र प्रणय और एक युवक तथा एक युवती के पारस्परिक रागसे आरम्भ होता और उनके सम्बन्धियोंकी स्वीकृतिके बिना ही उनकी आपसकी सहमतिसे ही सम्पन्न हो जाता। पीछेसे हिन्दू धर्मशास्त्रके अनुसार वैवाहित युवक-युवतीके माता-पिता अपनी स्वीकृति प्रदान कर देते थे।

---

१ वही, ८८। २ वही। ३ वही, ९१। ४ वही, ९४। ५ पाणि-पीडनविधेरनन्तरं...कामदोहद वही, ८.१।

यह इस पद्यमें स्पष्ट होता है : "यहाँ उसने अपने गुरुजनोंका विचार न किया और न तुमने ही अपने सम्बन्धियोंकी सम्मति ली। तुममेंसे प्रत्येक ने अपनी मनमानी की। अब इस मामलेमें दूसरा कोई तुम दोनोंमेंसे किसीको क्या कह सकता है।"[१] गान्धर्व विवाह करनेकी भूलको अनुभव करनेवालेकी यह नैराश्यपूर्ण उक्ति है। विवाहके हिन्दू-नियम, यथार्थमें, विवाहके पूर्व युवक-युवतियोंके मिलने-जुलनेकी स्वीकृति नहीं देते। विवाह की समस्या अत्यन्त आवश्यक समझी जाती थी और इसका गंभीर दायित्व नववयस्कोंकी इच्छापर नहीं छोड़ दिया जाता। यही कारण है कि अपने स्वतंत्र[२] विचारसे वैवाहिक शर्तनामाको स्वीकार करनेको नहीं दौड़ पड़नेवाली कन्याके विवाहके अवसरपर कालिदास उसे 'अपने पिताकी स्वीकृतिकी प्रतीक्षा करनेवाली विचारशीला' कहकर प्रशंसा करते हैं। गुरुजनोंको अपने महान् सांसारिक अनुभवके साथ कुमार या कुमारियोंके अपने जीवन-संगीके चुनावमें अवश्य सहायता करनी चाहिए क्योंकि व्यक्तिगत अनुभवके लिए मार्ग निविड़ अन्धकारमय है। इसी कारण गौतमीके उपर्युक्त कथनमें एक अप्रकट भर्त्सना कालिदास-द्वारा गर्भित है—'**एक्कक्कमें स्व चरिय भणामि किं एक्कमेक्कस्स**'। नवयुवकोंकी ग़लतियाँ यथार्थमें असंख्य हो सकती हैं और हिन्दुओंके विवाह-सम्बन्धी ग़लतियोंका सुधार नहीं हो सकता क्योंकि उनके कारण उसके सामाजिक जीवनका अन्त हो जाता था। कालिदास कहते हैं, अतः वैवाहिक सम्बन्ध विशेषकर यदि वह गान्धर्व हो, सतर्क परीक्षणके पश्चात् किया जाना चाहिए। जिनके हृद्गत भाव अज्ञात हैं उनके प्रति मित्र-भाव शत्रुतामें परिणत हो जाते हैं।"[३] दूसरे पक्षके सावधानीसे परीक्षणके पश्चात् ही वैवाहिक सम्बन्ध होना चाहिए। विशेषतया जब इस प्रकारका बन्धन गुप्त रूपसे स्वीकार किया जाता हो तो यह परीक्षा अनिवार्य हो जाती है। अन्यथा

---

१ शाकु० ५.१६। २ श्रीः साभिलाषापि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष। रघु०, ५.३८। ३ शाकु०, ५.२४।

ऐसे व्यक्तियोंका वैवाहिक बन्धन जिन्होंने एक दूसरेके हृदयको नहीं जाना है मित्र-भाव उत्पन्न करनेके स्थानमें वैर-कारक हो जाता है।

यह निश्चयात्मक शब्दोंमें नहीं कहा जा सकता कि कालिदासके समयमें गान्धर्व विवाहको औचित्य प्राप्त था या नहीं। यह प्रथा बहुत पूर्व ही अव्यवहार्य हो चुकी थी। कविके उपरिलिखित आदेशोंसे ही यह स्पष्ट है कि कमसे कम यह कविके कालमें प्रचलित नहीं थी केवल कुछ आचार-शिथिल अवस्थामें यह दीख पड़ती है जिसकी निंदा कवि करता है। अभिज्ञान शाकुन्तलमें वर्णित दुष्यन्त और शकुन्तलाके विवाहके रूपमें गान्धर्व-पद्धतिका सर्वापेक्षा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह प्रत्यक्ष ही एक पौराणिक घटनाका पारम्परिक संदर्भ है जिसका अनुमोदन कविने उससे भी पूर्वके कालोंका प्रमाण देकर इस प्रकार किया है—"राजाओं तथा मुनियोंकी बहुतसी कन्याओंका गान्धर्व रीतिसे विवाह करना कहा जाता है। उनके पिताओंने इसके लिए उन्हें बधाइयाँ दी थीं।"[1] तथापि यह पद्य महाकाव्यके उन पुरातन दिनोंमें भी जिनकी ओर इसका संकेत है समाजमें विवाहकी प्रथाके रूपमें इसका वास्तविक प्रचलन होनेके स्थानमें विवशताकी अवस्थामें ऐसा आदेश करनेका भाव प्रकट करता है। कालिदास के लिए यह कोई प्रिय घटना नहीं है किन्तु उनके लिए यह एक ऐसी बात है जिसकी सार्थकताके लिए उन्हें विवशताके साथ उदाहरण उपस्थित करने पड़ते हैं सम-सामयिक नहीं, किन्तु दुष्यन्तके कालमें भी प्राचीन और पौराणिक कहे गये (श्रूयन्ते)।

'*दुहितृशुल्कसंस्थया*'[2] (उसकी कन्याके कन्या-शुल्कके कारण) वाक्यांशके द्वारा आसुर विवाहोंका एक अप्रत्यक्ष उल्लेख होता है। आसुर विवाहमें कन्याके सम्बन्धियों तथा पिताको कन्याके साथ विवाह करनेके लिए किसी प्रकार के शुल्कका दिया जाना अनिवार्य है। आसुर और ब्राह्म विवाहोंमें यही अन्तर है कि आसुरके लिए शुल्क अनिवार्य है

आसुर

---

१ शाकु०, ३.२७। २ रघु०, ६.३८।

किन्तु ब्राह्मके लिए नहीं। कालिदासके समयमें आसुर विवाहसे लोग अपरिचित नहीं रहे होंगे क्योंकि यही उन लोगोंका अन्तिम साधन है जिनके पास रुपये तो हैं किन्तु सामाजिक मूल्य कुछ भी नहीं और ऐसे व्यक्तियोंसे कोई भी समाज अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सका है।

अभिज्ञानशाकुन्तलमें एक पद्य आया है जो बतलाता है कि एक हिन्दू के हृदयमें अपनी कन्याके लिए कितना राग होता है। उसको दूसरेकी सम्पत्ति कहा गया है और पिता उसको थाती (न्यासः)[1] समझकर उसकी रक्षा करता है। इस पद्यमें सम-सामयिक समाजके सामान्य

वधूका प्रस्थान

मस्तिष्कका परिचय प्राप्त होता है : "लोग एक विवाहिता स्त्रीको, जिसका एकमात्र निवास उसके सम्बन्धियोंका घर है, असती होनेके सन्देह की दृष्टिसे देखते हैं यद्यपि वह सती है। अतः स्त्रीके सम्बन्धी चाहते हैं कि वह अपने पतिके पास रहे यद्यपि वह उसे नहीं चाहता।"[2] विवाहिता स्त्रीके लिए स्वच्छन्दचारिणी होना एक गम्भीर अपराधके समान घृणित[3] समझा जाता था और ऊपरके कथनानुसार अपने सम्बन्धियोंके परिवारमें रहनेवाली सामाजिक नियमका उल्लंघन करनेवाली समझी जाती थी और पत्नी होनेके अधिकारसे वंचित, जबकि, पति-गृहमें दासत्वका जीवन यापन करना भी प्रशंसनीय[4] था। अतः यह स्वाभाविक है कि पिताने पुत्रीको उसके पतिके[5] यहाँ भेजकर एक बड़े भारसे अपनेको मुक्त होनेका अनुभव किया हो। विदा होते समय वधू गोरोचन, तीर्थोंके पंक और दूर्वा-दल[6] आदि मांगलिक द्रव्यों (प्रस्थान-कौतुक[7]) से अलंकृत की जाती थी। वह चन्द्रालोकके समान श्वेत मंगलमय रेशमी वस्त्रोंको[8] धारण करती, लाक्षा-रंगसे पैर रंगती और फिर आभूषण पहनती। उसने

---

१ शाकु०, ४.२१। २ वही, ४.१७। ३ पुरो भागे स्वातन्त्र्य-मवलम्बसे वही, पृ० १७८। ४ पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम् वही, ५.२७। ५ वही, ४.२१। ६ वही, पृ० १२५। ७ शाकु०, पृ० १२७। ८ परिधेहि संपदं क्षोमजु अलं वही, पृ० १३३।

रेशमी परिधानका दूसरा जोड़ा ले लिया जो उसके राजकीय आभरणके ऊपरी तथा निचले भागका काम करते थे। तब उसे नये प्रज्वलित अग्नि[1] की परिक्रमा करनेको कहा जाता था। अपने घरसे विदा होते समय उसे निर्विघ्न, कंटकरहित और मांगल्य-रक्षित (शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः)[2] मार्ग पर चलनेका आशीर्वाद दिया जाता। पश्चात् पिता कहता था—"अपने बड़ोंकी परिचर्या करो, सपत्नियोंके प्रति प्रिया सखी का वर्ताव रखो, यदि पति अनुचित व्यवहार भी करे तो भी कभी क्रोधमें उसके प्रतिकूल आचरण न करो, अपने दास-दासियोंके प्रति अत्यन्त मधुर और शिष्ट व्यवहार वरतो, सम्पत्तिमें फूल न जाओ—इस प्रकार युवतियाँ गृहिणियोंका पद प्राप्त कर लेती हैं, इसके विपरीत आचरण उनके परिवार की अधोगतिके कारण हैं।"[3] पद्यमें गृहिणीपदका उल्लेख ध्यान देने योग्य है क्योंकि एक स्त्रीके लिए गृहिणीका पद बड़ी प्रतिष्ठाका माना जाता था। कण्वका उपदेश इस प्रकार समाप्त होता है: "चार समुद्रोंसे घिरी हुई पृथ्वीका चिरकाल तक सपत्नी रहकर और प्रतिद्वन्दी-रहित वीर दुष्यन्त-द्वारा अपने पुत्रको कार्यमें लगाकर तुम फिर अपने पतिके साथ इस शान्तिमय आश्रममें निवास करोगी जो अपने परिवारका बोझ अपने पुत्रको सौंप आया होगा।"[4] यद्यपि ये आशीर्वचन एक भावी राज्ञीके लिए कहे गये हैं, तथापि इसमें जो भाव गर्भित हैं वे सामान्य हैं।

उपर्युक्त छन्दसे यह भी विदित होता है कि पुत्री जब एक बार पति-गृह चली जाती थी तो कदाचित् फिर कभी अपने पूर्वके घर नहीं लौटती होगी जैसा कि मुनि शकुन्तलाको आदेश करते हैं—'अपना गार्हस्थ जीवन समाप्त करके और वानप्रस्थाश्रममें प्रविष्ट होने पर ही आश्रममें लौट सकती हो।' सम्भव है, ऐसी प्रथा राजाओं तथा बड़े लोगोंमें प्रचलित हो जैसा आजकल कुछ देशी रियासतोंके प्रधानोंके परिवारोंमें दीख पड़ती है।

---

१ वत्स इतः सद्यो हुताग्नीन्प्रदक्षिणीकुरुष्व वही। २ वही ४.१। ३ वही, १७। ४ वही, १९।

रजोदर्शनके उपरान्त विवाहकी अवस्था समझी जाती थी। जो प्रणय वह करने जा रही थी और जिन कर्मकाण्डोंकी वह साक्षी थी सबसे वधू सचेत थी। हमने ऊपर देखा है कि अनेक

वर-वधू की अवस्था

अवसरोंपर विवाह-संस्कारके कुछ विधि-विधानों को[1] स्वीकार करनेकी उसे आवश्यकता हुई थी। सचमुच यह अचिन्त्य है कि किस प्रकार एक कन्या जब तक वह विवाहके मर्मको नहीं जानती और जो दायित्व उसको अपने कंधोंपर शीघ्र ही वहन करना है उसकी गुरुताको नहीं आँक सकती, एक स्वयंवरमें अपने पतिका वरण करने जा सकती है। रजस्वला होनेके बाद विवाहका होना कालिदासके इस कथनसे कि 'वर-वधूके एक-दूसरेके स्पर्शसे स्वेद-संचार हुआ' स्पष्टतया प्रमाणित होता है।[2] गठ-बन्धन-कर्मकाण्ड समाप्त होते ही कवि विवाह-शय्या सज्जाका उल्लेख करता है[3]—इससे भी उस विचारकी पुष्टि होती है। जबतक वर-वधू वयस-प्राप्त न हों यह कैसे सम्भव हो सकता है? इस सम्बन्धमें शकुन्तला की अवस्थाका उदाहरण दिया जा सकता है। परन्तु यदि शायद, कोई विरोध करे कि क्योंकि शकुन्तला एक क्षत्रिय-कन्या थी, अष्टवर्षीय विवाह उसके साथ प्रयोज्य नहीं था, तो अनसूया तथा प्रियंवदाके उदाहरण उपयुक्त होंगे। वे ब्राह्मण थीं और यद्यपि वे शकुन्तलाकी समवयस्का थीं, मुनि उनके विवाहके लिए अधिक चिन्तित नहीं थे, किन्तु उन्होंने केवल इतना ही कहा कि वे भी प्रदेय (दूसरेको देने योग्य)[4] हैं।

वयके अनुक्रमसे विवाहकी प्रथा कालिदासके समयमें प्रचलित प्रतीत होती है जिसके अनुसार सबसे बड़ेका विवाह सर्वप्रथम और कनिष्ठका सबके अन्तमें होता था। अनुजका विवाह यदि उसके बड़े भाईसे पहले हो जाता, तो वह उसी प्रकार 'परिवेत्ता' की संज्ञा प्राप्त करता जिस प्रकार

---

१ कुमा०, ७.८५। २ वही, ७७। ३ वही, मिलाकर भी वही, ६५। ४ शाकु०, पृ० १४४।

कोई अपने बड़े भाईसे पूर्व सिंहासन-आरूढ़ हो राजत्वका पद पाकर ।[1] वरतन्तुके शिष्य कौत्सके प्रसंगसे जैसा प्रतिबिम्बित होता है एक ब्राह्मण-पुत्र अपना अध्ययन समाप्त कर विवाह करता था । उसे विवाह करने और घर बसाने (गृहाय[2]) का आदेश दिया जाता था । उसी प्रकार क्षत्रिय-कुमार भी अपनी शिक्षाके अन्तमें[3] विवाह-बन्धन स्वीकार करता था । राजकुमार कमसे कम सोलह वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन करता था, जब वह तूण धारण करने योग्य हो जाता था तब वह गोदान संस्कार करनेके पश्चात् विवाह[4] करता था । यह देखा जाता था कि धर्म-शास्त्रोंके अनुसार (दारक्रियायोग्यदशाम्) क्षत्रियोंके लिए विहित विवाहयोग्य वयसका वह हो गया है ।

हरण : दहेज

दहेजकी प्रथा थी । आज-कलके समान यह विवाहके पूर्व कोई शर्त नहीं थी । विवाह संस्कारकी समाप्तिपर वरको कन्याके अभिभावक अपनी सामर्थ्य और उत्साह (सत्वानुरूप) के अनुसार दहेज[5] (हरण) देते थे । कन्याको आभूषणोंसे अलंकृत कर (मंगलालंकृता[6]) दिया जाता था और ये आभूषण तथा विवाहके[7] अवसरपर बन्धु-बान्धवोंसे मिली भेंटें उसका स्त्री-धन होता था ।

बहु विवाह

यद्यपि प्राजापत्य विवाहका प्रचलन था और सामान्यतः लोग एक विवाह ही करते थे तथापि एकाधिक पत्नियोंके होनेसे लोग अपरिचित नहीं थे । सामन्तों तथा धनपतियोंके बहुधा अनेक पत्नियाँ होती थीं ।[8] कालिदासने अपने नाटकोंमें जिन राजाओंका चित्रण किया है वे सभी निरपवाद रूपसे बहुपत्नीक थे । इस प्रसंगसे स्पष्ट होता है कि किस

१ रघु०, १२.१६, अमरकोष मिलाकर परिवेत्तानुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात् मल्लिनाथ द्वारा उल्लख । २ अनुमतो गृहाय रघु०, ५.१० । ३ वही, ३.३०, ३२ । ४ वही, ५.४० । ५ वही, ७.३२; मिलाकर मल्लिनाथः हरणं कन्यादि देयं धनम् । यौतुकादि तु यद्देयं सुदायो हरणं च तत्' इत्यमरः । ६ कुमा०, ६.८७ । ७ वही, ७.५ । ८ अवरोधे महत्यपि रघु०, १.३२; बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते शाकु०, पृ० १०५, बहुपत्नीकेन वही, ृ० २१९; ज्यष्ठमातरम् विक्र०, पृ० १४० ।

प्रकार सपत्नियाँ शान्तिपूर्वक रहती थीं:—'भली स्त्रियाँ जो अपने पतियों को प्यार करती हैं, सपत्नीके आनेपर भी अपने पतियोंकी प्रतिष्ठा करती हैं; अनेकों सहायक नदियोंकी धाराओंको लेकर बड़ी नदियाँ समुद्रको पहुँचाती हैं।"[१]

सवर्ण विवाह

साधारणतया एक पुरुषसे सजातीय कन्याके साथ विवाह करनेकी आशा की जाती थी। अगली पंक्तियोंसे यह दीख पड़ता है कि आश्रमकी कन्या किसी आश्रमवासीके साथ ही सामान्यतः विवाह कर सकती थीं। विदूषक कहता है, "तब सचमुच महाराज उसका आपत्तिसे शीघ्र उद्धार करें; अन्यथा, कहीं वह इंगुदी-फलके तैल-मर्दनसे चप-चप सिरवाले किसी आश्रमवासीके हाथ न पड़ जाय।"[२] परन्तु फिर भी अन्तर्जातीय विवाहसे लोग अपरिचित नहीं थे और इसका संकेत हमें वाक्यांश वर्णावरः[३] (यानी निम्न जातिमें उत्पन्न) में मिलता है। कथानकमें निम्न वर्णकी विमातासे उत्पन्न वीरसेनका (सेनानायक और महारानी धारिणीका वैमातृक भाई) उल्लेख है।

विवाह सम्बन्धी कुछ विवेचनाएँ

जैसा हम ऊपरकी पंक्तियोंमें देख आये हैं विवाह 'मिलकर सामाजिक तथा धार्मिक कर्त्तव्यके सम्पादन' (**सहधर्मचरणाय**) के उद्देश्यकी पूर्ति के लिए था';[४] पुरोहित इसी वाक्यांशके द्वारा वर-वधूको आदेश करता था और इसीके फलस्वरूप पत्नीको 'धर्मपत्नी'[५] का नाम दिया गया था। जो धार्मिक थे और धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादनमें सतत व्यस्त रहते थे (**क्रियाणां** खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्) उनके धार्मिक कर्मकाण्डोंके लिए

---

१ माल०, २.१४, ५.१९। २ शाकु०, पृ० ७३। ३ माल०, पृ० ९, पूर्व पाठ का उल्लेख। ४ शाकु०, पृ० १६५, २६०, कुमा०, ८.२९, ५१; मिलाकर भी कुमा०, ६.१३। ५ शाकु०, ६.२४।

पत्नी परमावश्यक समझी जाती थी। वैवाहिक बन्धन वास्तविक प्रणयगत स्नेहका[1] परिणाम (भावबन्धन प्रेम) समझा जाता था। वल्लभने भावबन्धन वाक्यांशकी व्याख्या 'चेतोवृत्तिगुम्फनम्' के द्वारा की है जिसका भाव दो हृदयोंकी अनुभूतियोंका नितान्त एकात्म भाव है। जिसको हम प्यार करते हैं उसके प्रति हमारा कृपालु तथा कोमल व्यवहार प्रेम है; भाव मस्तिष्क या अनुभूति है जो उपस्थित उद्धरणमें प्रणयका पर्याय है। अतः विवाह, धर्मके निःसत्त्व दायित्वोंका वहन करता हुआ भी, स्नेह-संयुत था। स्नेह स्वयं दो व्यक्तियोंका अपने आपको बिलकुल मिटा देना था जो अपने अस्तित्वको एकमय कर देना चाहते थे। सलिए वरको 'अर्हत' कहा गया है और वधूको 'सत्क्रिया'[1] की उपाधि दी गई है। यह रत्नको सुवर्णमें[2] जड़ना था। इस जन्म तथा आनेवाले दूसरे जन्मोंके लिए दो हृदयोंका एकमय होना था (**मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम्**)।[4] यह प्रकृति और पुरुषका[5] संयोग था। यथार्थमें कालिदास काल तथा उनके पूर्व और अपर कालोंमें विवाहका महत्त्व कम नहीं किया जा सकता था क्योंकि यही एकमात्र साधन था जिसके द्वारा एक औरस[6] पुत्रकी प्राप्ति हो सकती थी। इस प्रकारके पुत्रका अभाव एक महान् दुःख समझा जाता था।

प्रो० ए० बी० कीथने[7] जैसा संकेत किया है उसका यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। उसका कथन है, "कुमारसम्भवमें वर्णित शिव और पार्वती का विवाह कोई साहसिक कार्य, साधारण खेल था जेयुस और डेनी या अन्य किसीके हलके-फुलके प्रणयकी प्रेम-कहानी नहीं है। उनका विवाह और प्यार मानवके विवाह और प्रणयके आदर्श रूप हैं और दैवी चरित्रोंके द्वारा उन शक्तियोंको स्वीकार करते हैं जिनके हाथों घर बसता और मानव-जाति उन्नति-पथपर अग्रगामिनी होती है।" शिव केवल प्रेमके एक अलौकिक अनुरागके सामने अपनी हार स्वीकार करते हैं जो उमाकी क्षीण और

१ रघु०, ३.२४। २ शाकु०, ५.१५। ३ माल०, ५.१८; रघु०, ६.७९। ४ रघु०, ८.१५। ५ वही, ११.५६। ६ शाकु०, पृ० २४२। ७ ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ८७।

दुर्बल कायामें घोर तप करनेवाले तपस्वीको[1] भी लज्जित करनेवाले तप की असाधारण कठिनाइयों और कठोरताको सहन करनेके लिए पर्याप्त शक्ति भर देता है। शिव जीत लिये जाते है, किन्तु उनपर उमाकी विजय प्राजापत्य विवाहकी निश्चित स्वीकृतिके[2] बिना उनको वैवाहिक बन्धनमें नहीं बाँध सकती। शिवके साथ उमाको व्याहनेके लिए उसके पितासे कहा जाता है, जो इस प्रस्तावकी स्वीकृति ही नहीं देता प्रत्युत अपने भावी पति का प्रेम प्राप्त करनेके लिए किये गये अपनी पुत्रीके तपको भी अपनी सहमति प्रदान करता है जो एक प्रकार प्रणयको मान्यता देना कहा जा सकता है अन्यथा यह सम्बन्ध 'सहधर्म-चरणाय' के लिए न होकर कामेच्छाकी पूर्ति के लिए होता। जहाँ पति-पत्नीके सम्बन्धके पीछे कामेच्छा हो, वहाँ धर्माचरण या सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्योंका पालन परिणाम नहीं हो सकता जैसा कि दुष्यन्त और शकुन्तलाके विवाहके सम्बन्धमें जिनपर धार्मिक घृणाका कठोर दण्ड आ पड़ा। कुमारसम्भव और अभिज्ञानशाकुन्तल प्राजापत्य तथा गान्धर्व विवाहोंके क्रमशः गुण और दोषको प्रकाशित करते हैं। शाकुन्तल गान्धर्व विवाहकी अयोग्यता, रक्षाहीनता और खोखला पनकी ओर संकेत करता है और इस विवाहने पति-पत्नीको परिणामस्वरूप ऐसी विपत्तिमें डाल दिया कि उन्हें वियुक्त होना पड़ा, और बादमें वे तभी-मिल सके जब दुष्यन्त अपनी जलायी वियोगाग्निमें तप चुका और शकुन्तला ने आश्रममें प्रेम करनेके पापको देख लिया और इस प्रकार उस दोषका निवारण हो गया।

पति-पत्नीके सम्बन्धमें कालिदास एक मनोरंजक विचार उद्धृत करते हैं। वे पतिको पत्नीपर पूरा अधिकार देते हैं (**दारेषु प्रभुतासर्वतोमुखी**)

पत्नी

शकुन्तलाको पत्नी रूपमें ग्रहण करना स्वीकार न करने पर शाकुन्तलमें सारद्वत दुष्यन्तको क्रुद्ध होकर फटकारता है: "तब यह तुम्हारी पत्नी है, स्वीकार करो या अस्वीकार। पत्नीपर पतिका सर्वतोमुख अधिकार

१ कुमा०, ६.२६। २ वही, ५.८६, मिलाकर वही, ८।

ता सिद्ध ही है।"[1] यह विचार मनुके विचारके बिलकुल निकट है जब वह कहता है कि भावी पतिको पत्नीके प्रदानका क़ानूनी असर यह होता है कि पतिका पत्नीपर पूर्णतया अधिकार है (**प्रदानं स्वाम्यकारणम्**)[2]।

कालिदासकी रचनाएँ पत्नीको उच्च स्थान प्राप्त होना प्रकट करती है क्योंकि वे पाठकको पुनः-पुनः इस बातसे परिचित कराता है कि धार्मिक संस्कारोंके सम्पादनमें[3] अकेला वैवाहिक प्रेम ही सफल परिणाम देनेके योग्य होता है। शिव जब इस तथ्यका अनुभव कर सती अरुन्धतीकी ओर दृष्टिपात करते है, विवाहके स्वर्गीय आनन्दकी उनकी चाह अपूर्व बढ़ जाती है।[4] कालिदास कहते हैं; "केवल मूर्ख ही पुरुष और स्त्रीका भेद करते हैं; भले लोग दोनोंका एक प्रकार आदर करते हैं।"[5] लिंग-भेदके कारण अरुन्धतीके प्रति शिवका सम्मान रंचमात्र भी कम नहीं होता क्योंकि सज्जनोंके लिए 'पुरुष या स्त्रीका नामकी दृष्टिसे भेद कोई अर्थ नहीं रखता।'[6]

पत्नी अपने पतिके द्वारा प्यार की जाती और उसका स्नेह-भाजन[7] होती थी। पति अपनी पत्नीको बड़े आदर और सम्मानका पात्र समझता था (अर्चिता, 'परम आदरणीया', 'पूजिता')। बिलकुल स्वाभाविकतया ही पावसमें पति-वियुक्ता पत्नी वर्षागमके समय पतिके आनेकी प्रतीक्षामें आँखें बिछायी रहती थीं और इसलिए जब बादल उसके सिरके ऊपर उमड़ने लगते थे वह उनकी ओर वर्णनातीत आनन्दसे देखने लगती थी क्योंकि वे प्रियजनके वातहिर जो थे।[8] मेघोंकी ओर दृष्टि किये उनका अलकावलिको झाड़नेका उल्लेख, पतिव्रता स्त्रियोंके अपने बालोंमें तेल डालने और कंघे करनेसे परहेज रखनेकी प्रथाकी ओर संकेत करता है।[9] पतिकी अनुपस्थितिमें घरपर रहनेवाली यक्षकी सहधर्मिणीकी जीवनचर्या

---

१ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी शाकु०, ५.२६। २ मनुस्मृति, ३ क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् कुमा०, ६.१३। ४ वही। ५ वही, १२। ६ वही। ७ अर्चिता तस्य कौसल्या रघु०, १०.५५। ८ मेघ० पू०, ८। ९ उद्गृहीतालकान्ताः मेघ० पू०, ८; मिलाकर मेघ० उ०, २१।

एक पत्नीके जीवनका प्रतिबिम्ब है। उसको अपने वस्त्रका कुछ भी ध्यान नहीं है और जंघोंपर वीणा रखकर उसके स्वरके साथ अपने स्वामीकी वंश-महिमा गाने बैठ जाती है। अपनी वीणापर अनवरत गिरनेवाले अश्रुबिन्दुओंको वह पोंछती है और नितान्त अभ्यस्त मूर्च्छनाको[1] भी भूल जाती है। वह या तो अपने पतिके लौटनेकी अवधिके शेष दिनोंको सूचित करनेवाले द्वारपर रखे फूलोंको गिन रही है या विभिन्न मांगलिक कृत्योंके करनेमें लगी है। कालिदास कहते हैं कि ये उपर्युक्त साधन ऐसे थे जिनका उपयोग पति-वियुक्ता स्त्रियाँ वियोग-कालका यापन करनेके लिए बहुधा किया करती थीं।[2] प्रोषितभर्तृका अपने पतिके उपस्थित न रहनेपर पलंगपर सोनेका परित्याग कर देती थी और भूमिपर[3] सोती थीं। जैसा ऊपर कहा गया है वह अपने बालोंमें न तेल डालतीं और न कंघा करती थीं। वह न अपने नख काटतीं और न अपनी वेणियोंको फिरसे संयमित करनेके लिए सुलझाती ही।[4] इस प्रकार वह प्रत्येक प्रकारके शृङ्गार और सज्जाका परित्याग कर देती थीं।[5] आँखोंमें अंजन नहीं दिया जाता और मद्यके अभावमें उनके भ्रू आकर्षण-हीन हो जाते।[6] पति अपने प्रत्यागमनपर पत्नीके मुक्त केशोंसे लटें गूहता था।[7] वियोगमें पत्नी अपने पतिका चित्र बनाने, गृह-शुकके[8] साथ क्रीड़ा करने या अपनी करतल-ध्वनियोंपर[9] अपने पालतू मयूरको नचानेमें अपनेको व्यस्त रखती थी।

जब कभी किसी सधवा पत्नीकी मृत्यु होती तो दाह-संस्कारके पूर्व[10] उसका शव अलंकारों और रंगीन पत्रोंसे सजाया जाता। यह ध्यानमें रखा जा सकता है कि आश्वलायनने[11] दाह-संस्कारकी सज्जाका वर्णन किया है।

---

१ मेघ० उ०, २१। २ वही, २४। ३ वही, २५। ४ वही, २६। ५ वही, ३०। ६ वही, ३२। ७ मयोद्ग्रथ्नीयां वही, २९। ८ वही, २२। ९ वही, १६। १० कुमा०, ४.२२; माल०, पृ० ४५। ११ प्रेतं स्नपयित्वा नलदेनानुलिप्य नलदमालां जपामालां वा प्रतिमुच्य मूलतो हृतवाससः पदमात्रमच्छिद्यशेषेण प्रत्यागग्रेण आशिरस्समावि: पादमाच्छादयेयुः परिधानीयं चान्यद्दधुः गृह्यपरिशिष्ट, अध्याय ३, खण्ड १।

व्रत-परायणा पत्नीके शरीरांगका वर्णन इस प्रकार किया गया है : "श्वेत रेशमी वस्त्र धारण किये, मांगल्यके लिए अनिवार्य आभूषण-मात्रसे सज्जित और पवित्र दूर्वा-दलोंसे अपने केशोंको अंकित किये उसकी शरीराकृति मेरे सानुकूल-सी प्रतीत होती है जब कि व्रतके बहाने उसने मानपूर्ण व्यवहारका परित्याग कर दिया है ।"[1] विवाहिता स्त्रियाँ सुहागकी अवस्थामें कुछ ऐसे अलंकार धारण करती थीं जिनको अपने सौभाग्यका मंगल-चिह्न मानकर अतीव दरिद्रा भी अपनेसे पृथक् नहीं कर सकती थी । यह भी दीख पड़ता है कि दूर्वाके सुन्दर दल, जिनको आज भी हिन्दू पवित्र मानते हैं, व्रत पालन करनेवाली स्त्रियोंके द्वारा, उनके केशोंमें गुम्फित किये जाते थे । व्रत-पालनके समयमें या किसी धार्मिक कृत्यमें मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मानवताके आध्यात्मिक शत्रुओंसे मुक्त होना आवश्यक है । इसको जतलानेके लिए 'उज्झितगर्व' वाक्यांशका स्पष्ट प्रयोग होता है ।

पति अपनी पत्नीको 'गृह-कार्यमें मंत्रिणी, एकान्तमें मित्र और ललित कलाओंमें[2] प्रिया शिष्या' समझता था । पतिव्रता पत्नी,[3] जो सजीव देवता अपने पतिदेवकी[4] यथार्थमें पुजारिन होती थी, अपने पतिकी[5] इच्छाओंकी पूर्तिमें अपनी इच्छाओंकी पूर्ति मानती थी ।

पत्नी अपने पतिको आर्यपुत्रके[6] नामसे पुकारती थी जिसका अर्थ है सम्माननीय अर्थात् श्वसुरका (पुत्र) । उसका पतिके प्रति अनुराग विचित्र है । वह उसके अखण्डित प्रेमके[7] लिए लालायित रहती और उसकी सारी शृङ्गार-सज्जा उसके पतिके[8] एक तृप्त कटाक्ष-पातके लिए ही होती ।

---

१ विक्र०, ३.१२ । २ गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ । रघु०, ८.६७ । ३ पतिव्रताः कुमा०, ६.८६ पतिव्रता धर्ममधिकृत्य शाकु० ़० २४० । ४ पतिं पतिदेवताः रघु०, ९-१७, १४-७४ । ५ कुमा०, ६.८६ । ६ माल०, पृ० ४८.५७ । ७ अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः कुमा० ७.२८ । ८ स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेशः वही, २२ ।

कविने 'पतिवर्त्मगा'[१] वाक्यांश-द्वारा जिसका अर्थ है पतिके पीछे-पीछे पत्नीका स्वर्ग[२] जाना सती-प्रथा अर्थात् मृत पतिकी चितापर[३] पत्नीका अपना शरीर भस्म करनेकी ओर संकेत किया है। अपने पतिकी प्रज्वलित चिताकी ज्वाला में कूदनेकी तैय्यारी करती हुई रतिके प्रकरण में इस प्रथाका और भी उदाहरण मिलता है। कवि-द्वारा यह प्रथा प्राकृतिक और सामान्य कही गयी है और निर्जीव तथा निष्प्राण वस्तुओंके[३] साथ भी इसकी संगति लगी है।

विधवाएँ और सती-प्रथा

विधवाओंके[४] अनेक हवालोंसे उनका समाजमें होना सूचित होता है। विवाहके अवसरपर वर-वधू सधवा[५] स्त्रियोंके द्वारा मांगलिक संभारों से सजाये जाते थे जिससे मांगलिक कार्योंमें विधवाओंको अलग रखनेकी प्रथाका होना प्रकट होता है। अभिज्ञानशाकुन्तलमें एक बड़े महाजन धनमित्रकी[६] विधवाओंका उल्लेख है। एक गर्भवती विधवा जीवित रहनेको विवश थी और उसे अपने दिवंगत पतिकी चितासे पृथक् रहनेको बाध्य होना पड़ता था।[७] मालविकाग्निमित्रमें भी एक विधवा आती है जिसका वैधव्य-दुःख फिर ताजा हो उठा था।[८] विधुरको[९] जितने संस्कार करने पड़ते थे उनमेंसे एक था, उसको अपने सामने एक कड़ाही रखना और फिर कहींके लिए प्रस्थान करना।

---

१ वही, ४.३३; मिलाकर मरणव्यवसायबुद्धि वही, ४५; चितां वही ३५, ३६। २ वही २०; त्वामनुयामि वही, २१; मिलाकर भी वही, २२। ३ शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते। प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि॥ वही, ४.३३। ४ नववैधव्यमसह्यवेदनं कुमा०, ४.१; पुनर्नवीकृत्य वैधव्यदुःखया माल०, पृ० ६६। ५ वही, ७.६। ६ बहुधनत्वाद्बहुपत्नीकेन तत्र भवता भवितव्यं शाकु०, पृ० २१६। ७ रघु०, १६.५६। ८ माल०, पृ० ६६, पूर्वका यागोल्लेख। ६ रघु०, १५.६८।

इस बातके होते हुए भी कि कालिदासके समयमें समाज एक स्वतंत्र और मुक्त जीवन व्यतीत करता था निर्भ्रान्त प्रमाणोंकी उपस्थितिमें यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि पर्दाका सर्वथा त्याग कर दिया गया था। हमारे सामने एक दर्जनसे अधिक ऐसे प्रसंग आते हैं जिनका सम्बन्ध सवाध हर्म्योंसे है जो अवरोध,[1] अन्तःपुर[2] और शुद्धान्त[3] आदि विविध नामोंसे प्रसिद्ध थे जिनका शब्दार्थ है हवेली।

कदाचित् यह कहना न्याय-संगत नहीं होगा कि हिन्दू-समाजको पर्दाने सेमिटिक तत्त्वोंके आगमनके साथ ही धर दबाया। कालिदासके ग्रन्थोंसे आये प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि पर्दा प्रथाके रूपमें नहीं था। हिन्दू-हर्म्यके अर्थमें जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है उनसे एकान्त छिपाव का भाव स्पष्ट होता है चाहे वह छिपाव कितनी भी कम मात्रामें क्यों न हो, और इतना ही नहीं, उनसे ईर्ष्याके साथ पातिव्रत-पालनका भी बोध होता है जिसके लिए ही हर्म्यको 'शुद्धान्त' की पवित्र संज्ञा प्राप्त है। फिर भी उनसे स्त्रियोंको बिलकुल बन्द रखनेका अर्थ नहीं निकालना चाहिए। आजकी तरह स्त्रियाँ किसी भी अवस्थामें घरकी चहारदीवारीके भीतर बन्द नहीं थीं। हमें ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनमें स्त्रियोंका जनसाधारण के सामने नदीमें स्नान[4] करनेका वर्णन है। इससे ऐसा माना जा सकता है कि उनके लिए साधारणतः बाहर निकलनेमें कोई असीम बाधा नहीं थी। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि वे समाजमें बे-रोक-टोक और निर्बाध फिरा करती थीं। विनम्रता स्त्रियोंका मुख्य गुण समझी जाती थी और हमें अवगुंठित मुखोंका उल्लेख मिलता है। शकुन्तला अपने पतिके साथ अपने बड़ोंके सामने जानेमें लज्जावती होती है—इसको

पर्दा-प्रथा

१ वही, १.३२, ४.६८, १६.२४, ५८, ७१; शाकु०, ६.१२।
२ रघु०, १६.५६, कुमा०, ७.२, शाकु०, पृ० १०४, माल०, ३.४४।
३ रघु०, ३.१६, ६.४५; शाकु०, १.१५। ४ मेघ० पू० ३३।

अर्थमें पर्दा नहीं समझना चाहिए। यह केवल नम्रताका भाव है जो उसे उसके पतिकी उपस्थितिमें बड़ोंके सामने होनेसे रोकता है[1] और इसलिए उसके लिए अवगुंठनकी आवश्यकता होती है। अपने घरसे बाहर निकलनेपर उसने अपने शरीरको शाल[2] या इसी प्रकारकी दूसरी चादर से ढंक लिया और फिर मुखपर अवगुंठन डाला जैसा इस उद्धरणसे ज्ञात होता है: "अवगुंठन धारण करनेवाली और जिसका सौंदर्य पूर्ण रूपसे प्रकट नहीं होता वह कौन हो सकती है।"[3] वही संकेत मिलता है : "एक क्षणके लिए अपनी लज्जा दूर करो और अपना अवगुंठन हटाओ।"[4]

किसी कामसे बाहर जानेमें स्त्रियोंपर कभी कोई रोक नहीं लगायी जाती थी। वे अपने पड़ोसी या सम्बन्धीके घर होनेवाले विवाह[5]-जैसे संस्कारोंमें ही भाग लेने नहीं जाती थीं वरन् किसी-किसी अवस्था में वे अपने धान और ऊखके खेतोंकी रखवाली करने भी जाती थीं जहाँ वे ऊखके[6] पौधोंकी अल्पकाय छायामें बैठ आनन्दसे मिलकर गाती थीं।

स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ विचार

पुत्रीका लालन-पालन होता और वह स्नेहका पात्र थी। उसका जन्म बुरा नहीं माना जाता था। वह परिवारका जीवन[7] (कुलजीवितम्) होती और धनी परिवारमें पुत्रकी तरह उसका भी धातृकर्म धाइयों द्वारा किया जाता। वह नदीके किनारे बालूकी वेदिकाएँ बनाकर गुड्डोंके[8] साथ (कृत्रिमपुत्रकैः) और गेंदोंसे[9] (कन्दुकैः) खेला करती थीं।

कुमारसम्भवसे हमें ज्ञात होता है कि शिवके विवाहके बाद सरस्वती उनके पास गई और संस्कृत पद्योंमें उसने गान किया। वह शिवसे शुद्ध

---

१ अवगुण्ठनवती शाकु०, ५.१३, वही, पृ० १६८। २ वही, ५.१३। ३ वही। ४ वही, पृ० १६८। ५ बन्धुस्त्रियो रघु०, ७.१६ कुमा०, ७.६। ६ रघु०, ४.२०। ७ कन्येयं कुलजीवितं कुमा०, ६.६३। ८ वही, १.२९। ९ वही और माल०, पृ० ८५।

संस्कृतमें बोली किन्तु उमाको आशीर्वाद देनेमें सरल प्राकृत शैलीका उसने प्रयोग किया।[1] इससे आश्चर्यित होनेकी बात नहीं, और इससे ऐसा नहीं मान लेना चाहिए कि ऐसा उसने इसलिए किया कि स्त्रियाँ संस्कृत नहीं समझ सकती थीं क्योंकि साधारणतया सभी संस्कृत नाटक स्त्री-पात्रों के मुंहसे केवल प्राकृत बोलवाते हैं और कालिदास भी केवल साहित्यिक परम्पराकी संगति बैठानेके लिए ही ऐसा करते हैं। नाटकोंमें रानियाँ भी प्राकृत बोलती हैं,और यह बात बिलकुल कल्पनामें नहीं आती कि वे अपने पतियों,राजमंत्रियों और विदूषकों के द्वारा अहर्निश संस्कृत में सम्बोधित की जाने पर भी क्यों नहीं संस्कृतके भाव धारण कर पाती थीं। इसका भी ध्यान दिलाया जा सकता है कि मालविका-जैसी नारियोंने ललित कलाओंमें उच्च कोटिकी प्रवीणता प्राप्त कर ली थीं। परिव्राजिका ओषधि-विज्ञान तथा ललितकलाओंके समान विषयोंकी ज्ञात्री थी। उसकी प्रवीणताने उसको नाटच-कलाके दो बड़े आचार्योंकी विद्याके सम्बन्धमें निर्णयके योग्य बनाथा।

तथापि स्वभावोक्तिपूर्ण और सद्भावना-रहित स्त्री-सम्बन्धी विचारों की कमी नहीं थी। कुछ लोगोंकी दृष्टिमें नारियाँ जन्मसे ही चतुर होती हैं। हमें दुष्यन्तके शब्दोंमें उन लोगोंके विचार बोलते मिलते हैं जिनकी धारणा थी कि नारियाँ स्वभावसे ही प्रत्युत्पन्नमति होती हैं।[2] उनका स्वभावगत चातुर्य, जिसको प्राप्त करनेके लिए बाह्य शिक्षाकी आवश्यकता नहीं, कोयलके स्वभावमें स्पष्टतया परिलक्षित होता है जिसके बच्चे दूसरे पक्षियोंके द्वारा पाले जाकर उड़नेके योग्य होते ही उनके पास से उड़ निकलते हैं।[3] वे कभी-कभी पुरुषकी काम-वासनाकी तृप्तिके साधन भी समझी जाती थीं।[4]

तो भी यह कोई नहीं भूल सकता कि नारीका मातृ-पद अत्यन्त उच्च

---

१ कुमा०, ७.९० । २ इदं तत्प्रत्युत्पन्नमति स्त्रैणमिति... शाकु०, पृ० १७२ । ३ वही, ५.२२ । ४ रघु०,१४.३५ ।

है। वह सचमुच एक रत्न[1] (स्त्रीरत्न) थी जिसको पाना प्रशंसनीय था क्योंकि यह वही थी जो वंशको चलाने और पूर्वजोंकी आत्माओंकी भूख-प्यासको शान्त करनेके लिए पुत्रको जन्म देती थी। शूर-वीर पुत्रकी[2] माताका पति स्वभावतया धन्यवादका पात्र था। एक पश्चातापशील पति जब कभी किसी ऐसे तपस्वीके पास जाता, जो उसके अपराधको जानता हो, तो वह अपनी पत्नीको आगे[3] कर लेता था जिसे देखकर उसका क्रोध शान्त हो जाता था। यह कहा जा सकता है कि अनेक पुरुषोंके रहते हुए भी कण्वने अपनी अनुपस्थितिमें[4] अपनी अतिथि-सेवाका भार शकुन्तला को दिया था।

पुत्रकी विशेषता पर कालिदासने विस्तारपूर्वक लिखा है। रघुवंशके प्रथम सर्गके सात श्लोकों (६५–७१) में उन्होंने पुत्रहीन मनुष्यके जीवनकी रिक्तताको दिखाया है। वे कहते हैं, पूर्वज एक पुत्रहीन वंशजके दिये अर्घ्य-भाग को आनन्दपूर्वक नहीं स्वीकार करते, इस

पुत्रकी महत्ता

चिन्तामें कि कहीं अगली पीढ़ीमें[5] वह भी न प्राप्त हो और उनके दुःखकी आहोंसे उनके वंशजोंका[6] दिया अर्घ्य-जल गर्म हो जाता था। पुरुष-कुल[7] का अवसान एक महान् दुर्भाग्य है क्योंकि तप तथा दानका पुण्य पर-लोक के सुखके लिए है किन्तु शुद्ध वंशवाली (शुद्ध वंश्या) पत्नीसे उत्पन्न पुत्र यथार्थमें इस लोक और परलोक[8] दोनोंमें सुखकारक है। पुत्रहीनता, जिसके कारण अन्तिम ऋण (ऋणमन्त्यम्) नहीं चुकाया जा सकता, एक असह्य[9] विपत्ति है क्योंकि पुत्र ही एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा

---

१ स्त्रीरत्नलाभः वही, ७.३४। २ माल०, ५.१६। ३ शाकु०, पृ० २५५। ४ दुहितां शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य वही, पृ० २२। ५ रघु०, १.६६; शाकु०, ६.२५। ६ रघु०, १.६७। ७ प्रजालोप-निमीलितः वही, ६८। ८ वही, ६६। ९ असंतानत्वं वर्जयित्वास्य न किमपि विक्र०, पृ० १२१, लोचनीयम् मिलाकर रघु०, १.७१।

अन्तिम ऋण—पुत्रके द्वारा सन्तानोत्पत्तिका कार्य—चुकाया जाता[1] है। पुत्र वंश और अनन्त प्रसिद्धिका कारण है।[2] पुत्रहीन परिवारकी सारी सम्पत्ति अन्तिम पुरुषकी मृत्युपर निर्मूल हो जाती है।[3] यही कारण है कि पुत्रोत्पत्तिपर बड़े धूमधाममें[4] आनन्द मनाया जाता था। पुत्र कुलका बीज,[5] अंकुर[6] और स्तम्भ[7] कहा जाता था। पुत्रके लिए माँके स्तन दुग्धके उद्रेकसे सिक्त हो जाते थे।[8] कपाल तथा चिबुक पर बार-बार आ गिरनेवाले[9] काकपक्षसे सुन्दर शिशुको दौड़ते देखकर आनन्द आना स्वाभाविक था। जब वह शिशु देखनेवालेका अपना हो तो उसे कितनी शान्ति मिलती और यदि दूसरेका हो तो कितना चिन्ताजनक दुःख।[10]

वंशकी शुद्धता सावधानीसे सुरक्षित रखी जाती और बड़े चावसे उसको निरापद रखा जाता। अतः एक शुद्ध वंशसे[11] पत्नी लानेकी खोज होती जैसा कि वाक्यांश 'सन्ततिः शुद्धवंश्याहि' (शुद्ध वंशकी माँसे जन्मा शिशु) से प्रकट होता है। औरस पुत्रका[12] होना आवश्यक था और फिर उससे रूप[13]-गुणमें[14] पिताके सदृश होनेकी आशा की जाती थी।

---

१ ऋण-निर्मोक्षसाधनम् रघु०, १०.२। २ वही, २.६४। ३ शाकु०, पृ० २२१। ४ रघु०, १०.७६। ५ बीज शाकु०, ७.१५। ३ कुलांकुर वही, ७.१९। ४ वंशस्थिते विक्र०, ५.१५। ५ शाकु०, ७.१२। ६ चलकाकपक्षकैः रघु०, ३.२८। ७ विक्र०, ५.९। ८ रघु०, १.६९। ९ औरस इव पुत्रे शाकु०, पृ० २८२। १० सदृशप्रजम् रघु०, १.६५। ११ पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपम् वही, ५.३४।

अध्याय १०

भोजन और पान, वेश और शृङ्गार

कालिदास निम्नलिखित खाद्य-पदार्थोका उल्लेख करते हैं:—यव[1] जिसमें शायद गेहूँ भी शामिल था, शालि[2] और कलमा[3] जैसे अनेक जाति के धान, तिल;[4] 'गुड़विकार'[5] और 'मत्स्यण्डिका'[6] जैसे नाना प्रकारकी शक्कर[7] तथा इसकी मिठाई 'मोदक'; दूध[8] तथा मक्खन,[9] घी,[10] दही,[11] खीर या पायसचरु[12] और इसी प्रकारकी अन्य उसकी बनी वस्तुएँ, मधु,[13] विविध प्रकारके मांस;[14] मत्स्य;[15] मीर्च,[16] एलायची[17] और लौंग[18] आदि विविध मसाले और लवण[19] और मीठे आमके[20] सदृश असंख्य फल।

भोजन

---

१ यवांकुरैः रघु०, ६.४३; प्रम्लानबीजांकुर वही, ७.२७। २ ऋतु०, ३.१, १०, १६, ४.१, ८, १८, ५.१, १६; रघु०, १५.७८ १७.५३। ३ रघु०, ४.३७; कुमा०, ५.४७। ४ शाकु०, पृ० ६४। ५ ऋतु०, ५.१६। ६ एदं खु सीहुपाणुव्वेजिदस्स मच्छण्डिआ उवणदा माल०, पृ० ४२। ७ मोदक विक्र०, पृ० ७५; मोदखण्डिआए माल०, पृ० ८१, मोदखण्डिआए शाकु०, पृ० ६२; खण्डमोदअअसरिसीअ विक्र०, पृ० ६५। ८ रघु०, २.६३। ९ नवनीत माल०, पृ० ५७। १० हैयंगवीन रघु०, १.४५। ११ सिहरिणी विक्र०, पृ० ७१। १२ रघु०, १०.५१, ५४। १३ कुमा०, ८.७२। १४ सुल्लभमंसभूइट्ठो आहारो शाकु०, पृ० ५५; भवं वि सूणापरिसरच्चरो विअ गिद्धो आमिसलोलुओ भीरुओअ० माल०, पृ० ३३–३४। १५ लोहिअमच्छो शाकु०, पृ० १८४, २०६। १६ मारीच रघु०, ४.४६। १७ एला वही, ४७। १८ लवंग वही, ६.५७; कुमा०, ८.२५। १९ सैन्धवशिला रघु०, ५.७३। २० रसालं विक्र०, पृ० ७१।

कालिदासके समयका भारतीय भोजन पुष्टिकर तथा शक्तिदायक था। यव, गेहूँ और चावल लोगोंके मुख्य भोजन थे। गन्ना से गुड़ तथा शक्कर बनती थी। शक्कर बनानेकी प्रक्रिया में एक विशिष्ट स्थितिका नाम 'गुड़विकार' था। कई प्रकारकी शक्करोंमें एक 'मत्स्यण्डिका'[1] थी। जैसा कि इस वाक्यांशसे बोध होता है यह मछलीके अण्डेके सदृश वर्तुलाकार आकृतिकी होती थी। शक्करसे कई प्रकारके मोदक बनते थे। भोजनमें विविध प्रकारसे प्रयुक्त होनेके अतिरिक्त यह मद्य-पानके[2] नशाको निवारणके लिए भी प्रयोग किया जाता था।

खाद्यान्न

चावल या गेहूँके आटेको शक्कर, नारियलकी गरीकी पतली छिलन और मसालोंके साथ मिलाकर और फिर उसको भाफमें उसनकर या घीमें तलकर मोदक[3] बनता था। यह एक गोल गेंद था और इसके भाग चन्द्रमाकी[4] कलाओंका सादृश्य रखते कल्पित किये गये हैं। हम ग्वालों (घोषों) को मक्खनका उपहार लेकर अपने राजासे मिलनेको दौड़ते जाते पाते हैं।[5] इन ग्वालोंका पेशा ही आजकी तरह गोवंशकी वृद्धि करना तथा उनका पालन था।

शक्कर और मिठाइयां

विशाल गोधनसे लोगोंको बलदायक दूध, मक्खन, (नवनीत), घी तथा दही प्राप्त होते थे। सिहरिनी (शिखरिणी), जैसा कि टीकाकारका संकेत है,[6] दहीको एलायची, लौंग, कपूर तथा दूसरे सुगन्धित द्रव्योंके साथ मिलाकर और दूध-शक्करमें पकाकर बनायी जाती थी। कभी-कभी यह दूध और पके केलों और उक्त दूसरी वस्तुओं

दूध की बनी वस्तुएं

---

१ मत्स्यण्डिका नाम शर्कराविशेषः—टीकाकार, माल०, पृ० ४२। २ वही, अन्ते द्वारा टेक्स्ट उल्लेख। ३ एम० आर० काले : मालविकाग्निमित्र, नोट। ४ विक्र०, पृ० ६५। ५ रघु०, १.४५। ६ एलालवंगकर्पूरादिसुरभिद्रव्यमिश्रितं दुग्धेन सह गलितं सितासंगतं दधि शिखरिणीत्युच्यते विक्र०, पृ० ७१।

(दहीको छोड़) में भी बनायी जाती और 'शिखरिणी'[1] कहलाती थी। मधु भोजनकी दूसरी वस्तु था जो अतिथियोंके[2] स्वागत और दूसरे त्योहार-संस्कारोंके समय भी काममें आता था। इसको 'मधु-पर्क' और 'अर्घ्य'[3] के नाम दिये जाते थे। मधुमें चावल और दूर्वा मिलाकर 'अर्घ्य'[4] बनता था। भारतके असंख्य सुमनोंपर मधुमक्खियोंके झुण्ड मँडराया करते, जिनसे प्रभूत मात्रामें मधु उत्पन्न होता, जो केवल भोजन के उपयोगमें ही नहीं आता, प्रत्युत देवताओंकी अर्घ्य-सामग्री भी था।

खाद्य पदार्थोंमें मांस तथा मत्स्यका स्थान मुख्य प्रतीत होता है। शिकारकी अधिकता जीवनका नाश व्यर्थमें नहीं करती थी और हिरण तथा शूकर-जैसे मारे गये शिकार सामान्यत: भोज्य थे। ब्राह्मणको भी इससे परहेज नहीं था और वह स्वतंत्रतामें मांसाहार करता था जैसा कि "अभिज्ञानशाकुन्तल" में आये हुए एक उद्धरणसे उद्भूत होता है जहाँ विदूषक जरा झिझकता हुआ कहता है, "अनियत समय पर पकाये हुए मांसके बाहुल्यवाला भोजन खाया जाता है।"[5] आखेट किये गये जंगली जीवोंसे ही केवल मांस नहीं प्राप्त होता किंतु पशु-वधके लिए वध-शालाएँ भी नियमत: संचालित होतीं जिनका मांस फलत: बाजारोंमें भी बेंचा जाता होगा। वध:शालाका संकेत करता हुआ उद्धरण है, "महा-राज, आप एक वधशाला (शूणा) के ऊपर मड़रानेवाले पक्षीके समान हैं, मांसके लालची किन्तु भीरु।"[6] मत्स्याहार भी होता था। गंगाके आसपासके झीलों तथा तालाबोंमें 'रोहित' नामका मत्स्य पाया जाता था। यह तीन फ़ीट लम्बाई तकका भी होता है, बड़ा पेटू है और इसका मांस,

मांस

---

१ दध्यतिरिक्तपूर्वोक्तद्रव्यमिश्रित: पक्वकदलीफलान्त:सारोऽपि तत्पदवाच्य: वही। २ कुमा०, ७.७२। ३ रघु०, ११.६९; कुमा०, ६.५०। ४ कुमा० ७.७२। ५ अनियतवेलं शूल्यमांसभूयिष्ठ आहारो भुज्यते शाकु०, पृ० ५५। ६ माल०, पृ० ३३ अन्ते द्वारा टेक्स्ट उल्लेख।

यद्यपि स्वाद में पंकिल है, खाने योग्य है। इसका पृष्ठतल जैतूनके रंगका होता है, इसकी पेटी सुनहली और इसके डैने तथा आँखें लाल।[1] यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि फाहियान पूर्ण निरामिषाहारका विवरण देता है किन्तु कालिदासके ग्रन्थोंमें यह सिद्ध करनेके लिए कि मांस साधारण लोगोंके आहारमें था अभ्रान्त प्रमाण है। फाहियान कहता है, "वे सुअरके बच्चे और मुर्गियाँ नहीं पालते और जीवित मवेशियोंको नहीं बेंचते; बाजारमें कसाईकी दूकान या नशीली मदिराके व्यापारी नहीं हैं।"[2] उस तीर्थ-यात्रीने स्पष्ट ही हर वस्तुको बौद्ध दृष्टि-बिन्दुसे देखा था और उसके वर्णनको अक्षरशः सत्य कदाचित् ही माना जा सकता है जब कि तुरंत ही वह अपने कथनका इस प्रकार खण्डन करता है, "केवल चाण्डाल ही मछली मारते और शिकार करते और मांस तथा आमिषका विक्रय करते हैं।"[3] उसीके कथनसे यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि वहाँ कसाईकी दूकानें थीं यद्यपि उसके संचालक 'द्विज' नहीं थे। किन्तु ऐसा ही आज भी तो है जब मांसाहारका अभ्यास सामान्य हो गया है। उच्च वर्णका या नीच वर्णका भी कोई हिन्दू मांस-विक्रेता नहीं है। अब भी इस कामको व्याध और शिकारी या खटिक करते हैं जो प्राचीन कालके चाण्डाल हैं।

मसाले

भोजनके पाक करनेमें मसालोंका भी प्रयोग होता था। हमें उनमेंसे कमसे कम तीनके---इलायची, लवंग और मिर्च, जो दक्षिणके[4] मलय पर्वत के प्रदेशमें जांगल रूपमें उपजनेवाले हैं, संकेत उपलब्ध होते हैं। उक्त प्रकारकी 'शिखरिणी' इन मसालोंके साथ दही या दूध और केला मिलाकर बनायी जाती थी। आधुनिक युगकी मुख्य खाद्य वस्तु नमकसे

---

१ मोनियर विलियम्सका शाकुन्तल, नोट। २ फाहियान्स रेकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किङ्गडम्स, जेम्स लेगी द्वारा अनुवाद, पृ० ४३। ३ वही। ४ मारीचोद्भ्रान्तहारीताः रघु०, ४.४६; एलानामुत्पतिष्णवः वही, ४७; स लवंगकेसर-कुमा०, ८.२५।

उस कालके लोग परिचित थे और मसालोंके साथ-साथ इसका भी उपयोग अवश्य रहा होगा। शक्करके बिना अधिक मसालेदार पाकके लिए लवण एक आवश्यक वस्तु हो जाती है और क्योंकि यह ज्ञात था और अश्वोंको[1] चाटनेके लिए दिया जाता था अतएव मानवके खाद्यमें भी इसका प्रयोग अवश्य होता होगा।

उपर्युक्त वस्तुओंके अतिरिक्त लोगोंको फल भी प्रचुर मात्रामें मिलते थे जो अधिकांशमें खाये जाते थे विशेषकर ऋषियोंके आश्रमोंमें।

फल

कालिदास फलके वृक्षोंका असंख्य संकेत करते हैं। आम[2] स्वभावतया सर्व-प्रिय था।

भोजनके पारम्परिक पाँच भेदोंके[3] सामान्य संकेत भी कविने दिये हैं जिनका नामोल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—चबाकर रोटी और

भोजन के भेद

मोदकके समान खाया जानेवाला (भक्ष्य) बिना चबाये खाया जानेवाला (भोज्य) यथा, चावल; पतली तरल चटनीके समान चाटी[4] जानेवाली वस्तुएँ (लेह्यानि) यथा, शिखरिणी; चूसनेकी वस्तुएँ (चोष्य) यथा, आमका आचार; पीनेकी[5] वस्तुएँ (पेय) यथा, दूध, मद्य इत्यादि।

मद्य-पानका लोगोंमें अधिक अभ्यास प्रतीत होता है। जनसाधारण

पेय

के अवसरिक अमिताचरणके असंख्य संकेत कालिदास करते हैं, जो कभी-कभी इतना मद्यपान कर लेते थे कि उसके परिणामपर संयमन रखना कठिन हो जाता था।[6] केवल पुरुष ही नहीं, स्त्रियाँ भी आसव-पानका

---

१ सैन्धवशिला रघु०, ५.७३। २ विक्र०, पृ० ७१। ३ पञ्चविहस्त वही, पृ० ३२, टीकाकार कातयर्वमके ये निम्न हैं; अभ्यवहारस्य पञ्चविधत्वं भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपानीयभेदेन। ४ रघु०, ५.७३; विक्र०, ४.४४। ५ पान माल०, पृ० ३३। ६ स्खलयत्पदे पदे कुमा०, ४.१२; घूर्णमाननयनं वही, ८.८०।

आनन्द लेती थीं। ऐसा विश्वास था कि नशासे स्त्रियोंमें एक विशिष्ट मनोहारित्व आता है[१]। 'मालविकाग्निमित्र'में अग्निमित्रकी रानियोंमें इरावती मद्यके[२] नशामें देखी जाती है। अजकी प्यारी रानी इन्दुमती अपने पतिके मुखसे मद्य लेती थी जो अपने मुखसे सीधे उसके मुखमें[३] स्थानान्तरित कर देता था। 'कुमारसम्भव'में हम स्वयं शिवको मद्य-पान करते तथा अपनी पत्नीको आसव पिलाते[४] पढ़ते हैं। विवाहित दम्पति नियमतः मद्य-सेवन-परायण थे, ऐसा कहा जा सकता है। इसके पश्चात् हमें 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में नागरिक तथा उसके नगर-रक्षकोंके मद्य-पान[५] का पाठ मिलता है। 'रघुवंश' में रघुके समस्त सैन्यको नारियलका[६] मद्य पीते उल्लेख किया गया है। हमें पान-पात्र[७] (चषक), सड़कके किनारे मद्यशाला[८] और पान-पात्रसे संकुल (चषकोत्तर) मद्य-पान[९] की खुली भूमि (पानभूमि) के संकेत प्राप्त हैं। पानभूमि, शाब्दिक अर्थमें, मद्य पान करनेका स्थान है। सुतरां, इस शब्दसे मधुशालाका बोध नहीं होता और न इसका प्रयोग केवल तथाकथित मद्य-पानके स्थानके लिए ही है किन्तु एक स्थलका भी अर्थ है—सामान्यतः हर्म्यके आसन्न प्रासादका[१०] एक भाग—जहाँ, कहा जाता है, कामदेवके सम्मानमें आनन्दोत्सवकी धूम रहती है।

कालिदासकी रचनाओंमें मद्यके लिए सामान्य शब्द हैं 'मद्य',[११] 'आसव'[१२]

---

१ पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि वही, ३.३८। २ ण मे चलणो अण्णदो पवहन्ति। मदो मं विआरेदि माल०, ०४६। ३ रघु०, ८.६८। ४ कुमा०, ८.७७। ५ शाकु०, पृ० १८८। ६ नारिकेलासवं रघु०, ४.४२। ७ वही, ७.४६। ८ सोण्डिआपणं शाकु०, पृ० १८८। ९ कुमा०, ६.४२, मिलाकर टीकाकारका आपानभूमिषु—पानगोष्ठीप्रदेशेषु घ्राणकान्तमधुगन्धकर्षिणीः पानभूमिरचनाः प्रियासखः रघु०, १९.११ रचिता पानभूमयः वहीं, ४.४२। १० वेश्मसु रघु०, १९.५। ११ पिबन्ति मद्यं मदनीयमुत्तमम् ऋतु०, ५.१०। १२ रघु०, ४.४२, १९.१२, ४६, ऋतु०, ४.११; कुमा०, ३.३८; विक्र०, ४.४४।

'मधु'[1] और 'मदिरा'[2] यद्यपि वारुणी,[3] कादम्बरी,[4] और शीधु[5] जैसे वाक्यांश भी प्रयुक्त हैं। कालिदास विशेष-

मद्य के प्रकार

कर मद्यके तीन प्रकारोंका उल्लेख करते हैं, यानी—१. नारियल[6] से बना 'नारिकेलासव', २. गन्नेके[7] रसका बना 'शीधु' और ३. 'मधूक'[8] जैसे पुष्पोंसे निकाला गया 'पुष्पासव'। बहुधा धनी व्यक्तियों-द्वारा सुगन्धित मद्य[9] ही प्रयोगमें आता था। विविध प्रकारके आसवोंमें गंध-मिश्रणके लिए आमकी मंजरियाँ तथा रक्त पाटलके[10] पुष्प व्यवहारमें आते थे। मद्यको सुवासित करनेके अतिरिक्त मारुतुंग या बीजपूरककी[11] छालका व्यवहार कर दुर्गन्धके प्रभावको दूर करनेकी चेष्टा की जाती थी। मद्यकी गन्धका आभास मात्र तक दूर करने, उदारतापूर्ण भोजनके उपरान्त खट्टी डकारके रोकने, श्वासमें मधुरता लाने के लिए...बीजपूरककी छाल काममें आती थी।[12] दूसरी रीति मद्यकी गन्ध दूर करनेकी थी, पानके पत्तों[13] और सुपारी[14] को चबाना। दूर दाक्षिणात्यके मलाया प्रदेशमें एला वृक्षकी शाखाओंके

---

१ मेघ० उ० ३; रघु०, ८.६८। २ मेघ० उ० १५, ऋतु०, ६.१०; विक्र०, २.१३, ४.४२। ३ कुमा०, ४.१२। ४ शाकु०, पृ० १८८। ५ पुराणशीधु रघु०, १६.५२; सीधु माल०, पृ० ४२। ६ रघु०, ४.४२—मल्लिनाथः नारिकेलमद्यः। ७ शीधु रघु०, १६.५२ मिलाकर मल्लिनाथ शीधुपक्वेक्षुरसप्रकृतकः सुराविशेषा मिलाकर यादव लेविसकौन "पक्वैरिक्षु-रसैरस्त्रीः शीधुः पक्वरसः शिवः"। ८ पुष्पाणामासवो मद्यं पुष्पासवः। पुष्पोद्भवमद्यमित्यर्थः। मल्लिनाथका कुमा०, ३.३८। ९ पुराणशीधुं—पुराणं वासितं रघु०, पर मल्लिनाथ, १६.५२; ऋतु०, ४.११ विक्र०, ४.४४। १० सहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ रघु०, १९.४६। ११ माल०, पृ० ३५। १२ कालिदासका मालविकाग्निमित्र : ए स्टडी दी इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, भाग ११, १०, १, मार्च १९३५, पृ० ४०—४१। १३ रघु०, ४.४२; ऋतु०, ५.५। १४ रघु०, ४.४४।

साथ लिपटी हुई जंगली रूपमें उपजी पानकी पत्तियाँ और समुद्र तटके सुपारीके वृक्षोंकी लम्बी पंक्तिसे भारतीय जनताको पानके पूरे बीड़े बनानेकी सामग्रियाँ अवश्य प्राप्त होती होंगी। कालिदासके समयमें भी पानके बीड़ोंका प्रयोग काफ़ी प्राचीन हो गया था, जैसा कि 'कामसूत्र' से प्रमाणित होता है, जिसमें एक नागरिकके कमरे तथा अभ्यासका विस्तारसे वर्णन है।

लाल-लाल नेत्रोंके घुमाने और प्रत्येक डग-मग पदपर[1] भाव-शून्य चेष्टाओंसे प्रकट सौंदर्यमें मदिरा-पानका प्रभाव स्पष्ट होता था। 'मालविकाग्निमित्र' में हमें एक संकेत[2] मिलता है जिसके अनुसार 'मत्स्यण्डिका' के प्रयोगके द्वारा नशाका प्रभाव दूर किया जाता था, जो एक प्रकारकी शक्कर थी, जिसको प्राचीन आयुर्वेदिक ग्रन्थोंने 'मदात्यचिकित्सा'[3] के प्रकरणमें अत्यन्त नशाकी दशाके लिए विघ्न बताया है।

हमने ऊपर देखा है कि कालिदासके युगमें जन-साधारणमें मदिरा-पान एक ठाठका पाप था। फाहियानका कथन कि नशाकारी पानका[4] कोई व्यवसायी नहीं था कठिनतासे सत्य माना जा सकता है जिसका कारण अन्यत्र दिया गया है। यद्यपि यह सम्भव है कि कविने इसमें अतिशयोक्ति की हो, तथापि इसको निरी काव्य-कल्पना कहकर नहीं छोड़ा जा सकता। यह ध्यान देने योग्य हो सकता है कि मद्य-पानके अधिकांश उदाहरणोंका सम्बन्ध राजवर्ग तथा सम्भ्रान्त जनसमुदायसे था। यह सम्भव है कि क्षत्रिय मदिरा-पान करते थे जब कि ब्राह्मण इससे दूर भागते थे। फिर

---

१ कुमा० ४। २ पृ० ४२।

३ मद्यं पीत्वा यदि वा तत्क्षणमेव लेह्यात् शर्करां सघृताम्।
मदयति न जातु मद्यं मनागपि प्रथितवीर्यमपि॥ और भी
मदयति न हि मद्यं जातुचित्पीतमद्यं
पिबति घृतसमेतां शर्करामेव सद्यः॥ अजीर्णमञ्जरी,
काशीराज-कृत।

४ फाहियान्स रेकार्ड आफ बुद्धिस्ट किङ्गडम्स, जेम्स लेगोजका अनुवाद, पृ० ४३।

भी कविके ग्रन्थोंमें इसके पर्याप्त और निर्भ्रान्त प्रमाण हैं कि जनतामें[1] मद्य-पान एक सामान्य विलास वस्तु थी।

भारतके समस्त मौसिमों तथा अवसरोंके[2] योग्य हमें पुरुष तथा स्त्रियोंके विविध प्रकारके वेषके संकेत मिलते हैं। हमें मृगयावेष[3] और शोकार्त तथा प्रेमरुग्ण[4] व्यक्तियोंके वेष, अभिसारिकावेष[5] और व्रतधारियोंके[6] वेषके उल्लेख पढ़नेको मिलते हैं। किस प्रकारके व्यक्तियोंको कैसा पोशाक पहनना चाहिए निश्चित था; अतएव ज्योंही कोई पात्र रंगमंचपर आता था प्रेक्षकोंको तुरंत ज्ञात हो जाता था कि वह शोकाकुल, प्रेम-रुग्ण या व्रतधारी है। लोग अपने वेषपर विशेष ध्यान देते थे और शुद्ध[7] तथा मनोज्ञ[8] वेश होनेके लिए वेष धारण करते थे। श्वेत[9], लाल,[10] नील,[11] केसरिया[12] और कृष्ण[13] विविध वर्णोंके[14] वस्त्र पहननेमें आते थे। रंगोंके अतिरिक्त गर्म तथा शीत मौसमोंके अनुकूल विविध नमूनोंके

वेश-भूषा

---

१ मिलाकर शाकु०, पृ० १८८; ऋतु०, १.३, ४.११, ६.१० रघु०, २.४२, ६१, १६.५२, मेघ० उ०, ३, ११, १५, ३२। २ अनुकूलवेष: रघु०, ५.७६ क्लृप्तविवाहवेषा ६.१० मृगवनोपगमक्षमवेषभृत् ९.५०; मृगयावेशम् शाकु०, पृ० ६८। ३ अपनयन्तु भवन्तो मृगयावेशम् शाकु०, पृ० ६८। रघु०, ९.५०। मृगयावेशमें केश एक वनमालसे बंधे होते और शरीरपर पत्तोंके रंग (पलास आदिके) का सादृश्य रखनेवाले वस्त्र पहने जाते, जिसमें सरलतासे वन्य पशुओंको धोखा दिया जा सके। (मिलाकर), रघु० ९.११। ४ विक्र०, ३.१२। ५ वही, पृ० ६८। ६ शाकु०, ७.२१। ७ मनोज्ञवेषा: रघु०, ६.१। ८ शुद्धवेषयो: वही, १.४६ उज्ज्वलनेपथ्ययो: टीकाकार; उदारनेपथ्यभृतां वही, ६.६; उज्ज्वलवेशधारिणा टीकाकार। ९ सितदुकूला ऋतु०, २.२५ श्वेतवासो वसाना वही, ३.२६; सितांशुक विक्र०, ३.१२, मिलाकर रघु०, १.४६, ६.६। १० अरुणरागांशुक रघु०, ९.४३, रक्तांशुकै: ऋतु०, ६.४, १९; वासोवसानातरुणार्करागं कुमा०, ३.५४। ११ नीलांशुक विक्र०, पृ० ६८; मेघ० पू० ४१। १२ काषाय रघु०, १५.७७; कुसुम्भरागारुणितैर्दुकूलै: ऋतु०, ६.४। १३ श्यामस्तनांशुक विक्र०, ६.१७। १४ वासश्चित्रं मेघ० उ० ११।

कपड़े बनते थे। हमें रेशम[1] (कौशेयक) और ऊन[2] (पत्रोर्ण) दोनोंका उल्लेख मिलता है। हंसके चिह्नों[3] वाले रेशमी वस्त्र बनते और इसका एक प्रकार 'चीनांशुक'[4] चीनसे आता था जैसा कि वाक्यांशकी व्युत्पत्ति से बोध होता है। ऐसे सूक्ष्म विनावटके कपड़ोंके नमूने भी थे जो अनायास ही साँस लगनेसे उड़ने लगते थे।[5] कदाचित् संकेत प्रसिद्ध भारतीय मलमलकी ओर है। गर्मीके दिनोंमें लोग ऐसे वस्त्र[6] धारण करते थे जो भारतकी आग उगलती सूर्यकी धूपके अनुकूल होते। ग्रीष्मकालीन तापको शान्त करके शरीरको शीतल रखनेके लिए विनावटमें रत्नोंको[7] खचितकर परिधान बनाये जाते थे। शीतकालमें स्वभावतया भारी ऊनी[8] वस्त्र[9] या रेशमी कपड़ा बहुत प्रिय होता था। रात और दिनके भिन्न-भिन्न परिधानोंका भी हमें एक उल्लेख मिलता है।[10] यदि उस युगके विलास-प्रिय भारतवासी अपने दिनमें पहने जानेवाले बहुमूल्य वस्त्र को रात्रिमें सोते समय प्रयोगकर नष्ट करना नहीं चाहते थे, तो इसमें कोई विस्मयकी बात नहीं। अधिक अच्छा होगा यदि हम पुरुष तथा स्त्रियों-द्वारा प्रयोग की जानेवाली वस्तुओंके उल्लेखके साथ वेषका अलग वर्णन करें।

भारतके विभिन्न देशोंमें विभिन्न परिधानका प्रचलन प्रतीत होता है। 'मालविकाग्निमित्र' में मालविकाको वह विवाह-परिधान पहनाने का अनुरोध परिव्राजिकासे किया जाता है, जिसका प्रचलन विदर्भ[11]

---

१ सरागकौशेयकभूषितो ऋतु०, ५.८; कौशेय माल०, पृ० १०५। २ माल०, ५.१२, पृ० १०५। ३ हंसचिह्नदुकूलवान् रघु०, १७.२५; वधूदुकूलं कलहंसलक्षणम्, कुमा०, ५.६७। ४ कुमा०, ७.३। ५ निःश्वासहार्यांक रघु०, १६.४३। ६ वही, तन्वंशुक ऋतु०, १.७, ४.३; प्रतनुसितदुकूला वही, २.२५; गुरूणि वासांसि विहाय तूर्णं तनूनि वही, ६.१३। ७ रत्नग्रथितोत्तरीयं रघु०, १६.४३। ८ वासांसि गुरूणि ऋतु०, १.७, ५.२, ६.१३। ९ माल०, ५.१२, वही, पृ० १०५। १० ऋतु०, ५.१४। ११ माल०, पृ० ९३।

देशम था। फलतः बहुत नीचे नहीं लटकानेवाले रेशमी परिधान धारण कर और सुन्दर अलंकारोंसे[1] सज्जित हो वधू अपने 'वैवाहिक वेश'[2] मे उपस्थित हुई। वर-वधूके उत्तरीय तथा निम्न परिधानके काममें आनेवाले रेशमी वस्त्रोंका एक जोड़ा जिनकी बिनावटमे हंसकी आकृतियाँ अंकित थी साधारण वैवाहिक पोशाक होना प्रतीत होता है।

विवाह-परिधान

पुरुषके प्रयोगमें आनेवाले वस्त्रोंकी संख्या तीन थी। अपने सिरको वह पाग[3] या 'वेष्ठन' से आवेष्टित करता और फिर वह दो वस्त्र[4] (दुकूल-युग्मम्), यानी उत्तरीय[5] तथा निम्न परिधान पहनता। वेष्ठन एक पगड़ी था जो पुरुष[6] और बालकोंके[7] सिरपर बालोंको बाँधते हुए लपेटा जाता। उत्तरीय कन्धोंको आवृत करनेवाला ऊपरी वस्त्र था। धनपतियोंके उत्तरीय रत्नखचित[8] (रत्नोद्ग्रथितोत्तरीयम्) होते थे। वे उनका प्रयोग ग्रीष्मकालमें करते थे। मथुरा-संग्रहालयमें सुरक्षित कुषाण तथा गुप्त-काल या उससे भी पूर्वकी गोलाईमें उत्कीर्ण दूसरी मूर्तियों और सुन्दरतासे उत्कीर्णित पृष्ठभूमि सहित प्रतिमाओंपर एक उत्तरीय तथा धोतीका परिधान देखा जा सकता है। संख्याएँ १४४८ (मृन्मूर्ति पंचशर कामदेवकी एक पूर्ण आकृति), सी० १८, १८६, ई० ८ (यक्षाकृति) १.८, १४, पी० १४ और पी० ६८ कुछ ऐसी मनोहर प्रदर्शन-वस्तुएँ हैं जिनपर लम्बा उड़ता हुआ उत्तरीय और घुट्टियों तक लटकती हुई सिकुड़न वाली धोती सुशोभित होती है। उस युगके लिए उत्तरीयका धारण करना इतना आवश्यक था कि साँची, भरहुत तथा अमरावतीकी मूर्तिकलाकी

स्त्री-पुरुषके वस्त्र

---

१ विवाहनैपथ्य वही, पृ० ६०, ६३। २ वही, ५.७। ३ रघु०, १.४२, ८.१२। ४ दुकूलयुग्मं वही, ७.१८, १६। ५ वही, १६.४३; शाकु०, पृ० २१८। ६ रघु०, १.४२। ७ वही, ८.१२। ८ वही, १६.४३।

रचनाओंमें एक भी ऐसी पुरुषाकृति नहीं है जिसके शरीरपर उत्तरीय नहीं हो।[1] तथापि यह बात अजन्ताकी[2] चित्रित आकृतियोंके साथ नहीं है। मथुरा-संग्रहालयकी असंख्य आकृतियाँ, विशेषकर शृङ्गी ऋषिकी आकृति (जे० ७) उसमें भी विशेषताके साथ शुभ-आकृतियाँ, मुख्यतया निर्मित पगड़ी (उष्णीष) पहनती हैं जिनपर हम बहुधा कृत्रिम रत्नोंको खचित या बिखरे पाते हैं। साधारणतः सभी पुरुष-आकृतियाँ 'फेटा' की तरह 'उष्णीष' धारण करती हैं, जिसकी निर्माण-विधिका वर्णन श्रीमन्त बलसाहेब पन्त प्रतिनिधिने अपनी 'अजन्ता' कृतिके प्लेट २ में किया है। साँची और भरहुत की अनेक आकृतियाँ 'फेटा'[3] पहने हुए शैलीमें उत्कीर्ण हैं। वरके विवाह-परिधानमें वे ही दो वस्त्र थे, केवल इस भिन्नताके साथ कि वे साधारण रूईके बने नहीं होते थे, किन्तु वे रेशमी थे, जिनमें हंसाकृति[4] (हंसचिह्न-दुकूलवान) खचित थी। रेशमी वस्त्रोंका यह एक प्रिय नमूना था और मथुराके संग्रहालयमें सुरक्षित मयूरासीना कुमारीके परिधानकी दृश्यपूर्ण शैलीमें एक ऐसा नमूना हम प्रदर्शित पाते हैं।

स्त्रियोंके परिधानमें तीन वस्त्र थे। उनके परिधानके लिए अंशुक पदका प्रयोग है। यद्यपि यह पद किसी भी वस्त्रके लिए उपयुक्त हो सकता है, तथापि इस शब्दके, जितने संकेत आये हैं सभी एकसे स्त्री-परिधानके[5] सम्बन्धमें ही आये हैं। स्त्री-परिधानके तीन वस्त्रोंमें एक ऊर्ध्व और दूसरा अधोवस्त्र तथा एक दुशाला थे। ऊर्ध्व वस्त्र एक कुर्ती[6] (कूर्पासक) था, जिसका सादृश हम मथुरा-संग्रहालयकी कतिपय नारी-मूर्तियों पर प्रदर्शित देखते हैं। इस कुर्तीका सामान्यतः संकेत 'स्तनांशुक'[7] शब्दसे हुआ है।

---

१ श्रीमन्त बलसाहेब पन्त प्रतिनिधिः अजन्ता, पृ० ४४। २ वही। ३ वही, पृ० ६६। ४ रघु०, १७.२५, कुमा०, ५.६७। ५ रघु०, ६.७५, ११.४, २६; कुमा०, १.१४; ऋतु०, १.७, ४.३, ६.४, १६; विक्र०, ३.१२, ४.१७। ६ कूर्पासकं ऋतु० ४.१६, ५.८। ७ वही, ६.८; विक्र०, ४.१७, ५.१२।

इससे सिद्ध होता है कि ऊर्ध्व वस्त्र समस्त स्तन प्रदेशको नहीं ढँकता था। किन्तु आधुनिक 'चोली' के समान यह केवल स्तनोंको ही ढंकता था और हाथोंकी[1] सहायतासे पहना जाता था। दक्षिण भारत, राजपुताना और मथुराके आस-पासके स्थानोंमें अधिकतर स्त्रियों-द्वारा इसका प्रयोग होता है। हमें निश्चयात्मक रूपसे नहीं ज्ञात होता कि अधोवस्त्र किस प्रकारका था किन्तु 'नीवी'[2] तथा 'नीवी-बन्ध'[3] शब्द-प्रयोगसे हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह नीचे घुट्टियों तक लटकता था और ऊपर कमरपर 'नीवी' के द्वारा लगा रहता था। 'नीवी' नारा थी जो सामनेकी तहोंकी शीर्ष छोरको गोल गाँठमें बाँधती थी जिसको 'नीवीबन्ध' कहते थे। आधुनिक साड़ीके ढंगसे अधोवस्त्र पहननेके संकेत नहीं हैं यद्यपि मथुरा संग्रहालयकी कम्बोजिका[4] बिलकुल आधुनिक ढंगसे साड़ी पहनती है। अधिक सम्भव है, अधोवस्त्र केवल कमर तक ही पहुँचता हो जहाँ उसको मथुरा-संग्रहालय की सात माताओंकी जुटी हुई प्रतिमा 'सप्तमात्रिकाओं'[5] की तरह एक डोरीका अवलम्ब दिया जाता था। मेखला-प्रदेश[6] (क्षौमान्तरितमेखले)को ढकता हुआ अधोवस्त्र कमरमें बाँधा जाता था। अन्तमें स्त्रियोंके प्रयोगमें आनेवाला एक लम्बा दुशाला[7] था जो नख-शिख उनको ढँकता था और अवगुंठनका काम भी करता था। विवाह[8] के अवसरके लिए एक विशिष्ट परिधान था और यह ऊर्ध्व तथा अधोवस्त्र दो रेशमी वस्त्रोंसे बना था। हम इस बातका संकेत कर आये हैं कि भारतके विभिन्न देशोंमें विभिन्न

---

१ श्लथबन्धनानि ऋतु०, ६.८। २ न बबन्ध नीवीं रघु०, ७.६; कुमा०, ७.६०। ३ नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं मेघ० उ०, ५; नीवीबन्धं कुमा०, ८.४। ४ आकृति ४२ दी काटालौग आफ दी स्कल्पचर्स आफ दी आर्चिओलोजिकल म्यूजियम, मथुरा, जे० पी० एच० वोगेल-द्वारा। ५ आकृति ३८, वही। ६ रघु०, १०.८। ७ शाकु०, ५.१३। ८ पत्रोर्णयुगलं माल०, पृ० ६०, ६३, १०५; रघु०, ६.१०, ७.१८, १६,१६.२५; कुमा०, ५.६७।

विवाह-परिधानका प्रचलन था। स्त्रीका साधारण विवाह-परिधान रेशमी वस्त्रका[1] एक जोड़ा था, जिसमें एक कुर्ती तथा एक अधोवस्त्र शामिल थे। नव वधूकी कुर्ती[2] लाल होती थी।

यवनियाँ या राजाकी यूनानी अंगरक्षिकाएँ आखेट-कालमें अपने विशिष्ट वेषके[3] कारण तुरंत पहचान ली जाती थीं। हमें उनके वेषका इसके अतिरिक्त और कोई उल्लेख नहीं प्राप्त होता कि वे प्रभूत पुष्प-माल धारण किये और राजाको[4] घेरे धनुष लिये घूमा करती थीं। मथुरा-संग्रहालयके प्रसिद्ध तथाकथित कापालिक-मण्डल (Bacchanalian Group) में यूनानी महिलाओंके पोशाक देखे जा सकते हैं। एक लम्बी आस्तीनवाली बण्डी और दबंग जतोंवाले तलवों तक पहुँचनेवाली चूनरी और अलकोंका लटकना रोकनेवाला[5] फीतेके समान एक वेष्टन—यही वह पोशाक है। एक रेलिंग-स्तम्भपर[6] उत्कीर्ण हाथमें तलवार लिये तथा लहरानेवाले बाल पहनी आकृतिमें एक यवनीका एक पूर्ण नमूना उदाहृत है। अजन्ताके एक भित्ति-चित्रमें मद्य-पानमें निरत राज-दम्पतिकी परिचर्यामें लीन मद्य-घट वहन करनेवाली दासीकी आकृतिमें इसी प्रकारका दूसरा नमूना भी देखा जा सकता है।

सीताके[7] सदृश तपस्वी कापायवस्त्र धारण करते थे जो सामान्यतया वृक्ष-छालके बने होते थे। आश्रमवासिनी कुमारियाँ मुनियोंके समान ही वल्कल[8] पहनती थीं। तपस्वियों तथा तपस्विनियोंके परिधानोंकी भिन्नताका हमें कोई संकेत नहीं मिलता, यद्यपि हम उनके वेष-पार्थक्यका अनुमान कर सकते हैं। शकुन्तला वल्कल[10] पहनती है,

तपस्वी-वेष

---

१ रघु०, १७.२५; कुमा०, ५.६७। २ ऋतु०, ६.१६। ३ शाकु०, पृ० ५७। ४ वही। ५.c.२, दी काटालाग आफ दी स्कल्पचर्स आफ दी आर्चियोलोजिकल म्यूजियम, मथुरा। ६ g.६३ वही। ७ काषायपरिवीतेन रघु०, १०.७७। ८ बक्कलेण शाकु०, पृ० २८; १.१७। ९ वही, १.१७। १० वही पृ० २८।

जिसमें उसके कन्धेके पास गाँठ दी गई है । एक कन्धेपर एक गाँठ बंधी थी या दो या दोनों कन्धोंपर एक-एक, यह स्पष्ट नहीं होता ।

वस्त्

अरण्यवासी और जंगली जातियों, कदाचित् आदिवासियोंके प्रतिनिधि दस्यु अपने वक्षःस्थलको तृण-रज्जुओंसे ढँकते और मयूर-पक्ष सिरपर धारण करते थे जो उनके कानों तक[1] लटकते रहते ।

आभूषण

कालिदास आभूषणके कई नाम देते हैं, यथा, भूषण,[2] आभरण,[3] अलंकार[4] और मण्डन[5] । सिरपर पहने जानेवाले आभूषण थे—'चूड़ामणि',[6] असाधारण चमकवाला एक बहुमूल्य पत्थर, 'रत्नजाल' या 'मुक्ताजाल',[7] बालके गुच्छोंको ढँकनेके लिए बहुमूल्य पत्थरों या मोतियोंका जाल, चोटियोंमें रत्न गुहे हुए, और किरीट ।[8] हीरे तथा दूसरे बहुमूल्य रत्नोंके बने कर्णभूषण,[9] कर्णपूर,[10] कुण्डल[11] और मणि-कुण्डल[12] नामक विविध प्रकारके कर्णालंकारोंसे कानकी शोभा होती थी । गलेमें निष्क[13] नामका आभूषण पहना जाता था जो कदाचित् निष्क-मुद्राओंको पिरोकर बना होता था । ऋग्वेद-जैसे प्राचीन ग्रन्थमें इस प्रकारकी 'कण्ठी' का संकेत आता है । इसके पश्चात् विविध प्रकारके ऐसे लम्बे हार थे जो छातीपर लटकते रहते थे । इनमें 'मुक्तावली'[14] मोतियोंकी माला थी, 'तारहार'[15] बड़े मोतियोंकी माला (स्थूलमुक्ता-

---

१ माल०, ५.१० । २ रघु०, १८.४५, १६.४५; मेघ० उ०, ११ । ३ माल०; ५.७; पृ० १०४; विक्र०, पृ० ६८; रघु०, १४.५४; कुमा०, ३.५३, ७.२१ । ४ माल०, पृ० ६२ । ५ कुमा०, १.४; मेघ० उ०, ११ । ६ विक्र०, पृ० १२२ । ७ मेघ० पू०, ६३; वही, उ० ६ । ८ रघु०, ६.१६ । ६ वहीं, ६५ । १० वहीं, ७.२७ । ११ वहीं, १०.५१; ऋतु०, ३.१६ । १२ ऋतु०, २.१६ । १३ कुमा०, २.४६ । १४ रघु०, १३.४८ । १५ वहीं, ५.५२ ।

हार:—मल्लिनाथ), 'हार',[1] साधारण हार, 'हारशेखर',[2] तुषारोज्ज्वल माल, 'हारयष्टि',[3] 'मोतियोंकी केवल माला—शुद्ध एकावली—जिसके मध्यमें एक हीरा अंकित हो जिसका उल्लेख कौटिल्यने किया है (अध्या० १६, पृ० ७७), 'वैजयन्तिका'[4] जिसकी व्याख्या टी० ए० गोपीनाथ राव[5] (वैजयन्ती) शीर्षकके नीचे करते हुए कहते हैं कि रत्नोंके समूहोंकी उत्तरोत्तर पंक्तियोंका बना यह हार है जिसके प्रत्येक रत्न-समूहमें पाँच रत्न विशिष्ट क्रमसे रखे गये हैं; वे इस हारका अर्थ स्पष्ट करनेके निमित्त 'विष्णुपुराण' का प्रमाण उपस्थित करते हैं: "वैजयन्ती नामक विष्णुका हार पाँच आकृतियोंवाला है क्योंकि यह पंचभूतोंका बना है और अतएव यह तात्त्विक हार कहलाता है। यहाँ पंचाकृतिसे पाँच प्रकारके रत्नों, यानी मोती, माणिक्य, पन्ना, नीलम और हीराका बोध होता है।" 'हेमसूत्र'[6] सोनेकी एक जंजीर थी जिसके केन्द्रमें[7] एक बहुमूल्य पत्थर रहता था। 'प्रालम्ब'[8] और 'माला'[9] फूलोंके लम्बे माल थे। विविध नमूनेके कानके अलंकार (कर्णभूषण)[10] कानोंमें पहने जाते थे। उनमेंसे कुछके उल्लेख कालिदासने किये हैं: 'कर्णपूर'[11] या 'कुण्डल', सुवर्ण या माणिक्यके[12] सदृश्य बहुमूल्य पत्थरका बना हुआ कर्णफूल और पीत[13] कमलके अनुकरणमें बने हुए सुवर्णके आभूषण। सुवर्णके या रत्नखचित सुवर्णके 'अंगद'[14] या 'केयूर'[15] पुरुष तथा स्त्रियों-द्वारा बहुधा उपयोगमें आते थे। नर-नारीकी कलाइयोंको वलय[16] शोभित

१ वहीं, ५.७०, ६.१६ १६.६२; ऋतु०; ४.२, ६.२४, ५६; मेघ० उ०, ९। २ ऋतु०, १.६। ३ वहीं, १.८, २.२५। ४ विक्र०, पृ० ३८। ५ दी हिन्दू इकोनोग्राफी, भाग १, खण्ड १, पृ० २६। ६ विक्र०, पृ० १२२, १२३। ७ विक्र०, ५.२। ८ रघु०, ६.१४। ९ माल०, पृ० ३६। १० रघु०, ५.६५। ११ वहीं, ७.२७। १२ ऋतु०, २.१९। १३ मेघ० उ० ९। १४ रघु०, ६.१४, ५३, ७३; १६.६०; ऋतु०, ४.३, ६.६; विक्र०, १.१५। १५ रघु०, ६.६८, ७.५०, १६.५६। १६ शाकु०, ३.१०, ६.६, मेघ० पू०, १२; रघु०, १६.७३; ऋतु०, ६.६।

करते थे और नाना प्रकारकी अंगूठियाँ (अंगुलीय,[१] अंगुलीयक[२]) उँगलियोंको अलंकृत करती थीं। आभूषणके उपयोगमें अधिकतर आने वाले सुवर्णके अतिरिक्त अंगूठी बनानेके काममें हीरे तथा दूसरे रत्नोंको[३] भी लाया जाता था। कितने अंगुलीयक सर्पाकृति[४] होते और बहुतोंपर उनके स्वामियोंके नाम खुदे होते थे। कभी-कभी अधिकार[५] सूचित करने के लिए भी अंगुलीय उपयुक्त होते। कवि सुवर्णमय[६] तथा रत्नजटित मेखलाओंके अनेक संकेत करता है जो अधिकांश सुवर्ण और रत्नोंके कमसे बने होते और इस प्रकार विविध रंगके[७] दीख पड़ते, जिनको स्त्रियाँ कटि-प्रदेशमें धारण करती थीं। वह उनका संकेत 'मेखला'[८], 'हेममेखला',[९] 'काञ्ची',[१०] 'कनककाञ्ची',[११] किंकिणी[१२] और 'रशना'[१३] के नामसे करता है जिनसे उनके इतने प्रकारोंकी सूचना प्राप्त होती है। मथुराके संग्रहालयमें रक्षित देवियोंकी बीसों प्रतिमाओंकी मण्डलीमें मेखलाकी वास्तविक विविधताका अध्ययन किया जा सकता है। कदाचित् दो और प्रकारकी मेखलाएँ थीं, एक रुन-झुन[१४] शब्द करनेवाली और दूसरी मूक।

---

१ रघु०, ६.१८; शाकु०, पृ० ४७। २ शाकु०, पृ० ४६, १२०, १४६; माल०, पृ० ४। ३ रघु०, ६.१८। ४ माल०, पृ० ४। ५ शाकु०, पृ० १२०, ६.१२; माल०, पृ० ४। ६ रघु०, १३.३; १६.४१; ऋतु०, १.६, ३.२४, माल०, ३.२१। ७ रघु०, १६.४५; कुमा०, १.३८; ऋतु०, ४.४, ६.३। ८ माल०, पृ० ५६; ऋतु०, १.४, ६, ६.३; कुमा०, १.३८, ८.८६; रघु०, ८.६४, १६.२५, २६.४५। ९ ऋतु०, १.६। १० वही, २.१६, ३.२४, ४.४; रघु०, ६.४३; कुमा०, १.३७, ३.५५; माल०, ३.२१, पृ० २८। ११ ऋतु०, ३.२४। १२ रघु०, १३.२३। १३ वही, ७.१०, १६.६५, १६.२७, ४१; मे० पू०, ३५; ऋतु०, ६.२४ माल०, पृ० ५६। १४ मेघ० पू०, ३५; ऋतु०, ३.२४।

मधुर शब्द करनेवाले नूपुर[1] स्त्रियोंकी घुट्टियोंको आभूषित करते और विविध प्रकारके रत्नोंके[2] बने होते। हमें एक रत्नजटित-गुटिका[3] तथा आभूषणोंकी[4] पेटिकाका उल्लेख पढ़नेको मिलता है। पहननेवाले के अंगोंको शीतल स्पर्श देनेके लिए ग्रीष्म कालमें[5] पहने जानेवाले वस्त्रों में आभूषण खचित होते थे। उक्त आभूषणोंमें 'चूड़ामणि' या 'कपालमणि',[6] 'किरीट', 'कुण्डल', 'निष्क', स्वर्ण-जंजीर तथा मोती-सूत्रोंके विविध प्रकार 'अंगद', 'वलय', 'अंगुलीयक' पुरुषों-द्वारा धारण किये जाते थे और 'किरीट' तथा 'वैजयन्ती' के अतिरिक्त शेष आभूषण स्त्रियोंके आभरणमें आते थे। अतः पुरुष भी भूषण धारण करते थे और इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए झांसीके देवगढ़के एक भग्न देवालयकी बिलकुल समसामयिक विष्णुकी प्रतिमाका प्रमाण हम उपस्थित कर सकते हैं, जो 'किरीट-मुकुट', 'कुण्डल', 'हार', 'केयूर' 'कटक' और 'वनमाला' धारण किये हैं। इस प्रतिमाका वर्णन टी० ए० गोपीनाथ रावके 'हिन्दू आइकोनोग्राफी', खण्ड १, भाग १ के प्लेट, ३२ में आया है। अजन्ताकी चित्र-कलाओंमें नारियों के आभूषण-बाहुल्यका परिचय प्राप्त हो सकता है जो बड़े उत्साह एवं चावसे पहने जाते हैं, विशेषकर गुफा सं० २ की दासीके द्वारा जो अन्यथा एक प्रकार वस्त्र-रहित है।

हम कालिदासके ग्रन्थोंमें शिखाधारी[7] मुण्डित सिर और लम्बे बालों वाले लोगोंके[8] संकेत पढ़ते हैं। जब पुरुष लम्बे-लम्बे बाल रखते थे तो वे उनको केश-बन्धनसे[9] बांधते थे। वे दाढ़ी बनाते, किन्तु शोक-कालमें

---

१ रघु०, ८.६३, १३.२३, १६.१२, ५६; कुमा०, १.३४; ऋतु०, १.५, ३.२५, ४.४; विक्र०, ३.१५, ४.३०, पृ० १००। २ ऋतु०, ३.२५। ३ माल०, पृ० ७३.८७। ४ वहीं, पृ० १०४। ५ रघु०, १६.४३। ६ विक्र०, पृ० १२२। ७ रघु०, १६.४३। ८ विक्र०, एक्ट० ४; सिहृण्डको वहीं, एक्ट० ५। ९ लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैः रघु०, २.८।

वे उसको लम्बी[1] बढ़ने देते थे। दाढ़ीके लिए 'श्मश्रु' का प्रयोग है। पारसिकोंके लम्बी दाढ़ी[2] होती थी। बालकोंके

शृङ्गार—अलक

बाल ग्रथित थे जो 'काकपक्ष'[3] कहलाता था क्योंकि वे अगल-बगल लटक कर काकके पंखका सादृश्य प्रकट करते थे।

स्त्रियाँ लम्बे बाल[4] बढ़ातीं, तेल डालतीं तथा कंघी[5] करतीं, और तब उनको सीमन्तसे विभाजित[6] करतीं और चोटियोंमें[7] गूहती थी। वे चोटियोंमें और सीमन्तपर पुष्प,[8] मोती तथा रत्न खोंसती थीं। कभी-कभी मोतियोंकी जालिका केशाच्छादनके लिए पहनी जाती थी। पति-वियुक्ता पत्नियाँ न बालोंमें तेल डालतीं और न कंघी करतीं और न अपनी चोटियोंको ही फिरसे गूहनेके लिए खोलतीं जो इसके परिणाम स्वरूप भद्दी और शुष्क[9] हो जाती थीं। अगुरु, चन्दन, आदि द्रव्योंकी सुगंधसे स्त्रियाँ अपने केश सुगंधित[10] करती थीं। वे अपनी वेणियोंमें एक गाँठ देकर उसको अपने सिरपर मुकुटके समान रखती थीं। इसको 'शिखा'[11] या 'चूड़ा' कहते थे। वे समस्त केशोंको केवल एक लम्बी वेणीके रूपमें बाँधती जिसकी लाक्षणिक संज्ञा थी, 'एकवेणी'[12]। 'एकवेणी' आधुनिक 'जूड़ा' नहीं है क्योंकि एक वियुक्ता पत्नीके वर्णनमें 'एकवेणी' का उल्लेख आता है जो उसकी पीठपर उसके नितम्बों तक[13] लटकती रहती है।

---

१ श्मश्रुप्रवृद्ध वही, १८.७१। २ श्मश्रुल वही, ४.६३। ३ काकपक्ष वही, ३.२८, ९.१, ४२, १८.४३। ४ मेघ० पू०, ८; ऋतु०, ४.१५। ५ वही। ६ सीमन्ते मेघ० उ०, २। ७ रघु०, १६.१२; मेघ० उ०, २; शाकु०, पृ० २५०। ८ मेघ० उ०, २; रघु०, ६.२३। ९ मेघ० उ०, २९। १० ऋतु०, १.४, २.२१, ५.५, ६.१३; कुमा०, ७.१४; मेघ० पू० ३२। ११ मेघ० उ०, २९। १२ शाकु०, ७.२१; मेघ० उ०, २९। १३ ऋतु०, ४.१६।

शृङ्गारके उपकरणोंमें संक्षेपतः विविध भाँतिके पुष्प, मालाएँ, सुगन्ध, सुगन्ध-प्रसारक चूर्ण, धूप, सुगन्ध-लेप, इत्र, एक प्रकारका अधर-राग, महावर और अंग तथा मुखको सुगन्धित करनेवाले सुगन्ध-द्रव्य रखे जा सकते हैं।

शृङ्गारके उपकरण

शृङ्गारके अनेक उपकरणोंमें पुष्पका स्थान मुख्य था और जन-साधारण की सौंदर्य-रचनामें इसका प्रभूततासे उपयोग होता था। कविने पुष्पके असंख्य संकेत दिये हैं। इसके बिना कोई उत्सव नहीं हो सकता था और सभी अवसरोंकी सज्जा-सामग्रियोंमें इसका प्रमुख स्थान था। नर-नारी सभी घुटनोंतक लटकनेवाली लम्बी पुष्प-मालाएँ पहनते थे। बहुमूल्य पत्थरों तथा द्रव्योंके अधिकांश आभूषण पुष्पोंके[1] अनुकरणों-द्वारा प्रकट किये जाते थे। स्वाभाविक सुवर्ण-निर्मित तगड़ीके स्थानमें पहननेके लिए हमें एक फूलोंकी[2] तगड़ीका संकेत मिलता है। युवतियाँ अपने केश-पाशों में पुष्प तथा 'केसर'की कोंपलें खोंसतीं और उनको आभूषणकी भाँति धारण करतीं। केसरके फूल[3] भी तगड़ी बनानेके काम आते। 'कर्णिकार' के सुमन कर्ण-फूलका[4] स्थान ग्रहण करते। [illegible] हाथों में ले क्रीड़ा करतीं, कुन्दकी कलियों तथा म[illegible] गातीं, "शिरीष' के फूलोंको कानोंपर रखतीं, वर्षा ऋतुमें खिलनेवाले कुसुमको सीमन्त रेखापर सजातीं और 'कुरबक'—पुष्पोंको चोटियोंमें[5] गूथती थीं। तपोवनकी कुमारियाँ केवल फूलोंके[6] आभूषण ही पहनती थीं। एक वर्ग (पुष्पलावी)[7] का निर्माण हो चुका था और उसने पुष्प-व्यवसाय को अपना पेशा बना लिया था।

पुष्प

---

१ मेघ० उ०, ११। २ कुमा०, ३.५५। ३ वहीं। ४ ऋतु०, ६.५५। ५ मेघ० उ०, २। ६ शाकु०, ४, वहीं, पृ० १२६। ७ मेघ० पू०, २६।

पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों बहुतसे अंगराग प्रयोगमें लाते थे। स्नान करनेके पूर्व वे अपने शरीरमें विविध लेप लगाते थे, जो 'अनुलेपन'[१] तथा 'अंगराग'[२] कहलाते थे और जो चन्दन-कीच[३] या उशीर[४] नामक घासकी जड़से प्रस्तुत होते थे। अन्य प्रकारके लेप 'कालेयक'[५] (एक तेलहनका पौधा), 'कालागुरु'[६] (काला अगरु) और 'हरिचन्दन'[७] से बनते थे। हरिचन्दन एक सुगन्धित पीत राग था और इसीलिए इसका नाम था 'चन्दन'। इंगुदीके[८] फलोंसे तैल निकाला जाता और शायद मनःशिला[९] तथा हरितालसे[१०] भी। कौटिल्य-अर्थशास्त्रमें[११] 'कालेयक' के साथ 'मनःशिल' और 'हरिताल' 'तैलकर्णिक' (आवश्यक तेल[१२] उत्पन्न करनेवाला पौधा) की तीन जातियां कहे गये हैं। स्नानके बाद काला-गुरु,[१३] लोध्र-रेणु,[१४] धूप[१५] और दूसरे सुवासित द्रव्यों (कौशेय)[१६] के सुगन्धमय धूपमें केश सुखाये जाते थे। शरीरको कस्तूरीसे[१७] भी

अंगराग

१ ऋतु०, ५.५; विक्र०, पृ० १२१। २ कुमा०, ५.६८, ८.६; रघु०, ६.६०, १०२, २७, १४.१४, १७.२४। ३ शाकु०, पृ० ८४। ४ ऋतु०, २.२१; प्रियंगु, कालेयक और केसर आदि सुगन्ध-द्रव्योंके मिश्रणसे चन्दन-कीच बनता था जो फिर मृगनाभि या कस्तूरीसे सुवासित किया जाता था। ५ ऋतु०, ४.५; कुमा०, ७.६। ६ ऋतु०, २.२१, ४.५, ५.५, १२, ६.१३; कुमा०, ७.१५; रघु०, १४.१२। ७ वही, ६. ६० ८ शाकु०, पृ० ७३। ९ कुमा०, ७.२३। १० वही। ११ पृ० ६५३, ६५६। १२ 'दो आयलेट' (सैन्स इन्डेपेडेन्स टु प्लेटस) में गिरिजा प्रसन्न मजुमदार-द्वारा 'अर्थ-शास्त्र'का प्रमाण, इण्डियन कल्चर, भाग १, सं० ४, अप्रिल १९३५। १३ ऋतु०, २.२१, ४.५, १२, ६.१३; कुमा०, ७.१५; रघु०, ४.१२। १४ मेघ० उ०, २। १५ ऋतु०, ४.५ ५.५, १२, ६.१३; मेघ० पू०, ३२, कुमा०, ५.५५, ७.१४; रघु०, १६.५०, १६ ऋतु०, १.४। १७ वही, ६.१२; रघु०, १७.२४।

सुगन्धित करते थे। स्त्री-पुरुष अपने ललाटपर 'हरिताल'[१] और मनःशिलाके[२] मिश्रणसे बने लेपके तिलक लगाते थे। स्त्रियाँ भी कभी-कभी अपने ललाटपर अंजनका[३] तिलक लगातीं। सुरमा[४] शलाकासे[५] आँखोंमें किया जाता। 'चन्दन'[६] और 'कुंकुम'[७] (केसर) 'तिलक' के लिए प्रयुक्त होनेके अतिरिक्त स्त्रियों-द्वारा शीतलता लानेके लिए स्तनों पर [८]भी लगाये जाते थे। स्त्रियाँ अपने कपोलोंपर विविध पत्रावलियों को चित्रित करती थीं। यह चित्रकला समग्र रूपमें 'विशेषक'[९] के नामसे प्रसिद्ध थी जो मुखपर विविध रंगोंके बिन्दुओंकी आलंकारिक व्यवस्था थी। यह व्यवस्था जब पंक्तियोंमें होती तो, 'पत्रविशेषक'[१०] या 'पत्रलेखा' कहलाती थी। अन्यथा 'विशेषक' 'भक्ति'[११] के नामसे जाना जाता था, जो 'तिलक' चिह्नके अलंकरणके लिए कुंकुमके लघु बिन्दुओंका मनोरम सज्जीकरण था। अमरकोश 'विशेषक' की व्याख्या करता है, **पत्रलेख-पत्रांगुलि-तमालपत्र-तिलक-चित्रकाणि विशेषकम्**'[१२]। जिस लेप-पंकसे 'विशेषक' चित्रित होता उसमें श्वेत अगुरु[१३] (शुक्लागुरु) और 'रोचन'[१४] या 'गोरोचन'[१५] मिलाये जाते थे। यह पंक श्वेत रंगका होता था क्योंकि इसके मुख्य द्रव्य—शुक्लागुरु और गोरोचन—शुक्ल थे। स्त्रियाँ अपने अधरोष्ठ 'आलक्तक'[१६] से रंजित करतीं और फिर उनपर लोध्र-रेणु[१७] नामक

---

१ कुमा०७.२३। २ वही। ३ माल०, ३.५। ४ वही, रघु०, ६.५५ ७.८; कुमा०,५. ५१; ऋतु०, ४.१७। ५ रघु०, ७.८; कुमा०, १.४७, ७.२०। ६ ऋतु०, १.२, ४, ६, २.२१; रघु०, १७.२४। ७ ऋतु०, ४.२, ५.९। ८ वही, १.४, ६, २.२१, ४.२, ५.९। ९ माल०, ३.५; रघु०, ३.५५, ९.२९; कुमा०, ३.३३, ३८। १० ऋतु०, ४.५; रघु०, ३.५५, ९.२९; कुमा०, ३.३३, ३८। ११ कुमा०, ३.३०, ७.१५। १२ इण्डियन कल्चर, पृ० ६६०-६१। १३ कुमा० ७.१५। १४ रघु०, ६.६५, १७.२४। १५ कुमा०,७.१५। १६ माल० ३.५; कुमा०, ५.३५। १७ कुमा०, ७.९; मेघ० उ० २।

एक चूर्ण मलतीं जो लोध्र काष्ठसे बनता था जिससे वे पीतारुण हो जाते। ओष्ठ-राग शीतकालीन ठंढकके प्रभावसे ओष्ठकी रक्षाके लिए लाक्षा-रंग के समान था। स्त्रियाँ अपने पैरोंको लाक्षासे रंगती थीं और उनके तलवों में लगाया गया लोहित राग, जब वे तड़ागके[1] पानीके किनारे उतरतीं, तो तड़ागके सोपानको लाल-लाल बना देता। मुख-शुद्धिके लिए मातुलुंग या बीजपूरक[2] और पानके[3] मसालोंका प्रयोग होता था। फिर एक नागरिक या ठाठवाले भद्र पुरुषके लिए बीजपूरककी छाल उतनी ही जीवनकी आवश्यक वस्तु थी जितनी द्यूत, संगीत-वाद्य, पान इत्यादि। नागरिकके कमरे तथा वेश-भूषाका विस्तारपूर्वक विवरण 'कामसूत्र' देता है। "मदिराकी गन्धका नाम तक दूर करने, डटकर भोजन करनेके पश्चात् शब्दमय डकारको रोकने और साँसको कोमलता देनेके लिए बीजपूरककी छाल चबायी जाती थी जिसमें उसके आलिंगनमें आनेवाली सुरुचि-सम्पन्ना ललना कहीं इससे भड़क न जाय। ऐसी अवस्थामें कोई यह निष्कर्ष निकाल सकता था कि उस युगमें किसी महिला-मित्र या अपनेसे बड़ेको बीजपूरक भेंट करना उस महिलाके अललनोचित आचरणके दोषका विज्ञापन समझा जाता होगा।"[4]

दर्पण[5] शृङ्गारका एक मुख्य उपकरण था। यह किस धातुका होता था इसके सम्बन्धमें हम निश्चित नहीं हैं, किन्तु एक अप्रत्यक्ष संकेत एक ऐसे दर्पणको लक्ष्य करता है जो शीशेके समान या आधुनिक शीशेके समान चमकीला बनाया गया किसी पदार्थका बना था। एक उपमामें कालिदास कहते हैं: 'आर्द्र वाष्पसे युक्त हवाके लगनेसे बना धब्बा।"[6]

१ ऋतु०, १.५; कुमा०, ४.१९, ७.१९, ८.८९; रघु०, १६.१५; मेघ० पू०, ३२; माल०, ३.१३; विक्र०, ४.१६। २ माल०, ५। १३ ऋतु०, ५.५। ४ "कालिदासका मालविकाग्निमित्र; एक अध्ययन", दी इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, मार्च १९३५। ५ रघु०, १४.३७, १७.२६, १९.२८. ३०; कुमा०, ७.२२, २६, ३६, ८.११; शाकु०, ७.३२। ६ रघु०, १४.३७।

इस प्रकारका धब्बा शीशेके[1] दर्पणपर विशेषत: देखा जाता है यद्यपि हमें सुवर्ण-दर्पणका एक उल्लेख प्राप्त है। गोपीनाथ राव कहते हैं, "पुरातन कालमें जब शीशा या तो अज्ञात था या उसका प्रयोग दर्पण बनानेके लिए नहीं होता था, विभिन्न नमूनोंके खूब रगड़कर चमकदार बने धातु-पट दर्पणके काममें उपयुक्त होते थे।" इस प्रसंगमें यह कहा जा सकता है कि यह प्राचीन दर्पण-उद्योग अभी भी भारतवर्षमें नष्ट नहीं हुआ है। त्रावणकोरके अरमुल नामक स्थानमें इस प्रकारके दर्पण आज भी निर्मित होते हैं; और यहाँके कारीगरोंके हाथों बने दर्पण ऐसे निर्दोष होते हैं कि बिम्बमें किसी प्रकारकी टूट नहीं दीख पड़ती।"[2] सत्य तो यह है कि 'पेरिप्लस ऑफ दी इरिथियन सी'[3] के प्रमाणके आधारपर हम ईस्वी सन् की आरम्भिक शताब्दीमें भारतको मौलिक रूपमें शीशाका आयात करते पाते हैं। कदाचित् सिंहलमें[4] यह ई० पू० तीसरी शतीमें निर्मित हुआ था। प्लिनी अन्य सबसे उत्कृष्ट चूर्णित मणिके बने भारतीय शीशेका उल्लेख करता है।[5] डाक्टर आचार्य अपने 'इंडियन आर्चिटेक्चर' में ५ या ६ से लेकर २१ या २२ अंगुलों[6] तक एक दर्पणके नौ संगत मापोंका उल्लेख करते हैं। 'मानसार' कहता है, दर्पणोंको कुछ उठी किनारीके साथ बिलकुल वृत्ताकार (सुवृत्त) होना चाहिए। धरातल पूर्णत: चमकीला हो, किनारी रेखाओंसे अलंकृत हो और उसका पृष्ठ-देश लक्ष्मी आदिकी[7] आकृतियोंसे सुशोभित हो। शृङ्गार करनेके पश्चात् लोग दर्पण में देखते थे। दर्पणमें देखना आजके समान ही शुभ समझा जाता था।

दर्पण

---

१ वही, १७.२६। २ दी हिन्दु इकोनोग्राफी, भाग १, खंड १, पृ० १२। ३ स्कौफका अनुवाद, पृ० ४५, जे० ५६। ४ मित्र: एन्टिक्विटिज आफ ओरिसा, १, पृ० १०१। ५ २७.२०। ६ पृ० ६६। ७ वही।

हमें शृङ्गार-कला,[१] (प्रसाधनकला और प्रसाधनविधि), शृङ्गार-परिचारक[२] (प्रसाधकाः) और शृङ्गार-परिचारिकाएँ[३] (प्रसाधिकाः) और कदाचित् शृङ्गार-मंजूषिका[४] तकके भी उल्लेख मिलते हैं। मुखके शृङ्गारको 'मुखप्रसाधन'[५] और चोटीके शृङ्गारको 'वेणीप्रसाधन' कहते थे। मथुरा-संग्रहालयमें रखे एक चौखटपर उत्कीर्ण चित्रावलियोंके एक पूर्णांग चित्रमें 'वेणीप्रसाधन' देखा जा सकता है। भरहुत तथा मथुराके कतिपय प्रदर्शनीय वस्तुओंमें 'प्रसाधिका' और शृङ्गार-पेटिकाकी मूर्तियाँ देखनेमें आ सकती हैं। भारत-कला-भवन, बनारसके संग्रहमें सुरक्षित एक रेलिंग-स्तम्भ पर उत्कीर्ण[६] सुन्दरतापूर्वक बनी भास्कर्य मूर्तिमें इसका एक सर्वथापूर्ण नमूना देखनेमें आता है। यह प्रसाधिका एक 'पेटिका' लिए एक विचित्र भाव-प्रदर्शनके साथ खड़ी है जिसमें कदाचित् सुगन्ध-द्रव्य, पुष्प इत्यादि जैसी छोटी-मोटी वस्तुएँ रखी मानी जाती थीं।

शृङ्गारके सम्बन्धमें कालिदास तथा वात्स्यायनके बीच वर्णन-सादृश्य दिखलानेके लिए 'कामसूत्रों'का हवाला दिया जा सकता है। जी० पी० मजुमदारकी उक्ति है कि "एक नागरिक तथा उसकी पत्नीके वात्स्यायन-कृत जीवन-वर्णनमें शृङ्गारकी कला या कलाओंका एक साकार व्यक्तीकरण दृष्ट हो सकता है।"

"एक नागरिकके शृङ्गारकी पहली वस्तु है अनुलेपन—साधारणतः अच्छी चन्दन-लेप या एक प्रकारके मोटी गन्धवाले द्रव्योंसे बनी वस्तु (अच्छीकृतं चन्दनमन्यद्वानुलेपनम्)। पश्चात् वह अगुरुके सुगन्धमय धूममें अपने वस्त्रोंको सुगन्धित करता है, और अपने सिरपर पुष्प-माल धारण करता है या उसे गलेमें लटकाता है। वह दूसरे सुगन्ध-द्रव्यों (सौगन्धिकाः) का प्रयोग करता है, और इसके लिए सुगन्ध-द्रव्योंकी

१ माल०, पृ० ५०, ३.१३; शाकु०, पृ० १२६; विक्र०, १; कुमा०, ७.१३-३०। २ रघु०, १७.२२। ३ वही, ७.७; कुमा०, ७.२०। ४ विक्र०, ४.१२१। ५ माल०, ३.५। ६ न०, १००।

एक पेटी (**सौगन्धपुटिका:**) तत्पर रहती थी । वह विविध द्रव्योंका बना अंजन अपनी आँखोंमें लगाता । अपने अधरोष्ठमें वह आलक्तक (**आलक्तकं विशिष्टरागार्थम्**) लगाता और तब रंगको पक्का करनेके लिए (**सिक्थकमालक्तकम्**) उनको लाक्षासे रगड़ता । फिर वह अपनेको दर्पणमें देखता है (**दृष्ट्वादर्शे मुखम्**), पानके बीड़े चबाकर मुखको सुगंधित करता है (**गृहीतमुखवासताम्बूल :**), और फिर अपने कार्य करने चला जाता है (**कार्याण्यनुतिष्ठेत्**) । वह क्षौर करता है (**आयुष्यम्**) और स्नान-कालमें अपने अंगोंको मल-रहित करनेके लिए वह एक साबुनके सदृश वस्तु (**फेनका:**) का प्रयोग करता है ।"[1]

—:o:—

१ साधारणमधिकरणम्, ४.५ और ६ पृ० १२०–२१ : स प्रातरुत्थाय कृतनियतं कृत्यः गृहीतदन्तधावनः मात्रयानुलेपनं धूपं स्रजमिति च गृहीत्वा दत्त्वा सिक्थकमलक्तकं च दृष्ट्वादर्शे मुखे गृहीतमुखवाससताम्बूलः कार्याण्यनुतिष्ठेत ।। देखिये चक्लदर, सोशल लाइफ, पृ० १५६–१५७ ।

अध्याय ११

सामाजिक व्यवहार और दूसरे सामाजिक प्रसंग

सामाजिक व्यवहार

कालिदास केवल बातचीतसे[1] (सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुः) उत्पन्न मनुष्यके आपसके सम्बन्धके होनेका उल्लेख करते हैं। इस प्रकार दो व्यक्तियोंके बीच होनेवाली भी पूर्वकी वार्ता सब प्रकारकी मित्रताकी जड़ होती है। इसमें समाजका उदय होता है। समाज ऐसे लोगोंसे बनता है जो या तो समाजमें बड़े–बराबर या छोटे होते हैं। कालिदास घटनावश इनके आपसके व्यवहारका संकेत कर जाते हैं। समाजका एक छोटा व्यक्ति जब अपनेसे बड़ेसे मिलता है तो उसके लिए बड़ेको अभिवादन करना आवश्यक है। सामान्यतः वह अपने बड़ेको अभिवादन करते समय अपना सिर झुका लेता है जिसको प्रणामक्रियासे[2] सम्बोधित किया जाता था। अभिवादन करनेवाला अभिवादन करते हुए प्रायः 'प्रणाम',[3] 'वन्दे'[4] या 'नमस्ते'[5] शब्दका उच्चारण करता था। आचार्य,[6] माता[7] या पिता[8] को अभिवादन करनेवाला अपने आदरणीय बड़ोंका चरण-स्पर्श[9] या साष्टांगपात करता था। बड़े और ज्येष्ठ अपने आशीर्वाद[10] (आशिषम्) देकर ऐसे अभिवादनोंको लौटाते थे। इस प्रकारके आशीर्वादोंके अनेक

---

१ रघु०, २.५८। २ वही, ६.२५। ३ वही, १४.१३, ६०, १५.१४; कुमा०, ३.६२। ४ रघु०, १३.७२, ७७, १४.५, ७१। ५ माल०, पृ० ६७। ६ प्रणिपत्य पादयोः रघु०, ८.१२, ११.८६, १३.७०, १४.२, ६०; शाकु०, पृ० १४५। ७ रघु०, १.५७। ८ वही, ११.७; कुमा०, ७.२७। ९ रघु०, ११.४, ५। १० वही, ११.६, ३१; कुमा०, ६.९०; विक्र०, पृ० १३७ आयुष्मान्।

रूप थे; जैसे, एक तापस राजाको आशीर्वाद देता कहता 'चक्रवर्तिनं पुत्रमाप्नुहि'[1] (आपका पुत्र चक्रवर्ती होवे) और राजा इस आशीर्वाद को शिरोधार्य करता हुआ कहता 'प्रतिगृहीतम्'[2] (उपकृत हूँ)। वयस्का महिलाएँ एक कुमारीके अभिवादन करने पर कहतीं 'अनन्यभाजं पतिमाप्नुहि'[3] (तुममें पूर्ण रूपसे आसक्त पति तुमको प्राप्त हो) और एक वधूको आशीर्वादमें उनके मुखसे निकलता, 'अखण्डितं प्रेम लभस्व पत्युः'[4] (तुम्हारे पतिका तुममें अनन्य प्रेम हो)। सीता अपने चरणों पर पड़े लक्ष्मणको उठाती है और उसको यह कहती हुई विदा देती हैं--- 'प्रीतास्मि ते सौम्य चिराय जीव'[5] (हे सौम्य, मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, चिरंजीवी होवो)। किसी तपस्वीके आश्रमसे जाते समय शीलवान् व्यक्ति उस तपस्वी और उसकी पत्नी और उनके साथ पूजित अग्निकी[6] भी प्रदक्षिणा करते थे। बड़े छोटोंको विदा देते आशीर्वाद करते---'शिवास्ते पन्थानः सन्तु'[7] (तुम्हारा मार्ग निर्विघ्न हो)। जब भाई-भाई या बराबरी वाले आपसमें मिलते तो वे साधारणतः एक दूसरेका आलिंगन[8] करते या हाथ मिलाते[9] थे। दूर रहने वालोंको प्रेम और हित-कामना (योग क्षेम) के शब्द भेजे[10] जाते थे।

जब कभी किसी वयोवृद्ध या समाजके श्रेष्ठ पुरुषसे वार्तालाप करना होता था तो वार्ता करनेवाला आगेकी ओर थोड़ा झुक जाता और नम्रतापूर्वक[11] कुछ चुने हुए वाक्योंका प्रयोग करता था। कोई निवेदन करते समय अपने बड़ोंसे[12] कुछ कहनेके पूर्व छोटा अपने हाथ जोड़ लेता।

---

१ शाकु०, पृ० २१। २ वही। ३ कुमा०, ३.६३। ४ वही, ७.२८। ५ रघु०, १४.५९। ६ वही, २.७१। ७ शाकु०, पृ० १४८। ८ रघु०, १३.७३। ९ परस्परं हस्तौ स्पृशतः विक्र०, पृ० २१। १० माल०, पृ० ६८। ११ रघु०, ५.३२। १२ वही, २.६४।

विवाहसे पारिवारिक बन्धन उत्पन्न होते हैं। पारिवारिक प्रेमके बहुत ही कोमल बन्धनका वर्णन हमें पढ़नेको मिलता है। क्योंकि पुत्रोत्पत्ति बड़े महत्त्वकी सामग्री समझी जाती थी वह स्वाभाविक रूपसे सबसे अधिक स्नेहका पात्र होता था। जब शिशु घुटनोंपर दौड़ने लगता और फिर जब अपनी दाई[1] (धात्री)[2] के सहारे वह खड़ा होकर चलने लगता तो पिताकी आँखोंके लिए यह एक दृश्य प्रकट हो जाता। जब वह तुतला कर अपने सर्वप्रथम[3] अस्फुट शब्दोंका उच्चारण करता और अपने पिताकी गोदमें अस्थिर होकर बैठता तो उसका स्पर्श पिताके लिए कितना आनन्द-दायक[3] होता। यही कारण है कि पुत्रवियोग कठोर हृदय राजाओं[4]को भी कष्टकर था और उनमें भी बहुतोंकी आँखोंसे आँसू निकल पड़ते थे। माता-पिताके जीवन-कालमें पुत्रकी मृत्यु उनके प्राण[5] निकाल लेती थी। दाय और श्राद्धकी दृष्टिसे पुत्रीका कोई वैसा महत्त्व नहीं था फिर भी उसको अपने माता-पिता, भाइयों और दूसरे सम्बन्धियोंका प्रचुर स्नेह प्राप्त होता था। वह दूसरे[6] कुलकी समझी जाती थी जहाँ वह पत्नी रूपमें जा मिलती थी और उसको अपनेसे अलग करते समय उसके माता-पिता रुदन[7] करने लगते थे। शाकुन्तल चतुर्थ अंक ऐसे उल्लेखोंसे भरा पड़ा है। एक परिवारके दूसरे सदस्योंने छोटे-बड़े भाइयों—एक दूसरेको स्नेहसे प्यार करनेवाले, बहनें जिनकी चिन्तामें भाई लगे रहते हैं, पुत्र वधुएँ जो सास-ससुरकी प्यारी होती हैं, पति-पत्नीका आदर्श सम्बन्ध, भ्रातृव्यों, मातृ और पितृकुलोंके सम्बन्धियों, पितृव्यों और पिता-पुत्र के बीचका प्रेम और माता और पुत्रका स्नेह इन सभीके बारेमें हमें उल्लेख मिलता है।

पारिवारिक सम्बन्ध

---

१ वही, ३.२५। २ प्रथमोदितं वचो वही। ३ वही, २६। ४ वही, ११.४। ५ रघु०, ६.७८। ६ अर्थो हि कन्या परकीय एवं शाकु०, ४.२१। ७ वही, ०१३३, १३६; कुमा०, ६.९२।

राजाओं और अधिनायकोंके शिशुओंकी देख-रेख धात्रियाँ[1] करती थीं जो उनको दूध पिलातीं, खिलातीं और चलने-बोलनेको[2] सिखाती थीं।

जब कोई अतिथि आता था तो उसका अपूर्व सत्कार होता था। उसे देवताकी प्रतिष्ठा प्राप्त होती और वास्तवमें वह पूजित[3] (अर्चयिता) होता था। उसके पैर[4] धोनेके लिए जल दिया जाता और पश्चात् उसे एक बेंतकी बनी चौकी[5] पर आसीन होनेके लिए निवेदन किया जाता। फिर उसका देवताओं, आदरणीय पुरुषों या जामाताओं[6] के योग्य अक्षत, मधु, दूर्वा आदिके मंगलमय अर्घ्योंसे[7] पूजन होता था। राजाओं, अधिनायकों और ऋषियोंके सदृश भी अतिथि होते थे जिनका आतिथ्य विशेष ध्यान और सम्मानके[8] साथ किया जाता था। यदि कोई पुराना परिचित या मित्र आ पहुँचता तो उसका भी योग्य स्वागत होता। हम पढ़ते हैं कि यक्षने अपने मेघ मित्रका स्वागत मधुर और सुकोमल शब्दोंमें किया और उसने अर्घ्य तथा कुटजपुष्पोंकी[9] भेंट दी।

आतिथ्य-सत्कार

अपने आचार्य और अमात्योंके साथ चलते समय राजा, आचार्यकी योग्य प्रतिष्ठाका अधिक ख्याल रखता था और उसको आगे-आगे चलनेकी प्रार्थना करता, उसके पीछे स्वयं राजा और राजाके पीछे उसका अमात्य[10] होता। वयोवृद्धोंकी बड़ी प्रतिष्ठा थी और कुलीन लोग अपने बड़ोंकी आज्ञाकी आलोचना[11] या उसपर कोई प्रश्न नहीं करते थे। विनय[12] या अनुशासन एक बड़ा गुण समझा जाता था और यहाँ तक कि राजा भी

---

१ रघु०, ३.२५। २ वहीं। ३ रघु०, १.५५, ५.३, ११.३५; कुमा०, ५.३१, ३२। ४ शाकु०, पृ० ३७। ५ कुमा०, ६.५३। ६ रघु०, ११.६९, १३.६६, ७०; कुमा०, ६.५०; शाकु०, पृ० ३७.४६; विक्र०, पृ० १३७। ७ रघु०, ७.१८; कुमा०, ७.७२। ८ अतिथि-विशेषलाभेन शाकु०, पृ० ३७, ४६, १५६ २२; रघु०, ५.२, १४.८२। ९ मेघ० पू० ४। १० रघु०, १३.६६। ११ वहीं, १४.४६। १२ वहीं, ३.३४।

अपनेसे छोटोंपर घृणाकी दृष्टि डालनेकी धृष्टता नहीं करता था और छोटोंसे नम्रशब्दोंमें बोलता था।[१] यह उसकी विनयशील शिक्षाका फल था।[२]

कविकालके समाजके पास नाटकशाला और मदिरा भी था जिससे उसने स्वभावतः अपने मनोरंजनकी वस्तुओंमें ग्रीस-निवासियोंकी रुचि उत्पन्न कर ली थी। मनोरंजनकी मुख्य वस्तुएँ थीं मदिरा और फूल। लम्बी पुष्प-मालाएँ और नाना प्रकारके वेश-विन्यास नारियोंके सौन्दर्य को बढ़ाते थे। संगीत जिसका अध्ययन और अभ्यास उच्चकोटि तक पहुँच गया था, मालविकाग्निमित्र[३] में बड़े ऊँचे दर्जेमे प्रदर्शित हुआ है। विविध प्रकारके अभिनयों[४]को रंग-भूमिमें लानेका योग्य अवसर वसन्तोत्सव समझा जाता था और इस अवसर पर चारों ओर मदिरापान किये हुए लोग आनन्दोत्सव मनाते दिखाई पड़ते थे। महिलाएँ सामान्य तालाबोंमें सुखपूर्वक स्नानका अभ्यास करती हुई बच्चों-सी उत्कंठा प्रकट करती थीं जो आपत्ति जनक-सी प्रतीत होती थी। वे अपने करतलोंसे जलपर मृदंगध्वनि-सी ध्वनिका सृजन करती थीं।[५] नगरवासिनी प्रसन्नवदना नारियाँ पुष्पचयनकी अभ्यासी थीं और उनको प्रचुरतासे अपने शृंगारके उपयोगमें लाती थीं। यह श्लोक मुख्य है क्योंकि यह एक ऐसे वातावरण को प्रकट करता है जिसमें प्रसन्नतामें पगे नागरिक सुख भोगकी ओर बढ़ रहे थे। हम लताकुंजोंमें[६] निर्मित पुष्पपत्रोंकी शैयाका वर्णन पढ़ते हैं। जब कोई राजा राज्यकार्य अपने मंत्रियोंपर छोड़कर दुराचारी हो जाता और 'मैथन' तथा मदिराका दास बन जाता, वह कामुक हो स्त्रीसेवी बन जाता, प्रत्येक आनन्दोत्सव एकसे एक बढ़कर होने लगता। राजप्रासाद मृदंगवादनसे प्रतिध्वनित होने लगता।[७]

मनोरंजन

---

१ वहीं, २५। २ वही, उसे भी; १०.७९। ३ अंक १ और २। ४ माल०, पृ० २। ५ मेघ० पू०, ३३; रघु०, १६.६४। ६ रघु०, १९.२३। ७ वहीं, ५।

दूसरा सर्वसाधारणका मनोरंजन था पिचकारीसे[1] रंग-बिरंगे पानी को छोड़ना। द्यूत[2] इसी प्रकारका एक आकर्षक खेल था जिसकी ओर बहुत-से लोग खींच जाते थे। बालक और बालिकाएं[3] ऐसे कंदुकोंसे[4] खेलते थे जिनको हाथसे[5] मारनेसे वे उछल पड़ते थे।

आनन्द मनानेका एक सामान्य वस्तु दोला थी[6] जिसका आनन्द सभी लोग विशेषकर स्त्रियां उससे गिरनेसे[7] भयपर बिना ध्यान दिये हुए आनन्द लेती थीं। झूलाके लिए दोला शब्दका प्रयोग हुआ है और नीचेके उद्धरणमें दोलाधिरोहणका अर्थ है झूलेपर चढ़ना। महारानी इरावती कहती हैं 'मैं महाराजके साथ दोलारोहणका आनन्द लेना चाहती हूँ।'[8] उपर्युक्त उद्धरणसे जैसा विदित होता है धनी लोगोंकी अट्टालिकाओंके साथ लगे आनन्दोद्यानोंमें दोलारोहणका नियमित रूपसे आनन्द लिया जाता था। दूसरे उद्धरणसे पता चलता है, झूलोंवाले[9] कमरे थे और दूसरे प्रकारके खेल-कूदके[10] सामानवाले भी (लीलागारेषु)।

कहानी सुनाना लोगोंके लिए अन्य प्रकारका मनोरंजन था, जो संध्यामें गाँवके प्राचीन रोमांचक आख्यानोंके कहनेमें निपुण बड़े-बूढ़ोंके चारों ओर घेरकर एकत्रित होते थे और रोचक कथाओंको[11] कान लगाकर सुनते थे। राजाके शिकारका वर्णन दिया जा चुका[12] है। 'शाकुन्तल' से हमें विदित होता है कि आखेटमें राजाके साथ धनुर्बाण लिये ग्रीक अंग-रक्षिकाएँ यवनियाँ रहती थीं जो पुष्प-माल-विभूषिता[13] होती थीं। जैसा कि अन्यत्र लिखा गया है, कौटिल्य राजाके लिए आवश्यक समझता है कि

---

१ वर्णोदकैः काञ्चनशृङ्गमुक्तैः वही, १६.७०। २ वही, ६.१८। ३ माल०, पृ० ८५। ४ वही, रघु०, १६.८३; कुमा०, १.२९। ५ रघु०, १६.८३। ६ वही, ११.४६, १९.४४; माल०, पृ० ३९, ४१, ४७, ४८, ४९। ७ माल०, पृ० ४१, ४९। ८ वही, २। ९ वही, पृ० ४७, ४८। १० रघु०, ८.९५। ११ मेघ० पू०, ३०। १२ पृ०, १९४-१६। १३ शा कु० ५७।

उसे आखेटके समय धनुष और बाण लिये अंगरक्षिकाओंसे घिरा रहना चाहिए। मेगस्थनीजने[१] इस प्रथाको मगधके राजपरिवारमें प्रचलित देखा था।

पिछले पृष्ठोंमें वर्णित सामाजिक परिस्थितियोंमें प्रकृतितया यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समाजकी नैतिकता बिलकुल ऐसी नहीं थी जिसपर कोई उँगली नहीं उठा सके, तथापि

नैतिकता

हम वर्णनमें आये लोगोंको पवित्र धर्मशास्त्रोंसे विहित धर्म-मार्गके[२] साथ चलते पाते हैं और स्वयं राजा भी उस मार्गका उल्लंघन नहीं करता, वह वर्णाश्रम-धर्मके[३] पालनकी रक्षा करता है और आकस्मिक अपराधियोंको[४] दण्ड देता है। यही कारण है, जिससे धर्मात्मा पुरुषोंको उनके सार्वजनिक आनन्दोल्लास और मद्यपानके साथ मेल बैठाना स्पष्टतया कठिन दीख पड़ता है।

हमें गणिकाओं[५] तथा वेश्याओंके[६] अनेक संकेत मिलते हैं, जो पुत्र-जन्मोत्सव[७] और दूसरे ऐसे ही अवसरोंपर गाने-नाचनेके काममें लायी जानेवाली निपुण गीतज्ञाएँ तथा नर्तकियाँ होनेपर भी, समाजकी दुराचारिणी स्त्रियाँ थीं। नीचगिरिकी गुहाएँ वेश्याओंके[८] सुगन्धलेपान्वित अंगोंसे सुगन्धित होती हुई संकेतित होती हैं, जो नगरके पथभ्रष्ट युवकोंके साथ उनमें मिला करती थीं। उज्जयिनीके महाकाल देवालयमें अपने हाथोंमें चामर ले नृत्य-परायणा थीं।[९] अपने विविध गुणों और महाकाल-देवालय में अपने आकर्षक भाव-भंगिमा को प्रदर्शित करती हुई वेश्याओंकी नियुक्ति ध्यान देने योग्य है। शिवालयका नृत्य श्रावण मासमें शिवकी प्रतिष्ठा

---

१ मैकक्रिंडल्स, एन्सेण्ट इंडिया ऐज डेपिक्टेड बाई मेगास्थनीज एंड एरियन, पृ० ७२। २ रघु०, १.१७। ३ वही, ३.२७, ५.१९, १४.६७; शाकु०, पृ० १६२। ४ रघु०, १५.५१। ५ ऋतु०, २.५; मेघ० पू०, ८.३५। ६ मेघ० पू०, २५। ७ रघु०, ३.१९। ८ मेघ० पू०, २५। ९ वही, ३५।

में आजकल उत्तर भारतमें होनेवाले नर्तनके सदृश ही था। सम्भव है दक्षिण भारतके देवालयोंकी देवदासी-प्रथाका आविर्भाव देवमन्दिरोंमें वेश्याओंके रखे जानेसे ही हुआ हो।

अभिसारिकाओंके संकेत[1] समाजमें उनकी विद्यमानता सूचित करते हैं। एक पद्य कहता है, जिस राजपथसे होकर अभिसारिकाएँ चलती थीं, जिनके नूपुरोंसे अस्पष्ट संगीतका संचार होता और पथ-प्रान्त आलोकित हो जाते, उसपर आज शृगाल घूम रहे हैं।'[2] प्रणयी-जनोंके मिलनेके गुप्त स्थानोंके हवाले भी आये हैं।[3] जैसा कि मालविकाग्निमित्रमें वर्णन है। इस प्रकारका संकेतगृह अशोक वृक्षके चारों ओर बनाया हुआ एक बरामदा था जिसपर छत लगी थी।[4] संकेत-गृहोंमें प्रेमी-प्रेमिकाओंके मिलनमें शीघ्रता लाने तथा प्रेमकी पराकाष्ठापर प्रणय-व्यापारको द्रुततर गतिसे पहुँचानेवाली दूतियोंकी[5] कमी नहीं थी। इसी प्रकार शठ[6] या छली प्रणयियोंकी विद्यमानता थी जो देखनेमें तो अपनी पत्नियोंको प्यार करते थे किन्तु गुप्त रीतिसे दूसरी हृदयेश्वरियोंके साथ संभाषणपरायण थे। शाकुन्तल' और कुमारसम्भव' से प्रेम-पत्रोंके[7] विनिमयका पता चलता है।

यह एक युग था जब वात्स्यायन' के 'कामसूत्र' प्रेमसे पढ़े जाते, उनकी प्रशंसा होती और वे प्रमाण-स्वरूप उपस्थित किये जाते जो कालिदास-द्वारा उनके असंख्य अप्रत्यक्ष संकेतोंसे निष्कर्षित हो सकते हैं। कवि

---

१ वहीं, ३७; रघु०, १६.१२, १७.६६; कुमा०, ६.४३; ऋतु०, २.१०। २ रघु०, १६.१२। ३ शाकु०, ३.२३; माल०, पृ० ६३। ४ माल०, अंक ३। ५ वहीं, ३.१४; रघु०, ६.१२, १८.५३, १९.३३। ६ रघु०, १९.३१। ७ कुमा०, १.७३; शाकु०, पृ० ६७, ३.२३। ८ रघु०, ६.१२–१९, ८१, ७.२२। टीकाकार द्वारा वात्स्यायनका उल्लेख, ८.७, ९.३१, ३२, ३४, ३८, ३९, ४६, ४७, १६.१२, १७.६६, १८.५३, १९.६, १८, २३, ३२, ३३; कुमा०, ३,८,४.१६, ६.४३, ४५, ८.१-१२, १६, २१, २९, ५१; ऋतु०, २.१०; माल०, पृ० ३७, ३९, ५३, ८४, ३.१४, ४.१४, १५; शाकु०, १.२१।

अपने प्रेम और अन्य काम-भावोंके वर्णनमें स्वतन्त्रतापूर्वक वात्स्यायनका अनुसरण करता है। इस प्रकारके संदर्भोंसे रघुवंशका ६ठाँ, ९वाँ तथा १९वाँ और कुमारसम्भवका ८वाँ सर्ग भरा पड़ा है।

चोर और डाकू अज्ञात नहीं थे और हमें कालिदासके ग्रन्थोंमें उनके अनेक पर्याय मिलते हैं।

तथापि समाजके निर्माणमें ऐसे व्यक्तियोंका आधिक्य था जो धर्म-मार्गपर चलनेवाले धार्मिक व्यक्ति थे। सती-साध्वी पत्नियाँ अपने पतिकी अनुपस्थितिमें विविध शृङ्गार तथा हर्षके समस्त साधनोंका परित्याग कर देती थीं। वे अपने पतिके[1] अतिरिक्त किसीपर दृष्टिपात नहीं करतीं और उनके निवास-गृहको शुद्धान्त,[2] यानी पवित्र तथा निष्पाप हर्म्यका नाम देनेके औचित्यमें तनिक भी न्यूनता न थी। पतिके लिए अपने अत्यन्त प्रेमके कारण असंख्य विधवाएँ[3] उनकी चिताओंपर आत्म-विसर्जन कर देती थीं। दूसरेकी पत्नीकी ओर देखना एक पुरुषके लिए पाप था;[4] उसका अंग स्पर्श[5] एक ऐसा पाप था जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं। कुशके व्यक्तित्वसे स्त्रीके समक्ष पुरुषका उचित व्यवहार उदाहृत होता है जो राजश्री लक्ष्मीके स्त्रीवेशमें आनेपर चौंक पड़ता है और कहता है कि रघुवंशी अन्य-स्त्रीके रूपपर अणुमात्र भी विचलित नहीं होते।[6] पर-धन भी इसी प्रकार सम्मानित था और दिलीपको वशिष्ठकी गौ जब अपने स्वामीकी आज्ञा बिना पीनेको दूध देती है तो वह उसको पीना स्वीकार नहीं करता।[7]

औपकरणके सम्बन्धमें हम अनेक भाँतिके उपवेशनोंका उल्लेख पढ़ते हैं, यानी राजसिंहासन, उच्चासन और आलिंदक, शय्या, पेटिका इत्यादि। सिंहासन[8] राजाका राज्यासन था जो स्वभावतया

१ रघु०, ७ ६७। २ वही, ३.१६, ६.४५। ३ कुमा०, ६.२०, ३३। ४ शाकु०, पृ० १६४, ५.२८। ५ वही, ५.२९। ६ रघु०, १६.६–८। ७ वही, २.६६। ८ वही, ६.६।

बहुमूल्य था और रत्नखचित[1] सुवर्णका बना था। टी० ए० गोपीनाथ राव उसकी व्याख्या करते हैं, 'एक हाथ ऊँचा चतुष्पाद वृत्ताकार या आयताकार उपवेशन,[2] इस उपवेशनके चारों पद चार छोटे-छोटे सिंहोंके बने थे। अमूल्य पत्थरों[3] तथा सुवर्णके अन्य[4] आसन भी थे जो अवश्य ही धनपतियोंकी सम्पत्ति थे।

औपकरण तथा अन्य गृह सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ

हाथीदाँतके[5] बने और श्वेत आवरणसे ढंके सुन्दर आसनोंके पाठ भी हमें मिलते हैं। भद्रपी[6] या भद्रासन अन्य प्रकारका एक आसन है जिसके सम्बन्धमें गोपीनाथ राव कहते हैं, "जिसकी ऊँचाई सोलह भागोंमें विभक्त होती है, जिनमें एक अपान या आधार स्तरकी मोटाई है, जगती या बादके ऊँचे स्तरके चार, कुमुदके तीन, पट्टिकका एक, कंथके तीन, द्वितीय पट्टिकका एक, अधिक चौड़े महापट्टिकके दो और शीर्षस्तर घृतवारिका एक (देखिये, प्लेट ६, आकृति ६)। भद्रपीठ वृत्ताकार या आयताकार हो सकता है।"[7] 'वेत्रासन'[8] वेंतके बने हुए आसन थे और हम मथुरा-संग्रहालयके एक प्रदर्शनमें मूर्त इस प्रकारकी वेंतकी बीनी कुर्सीका उदाहरण पाते हैं। डा० पी० के० आचार्य कहते हैं "सम्भवतः पीठिका[9] या पीठ पि-सद् (ऊपर बैठनेके लिए) का अपभ्रंश है, अतएव इसका अर्थ है तिपाई, आसन, कुर्सी, सिंहासन, पीढ़िका, वेदी।"[10]

औपकरण

---

१ वही। २ दी हिन्दु इकोनोग्राफी, भाग १ खण्ड १, पृ० २१। ३ रघु०, ७.२८; विक्र,० पृ० १३०। ४ रघु०, ६.४। ५ वही, १७.२१। ६ वही, १०। ७ दी हिन्दु इकोनोग्राफी, भाग १, खण्ड १, पृ० २०। ८ कुमा०, ६.५३। ९ माल०, पृ० ६६। १० ए डिक्सनरी आफ हिन्दु आर्चियोलौजी, पृ० ३४९।

'विष्टर'[1] भी एक सम्मान्य आसन था, राज-परिवारके योग्य एक उच्चासन जैसा कि उस संदर्भसे प्रतीत होता है जिसमें इस शब्दका प्रयोग हुआ है। इनके अतिरिक्त वेंचें और ऊँची खाटें भी थीं। मंच[2] वेंच था। डा० आचार्य उसको कहते हैं 'एक खाट, शोफा, बिछावन, कोच, कुर्सी सिंहासन, मच, उच्चासन।'[3] इन मंचोंकी एकके ऊपर दूसरी उठी हुई गैलरोंके समान बनावटें भी थीं जिनमें पंक्तियोंके मध्य, घुड़दौड़ भूमिके सदृश, चलने-फिरनेकी जगह थी। तल्प[4] ऊँची खाट थी और वही पर्यंक[5] भी। डा० आचार्यका कहना है कि पर्यंक नौ प्रकारके थे जैसा कि वे दो-दो अंगुल बढ़ते हुए २१ से ३७ अंगुल[6] चौड़ाई तकके हो सकते हैं। "जिन उपादानोंसे खाट और आस सामान्यत: बनाये जाते हैं विविध प्रकारके काष्ठ हैं।"[7] बिछावना या खाटका आवरण शय्या[8] था। उक्त समस्त आसनादि आवरणोंसे युक्त होते थे जो हंसके सदृश श्वेत थे।[9] आवरणके लिए उत्तरच्छद'[10] तथा आस्तरण'[11] शब्दोंका प्रयोग है। 'उत्तरच्छद' शय्यावरण होता प्रतीत होता है क्योंकि इसका उल्लेख मुख्यत: बिछावन या लम्बे आसनके साथ हुआ है जब कि 'आस्तरण' कुर्सी, गद्दे आदिके आवरणके लिए था। छतकी चाँदनीका भी संकेत है जिससे सज्जा की घंटियाँ[12] लटकायी जाती थीं।

घरेलू बर्त्तनोंमें बहुमूल्य द्रव्यों[13] और सुवर्णके[14] बने पात्रों और धातु[15] के तथा मृन्मय तस्तरियोंके उल्लेख मिलते हैं। धनी-गृहोंको बहुमूल्य

१ विक्र०, पृ० १३८; कुमा०, ७.७२। २ रघु०, ६.१-३। ३ ए डिक्शनरी आफ हिन्दु आर्चियोलाजी, पृ० ४६१। ४ रघु०, ५.७५, १६.६। ५ वही। ६ इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ६२। ७ ए डिक्श० आफ हिन्दु आर्चि०, पृ० ३४६। ८ रघु०, ३.१५, ५.६५, ७२। ९ कुमा०, ८.८२। १० रघु०, ५.६५, १७.२१; कुमा०, ८.८६। ११ रघु०, ६.४। १२ मेघ० उ० ७। १३ कुमा०, ८.७५; रघु०, ३. ३६, १०.५१: १४ रघु०, २.३६, १०.५१। १५ वही, ५.२।

वर्त्तन सुशोभित करते और मध्यमवर्गीय घरोंकी शोभा मिट्टीके पात्र बढ़ाते। 'कुम्भ'[१] एक बड़ा घड़ा था जो पानी रखनेका एक बड़ा पात्र था। इसी कामसें लाया जानेवाला 'घट'[२] एक छोटा पात्र था।

घरके आवश्यक औपकरणमें संदूक भी थे और उनका 'मंजूषा',[३] 'करण्डक'[४] और 'तालवृन्तपिधान'[५] विविध नामोंसे संकेत है। डा० आचार्यने मंजूषाको 'बाक्स',[६] कहकर व्याख्या की है। अलकार रखने की पेटिकाके सम्बन्धमें कालिदासने इसका निर्विशेष संकेत किया है। 'करण्डव' एक टोकरी था जो शृङ्गारकी वस्तुओंको ले जानेके काम आता था। 'तालवृन्तपिधान' उसी प्रकारकी टोकरी[७] था। मंजूषा इन तीनोंमें सबसे बड़ी थी। डा० आचार्य इसके तीनों प्रकारोंका सविस्तार वर्णन करते हैं। वे कहते हैं, यह काष्ठ या लोहेकी वर्गाकार, आयताकार या वर्तुलाकार होती थी और साधारणतया इसमें तीन खाने लगे होते थे। इसके तीन प्रकारोंके उपयोगानुसार पृथक्-पृथक् नाम थे—'पर्णमजूषा', 'तालमंजूषा' तथा 'वस्त्रमंजूषा'[८]।

इनके अतिरिक्त दीप[९] ताड[१०] और कमल या कमलिनीके पत्तोंके[११] पंखे और कपड़ेके[१२] तम्बू जैसे दैनिक उपयोगकी मिश्रित वस्तुएँ थीं। धूप और वर्षासे त्राण देनेवाला छाता[१३] भी दैनिक उपयोगका पदार्थ था।

---

१ वही, २.३६, ५.६३, ६.७३, ७५.७६। २ वही, १४.७८, १३.३४; शाकु०, पृ० २५, ४७। ३ माल०, पृ० ७३, ८७, १०४। ४ शाकु०, पृ० २१७। ५ विक्र० पृ० १२१। ६ ए डिक्शनरी आफ हिन्दु आर्चियोलोजी पृ० ५. ४६३। भट्टिप्रोलु लेख में क्षुद्रपेटिकाके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग हुआ हैं सं० १, ४, ७, एच० इ०, ७ पृ० ३२६. ३२९। ७ ए डिक्ट, ऑफ हिन्दु आर्च०, पृ० ११४। ८ इण्डियन आर्चिटेक्चर, पृ० ६९। ९ रघु०, ५.३७, ७४; मेघ० उ०, ५; शाकु०, ३.२.३। १० कुमा०, २.३५। ११ रघु०, ४.७४। १२ शाकु०, ३.१८। १३ आतपत्रं वही, ५.६।

प्रत्येक गृहमें भण्डार-घर[१] था जिसमें घरकी विविध प्रकारकी वस्तुएँ रखी जाती थीं।

स्थलपर अश्वों तथा गजों और जलमें नौकाओंके[२] अतिरिक्त हम सवारियोंमें 'स्यन्दन'[३] 'चतुरस्रयानम्'[४] और 'कर्णीरथ'[५] को पढ़ते हैं और ऊँट,[६] खच्चर[७] तथा बैल[८] जैसे भारवाही पशु हैं। 'स्यन्दन' प्राचीनकालका रथ था जो युद्धमें प्रयुक्त होता था और कालिदास-कालमें इसका सर्वथा अभाव होगा। 'चतुरस्रयान' पालकी था जिसको चार आदमी ढोते थे। वाहनका सामान्य नाम 'यान' था। अदिक, स्यन्दन, शिविका और रथसे[९] बनी वस्तुके चार भेदोंमें यह एक था। भाष्यकार ने जैसी व्याख्या की है, 'कर्णीरथ' महिलाओंके लिए एक छोटा रथ था (स्त्रीयोग्यो ह्यकरथः)।

लोगोंके लिए उद्यान आवश्यक थे क्योंकि इन्हींसे उन्हें शृङ्गार तथा सज्जाकी परम विशिष्ट वस्तु पुष्पकी उपलब्धि होती थी। मुनि-कन्या तथा राजमहिषी दोनोंको पुष्पकी आवश्यकता थी, मुनिकन्याओंका तो यही एकमात्र आभूषण था और राज-महिषीके केश-पाशको सौंदर्य भी इसीसे मिलता था। अतः औद्यानिक कलाका अभ्यास होता और उद्यान-व्यापार[१०] गृहस्थीकी एक प्रिय वस्तु हो गया था।

उद्यान-व्यापार

हमें दो प्रकारके उद्यानोंके उल्लेख मिलते हैं, यानी, एक भवन या राजप्रासादसे[११] लगा लोक-प्रसिद्ध प्रमदवन'[१२] और दूसरा सार्वजनिक[१३]

---

१ माल०; पृ० ६३, ६४। २ रघु०, १.३६, ३९, ४०। ३ वहीं, ६.१०। ४ वहीं, १४.१३। ५ वहीं, १.४, ४.३१, १४.३०, ५२, १६.५७, ६८, १७. ८१, शाकु०, पृ० २१९। ६ रघु०, ६.३२। ७ बाकी वहीं,। ८ वही, ४.२१। ९ ए डिक्ट. ऑफ हिन्दु आर्च० पृ० ५१७। १० माल०, पृ० ३५। ११ गृहोपवन रघु०, १९.२३; माल०, पृ० ३५, ८६; विक्र०, ़० ३४। १२ माल०, पृ० ३९, ४०; शाकु०, पृ० १९३, १९८; विक्र०; पृ० ३४। १३ मेघ० उ०, ८; रघु०, ८.३२, १३.७८ १४.३०; माल०, ५.१।

प्रकारका। पुष्पोद्यान और वाटिका[1] विशेषकर लगायी जाती थीं। कालिदासके अर्थमें एक उद्यानमें फूलके पौधे और फलके वृक्ष दोनों थे। उद्यानके[2] उपवन[3] आदि कई नाम थे। कालिदासके निवास-गृहके साथ उद्यान आवश्यक है। वात्स्यायनके 'कामशास्त्र' के अनुसार सभी सुन्दर गृहों और राजाओंके प्रासादोंके साथ विलासोद्यानका होना अनिवार्य है। वह कहता है, इससे लगा हुआ एक वृक्षवाटिका (या पुष्पवाटिका) या विस्तृत भूमिके साथ एक उद्यान सम्भवतः अवश्य होना चाहिए जहाँ फूलके पौधे और फलके वृक्ष उगाये जा सकें और शाक-भाजी भी उपज सकें—**तत् भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिकावद्विभक्तकर्मकक्षाद्विवासगृहं कारयेत्** ३, पृ० ११४। भूमिके मध्यभागमें कूप, तड़ाग या वापी खुदवाना चाहिए (**मध्ये कूपवापीदीर्घिका वा खानयेत्**)।"[4] उद्यान-व्यापार पर लिखे 'उद्यानविनोद' नामक निबन्धमें कहा गया है, वही राजा है जिसके प्रासादके साथ विस्तृत उद्यान हैं, जिनमें बड़े तड़ाग या झरने हैं, जिनमें मनोहर कमलके फूल खिल रहे हैं, जिनपर भ्रमर गुंजन करते हैं—पुरुषके लिए यह सब सुखोंकी चरम सीमा समझा जा सकता है और अपने सौंदर्यका गर्व करनेवाली क्रीड़ाशील तथा विलास-प्रिय स्त्रियोंके मनको अत्यन्त आह्लाद करनेवाला है।"[5] वात्स्यायन तथा सारंगधरने जैसा निर्देश किया है, उद्यानकी स्थिति तथा आवश्यकताको कालिदास-कालके उद्यान लगानेवाले अच्छी प्रकार ध्यानमें रखते प्रतीत होते हैं। प्रासादके

---

१ शाकु०, पृ० २५। २ मेघ० उ० ८, मेघ० पू०, २३। ३ कुमा०, २.३५, ३६। ४ चकलदरः सोशल लाइफ इन एन्शेण्ट इण्डिया, भूमिकामें उल्लेख पृ० १७, उपवन विनोद।

५ सा सर्वसुखे[illegible]

[illegible]।

गुञ्जद्भृंगविनिद्रपंकजभरस्फारोल्लसद्दीर्घिका

युक्ताः सन्ति गृहेषु यस्य विपुलारामाः स पृथ्वीपतिः।१।

भीतर सामान्यतः उद्यान लगाये जाते और उनमें उन वृक्षों, पौधों और लताओंमेंसे अधिकांश उपजते थे जिनका उल्लेख 'उद्भिद् तथा वनस्पति' के अध्यायमें हुआ है। सारा परिवार उद्यानकी ओर आकर्षित होता था। पौधे प्यारकी वस्तु थे और प्यारसे प्रेरित होकर स्त्रियाँ स्वयं उनको पटातीं[1] थीं। पार्वतीको देवदारुका वृक्ष उनके पुत्रोंके[2] तुल्य प्रिय हो गया था। उसी प्रकार मेघदूतकी[3] यक्ष-पत्नीको मन्दार वृक्ष भी प्यारा था। शकुन्तला के हृदयमें भी आश्रम-वृक्षोंके[4] लिए गहरा प्रेम था।

उद्यानका सिंचन संकरी नालियों[5] (कुल्या) के द्वारा होता था जिनमें जलके फव्वारोंसे[6] पानी निकलकर प्रचुरतासे बहा करता था। इन जल-चक्रोंसे अविराम शीतल जलके फव्वारे निकला करते और इस प्रकार उद्यान-भूमि जल-प्लावित रहती। वृक्षके आलवाल पानीसे[7] भर जाते। 'आलवाल' का दूसरा नाम 'आधारबन्ध'[8] था। 'उद्यान-विनोद' कहता है कि वर्षा तथा शरद् ऋतुओंमें जब वर्षा नहीं होती आलवालको पानीसे भर रखना चाहिए।[9] ऋषि-कुमारियोंका घड़े[10] लिये आश्रम के छोटे-छोटे पौधोंको पटाते देखना अवश्य आनन्ददायक था। कदाचित् सिंचनार्थ[11] विशेष घट होते थे (सेचनघट)।

उद्यानमें एक जलका[12] तड़ाग होता और लताएँ, विशेषतया माधवी[13] और प्रियंगु[14] अपने सघन स्निग्ध पत्रोंके द्वारा सुगन्धित चन्दोवा तथा लतामण्डपका[15] निर्माण करतीं जिनमें स्फटिक[16] तथा अन्य प्रस्तरोंके

---

१ रघु०, १.५१, ५.६, १३.३४, १४.७८; शाकु०, पृ० २५, ४७ १२१ । २ रघु०, २.३६ । ३ मेघ० उ०, १२ । ४ शाकु०, पृ० २६, २७ । ५ रघु०, १२.३ । ६ माल०, २.१२ । ७ रघु०, १२.३ । ८ वहीं, ५.६ । ९.७३ । १० वहीं, १.५१, १४.७८ । ११ शाकु० पृ० २५ । १२ रघु०, १९.९; मेघ० उ०, १३; माल०, २.१२ । १३ मेघ० उ० १५; माल०, पृ० १९९, २०० । १४ माल०, पृ० ३८ । १५ रघु०, १९.२३, शाकु०, पृ० ८७, १७३ । १६ शाकु०, पृ० २००; विक्र०, पृ० ३६; माल०, पृ० ३८ ।

बैठनेके आसन बने थे। धन-पतियोंके उद्यानोंमें कृत्रिम पहाड़ियाँ या क्रीड़ाशैल[1] भी होते और स्फटिक स्तम्भ भी, जिनपर गृह-मयूर बैठता और नाचता[2] था। वहाँ खुले उद्यानमें कुंजमें[3] या खुले कमरेमें[4] झूले लगे हुए थे। बड़े और छायेदार वृक्षोंके चारों ओर ऊँची गोल वेदिकाएँ[5] बनी थीं।

सार्वजनिक उद्यान[6] (नगरोपवना:) सामान्यत: नगरके बाहर होते और इसीलिए उनकी संज्ञा थी 'बहिरुपवन'[7] या (नगरके) बाहरका विहारोद्यान। कभी-कभी नदीके[8] किनारे उद्यान लगाये जाते और पंक्तिमें[9] एकके बाद दूसरे होते।

उद्यानों बहुधा एक वृक्षकी सगाई किसी लतासे[10] होती और यह अवसर बड़े उल्लाससे मनाया जाता। दोहद[11] या एक कुमारीका अपने तलवोंसे अशोक वृक्षका स्पर्श करनेका संस्कार जिससे वह पुष्पित हो सके, आनन्दोत्सवोंमें एक था और इससे कवियोंको इसको विस्तार देने तथा अपने प्रणय-सूत्रका तानाबाना फैलानेका अवसर प्राप्त होता था। मालिन या उद्यानपालिका[12] उद्यानकी देख-रेखके लिए नियुक्त होती थी।

उद्यान-पतियोंको उद्यानोंसे अनन्त आनन्दकी प्राप्ति होती। लताओंसे उन्हें विलास-कुंज मिलते जिनमें स्फटिक-शिलाके आसन और फूल-पत्तों-

---

१ मेघ० उ०, १४; विक्र०, पृ० ५४। २ मेघ० उ०, १६। ३ माल०, पृ० ३६, ४१, ४६। ४ वही, पृ० ४७, ४८। ५ वही, पृ० ८७; शाकु०, पृ० ३८। ६ रघु०, १४, ३४; माल०, ५.१ सर्वसाधारणके स्वास्थ्य, मनोरंजन एवं विनोदके लिए राज्य-द्वारा सार्वजनिक उपवन तथा उद्यान निर्मित होते थे (अर्थशास्त्र, शुक्रनीति, कामन्दकनीति) ७ मेघ० उ० ८। ८ मेघ० पू०, ३६। ९ वही, ३५। १० रघु०, ८.६१; शाकु०, पृ० ३१, ३२। ११ रघु०, ८.६२, ६३; मेघ० उ०, १५; माल०, पृ० ५४। १२ माल०, पृ० ३५, ८६; शाकु०, पृ० १८९, १९२; मेघ० पू० ३६।

की शय्या होती जहाँ असंख्य प्रणय-दृश्योंका परिपाक होता, प्रथम संकेत-मिलन और अन्तमें गान्धर्व विवाह, जहाँ प्रणयी जनोंका प्रणय-प्रलाप उनकी प्रणयिनियोंके कानों तक पहुँचते जो अलग प्रेम-पीड़ाकी बेचैनी लिये खड़ी होतीं। इसी स्थलमें एक विलासी राजा अपने मंत्रियोंके[1] कन्धोंपर शासन-भार देकर अपनी काम-वासनाओंकी तृप्तिके लिए आता था। यही वह स्थान था जहां अशोक, कर्णिकार तथा रसाल पुष्पित होते, शुककी बोली चतुर्दिक् प्रतिध्वनित होती, कोयल कूकती, मयूर नृत्य करते और यूथिका तथा माधवी वातावरणमें सुगन्ध भर देती। विक्रमोर्वशीयमें कविने उद्यानका सबसे सुन्दर वर्णन दिया है, जहाँ वे कहते हैं, मयूर और हंस पानीके फव्वारोंको पकड़नेके लिए अपनेके इर्दगिर्द घूमते और मड़राते हैं, जहाँ गृहका पिंजरस्थ शुक पानीके लिए शोर मचा रहा है और कर्णिकार[2] वृक्षपर भ्रमर भीड़ लगा रहे हैं। इन उद्यानोंमें ऋतु-जन्य पक्षी तथा भौंरे अपना मधुर संगीत बिखेरते थे और सौंदर्यप्रिय नागरिकोंकी कामानुभूति को जागृत कर भयानक मुग्धताकी ऊंचाई तक पहुँचा देते थे। वहां नागरिक अपने रोमांचकारी प्रणय व्यापार और माधवी, प्रियंगु तथा इसी प्रकार की अन्य मधुर सुगन्धमयी लताओंके उत्कृष्ट कलापूर्ण विरचित लतागृहों की प्रणयोद्दीपक निस्तब्धतामें रखे शीतल स्फटिक आसनोंपर अपनी सुखद विचार-मग्नताकी शान्तिदायिनी निद्राके सन्नाटेकी कल्पनाओंमें लेटे पड़े करवटें बदला करते थे। ऐसे ही एकान्त कोनोंमें बैठकर कालिदास-कालके सौंदर्योपासक नागरिक प्रणय-सूत्र कात निकालते तथा प्रेम-पटका निर्माण करते थे। सुधारकी सीमासे बाहर एक विलासिता यह एक चित्र है।

---

१ रघु०, १९.४। २ विक्रम०, २.२२।